हिन्दी स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य में ग्राम और नगर सम्बन्धों का अध्ययन

शोध-प्रबन्ध

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

डी.फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

२००२

निर्देशिका

डॉ. (श्रीमती) निर्मला अग्रवाल

अवकाश प्राप्त उपाचार्या, हिन्दी विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोध छात्र

कैलाश कुमार मिश्र

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारत गॉवों का देश है । 'गाँवों के देश' के ये गॉव अपने अस्तित्व में आने के पीछे हजारो वर्षो तक अपनी आन्तरिकता मे पूर्ण आत्म निर्भर एवं स्वतत्र इकाई बने रहे । आठवीं शताब्दी की शुरूवात से लेकर बाद के वर्षो मे जाने कितने विदेशी आक्राता यहॉ आये, शासन-सत्ता के क्षेत्र मे जाने कितना उलटफेर हुआ, किन्तु गॉव अविचलित बने रहे । यह स्थिति कमोवेश अग्रेज बनिए के आने और व्यापारिक-राजनीतिक क्षेत्र में अपनी जड़ें जमा लेने तक बनीं रहती हैं । उसके बाद की कहानी इन गाँवों के उत्पीड़न, टूटन और बिखराव की, दर्द भरी एक लम्बी दास्तान है ।

गौरांग प्रभुओं ने व्यापारिक क्षेत्र के विस्तार, तथा अधिकाधिक लाभ कमाने के लिहाज से यातायात के साधनों का भरसक विस्तार किया और यहीं से गॉवों का घनिष्ठ नगर-सम्पर्क जो शुरू हुआ तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । आज स्थिति यह है कि गॉव का इतिहास, भूगोल, राजनीति और समाज, सब कुछ नगर के रग में रगा हुआ दिखाई दे रहा है ।

गाँधी जी स्वाधीन भारत में कुटीर उघोगों के विकास के हिमायती थे किन्तु पंडित नेहरू की पश्चिमोन्मुखी दृष्टि भारी उघोगों के विकास का सपना देख रही थीं । परिणाम यह हुआ कि 'न खुदा ही मिला, ना विसाले सनम ।' 'कृषि प्रधान योजना' के नाम से प्रचारित 1951 की प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर सन् 2002 की दसवीं पचवर्षीय योजना तक में गाँव और कृषि-क्षेत्र की बात तो जोर-शोर से होती रही परन्तु वास्तविक विकास उघोग और नगरों का ही हुआ । इस प्रक्रिया के चलते हमारे उघोग भले ही आज भी विश्व उघोग के सामने 'घुटुरूवन' चल रहे हों, गॉव पूरी तरह से उखड़ गये - उजड़ गये ।

नगरीय सम्बन्ध-सम्पर्क के चलते गाँव को 'उजड़न', 'बिखरन' की ही दृष्टि से देखना कदाचित एकांगी दृष्टिकोंण होगा । इस नैकट्य के चलते यदि गॉव ने अपना बहुत कुछ खोया है तो कुछ प्राप्त भी किया है । यह बात अलग है कि 'खोने-पाने' के इस हिसाब में पलड़ा पहले का ही भारी रहा ।

जहाँ तक हिन्दी उपन्यास मे 'ग्राम और नगर' सम्बन्ध की बात है, इसकी ठोस और खूबसूरत शुरुवात मुशी प्रेमचन्द के यहाँ से होती है । हिन्दी में प्रकाशित मुशी जी के प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' {1918} मे ही 'ग्राम-नगर' सम्बन्ध और इसके प्रभाव की झाँकी उपलब्ध है । यही कारण है कि अपने आलोच्य विषय की सीमा स्वातत्र्योत्तर युग निर्धारित होने के बावजूद मै मुशी जी और खासकर 'गोदान' को अपने अध्ययन मे शामिल करने का मोह सवरण नहीं कर सका ।

सन् 1936 तक मुशी जी एव उनके समकालीनो द्वारा 'ग्राम-जीवन' को पृष्ठभूमि बनाकर विशाल एव बहुमूल्य साहित्य रचा जा चुका था परन्तु किन्हीं कारणोंवश बाद के वर्षों में यह धारा खण्डित हो गई । इस दौर मे काव्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी साहित्य का झुकाव अवश्य गाँवों की ओर रहा । सन् 1947 में स्वतत्रता प्राप्ति और गाँधी प्रभाव के चलते राजनीति की ग्रामोन्मुखी हुई धारा के साथ पुनः उपन्यास साहित्य का जुड़ाव गाँवो से हुआ । फलक की व्यापकता और जीवन की जद्दोजहद को पूरी समग्रता में समेट पा लेने की कूबत के चलते स्वातत्र्योत्तर युग का हिन्दी उपन्यास स्वाधीन भारत के यथार्थ का प्रामाणिक दस्तावेज बन पाने में पूर्णरूपेण सफल हुआ और इसी क्रम मे उसने ग्राम-नगर सम्बन्धों को उसके बहुआयामी एव विविधरंगी रूप में पहचाना और अभिव्यक्ति दी ।

स्वातत्र्योत्तर युगीन हिन्दी उपन्यास मे चित्रित इन सम्बन्धो का स्वरूप-विश्लेषण ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है । शोध के लिहाज से ग्रामभित्तिक तथा नगर-जीवन सम्बन्धी उपन्यासों को उपजीव्य बनाकर अलग-अलग विवेचन अनेक अधिकारी विद्वानों द्वारा हुआ है परन्तु हिन्दी उपन्यासो के आधार पर 'ग्राम और 'नगर' के अन्तर्सबन्धों का विश्लेषण, कम से कम मेरी जानकारी में तो नहीं ही हुआ । इसलिए इस विषय को हाथ में लेते हुए एकबारगी तो हृदय आशका और भय की अतल गहराइयों में डूबता सा लगा; परन्तु 'बलिहारी गुरु आपणै' जिन्होंने बाँह थामकर इस डूबन से उबार लिया ।

शोध प्रबन्ध छः अध्यायो में विभक्त है । प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश सम्बन्धी है, जिसके अन्तर्गत स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अलगाव दिखाते हुए उपन्यास

साहित्य के विशेष सदर्भ मे साहित्य की नई दिशाओ के यात्रा-क्रम का विश्लेषण करते हुए उसकी ग्राम-यात्रा तक का अध्ययन शामिल है ।

स्वाधीनोत्तर भारत का इतिहास समाज के प्रत्येक अवयव के आमूल परिवर्तनों का इतिहास है। बहुप्रतीक्षित आजादी के मिलने के साथ ही आजादी को लेकर देखे गये मोहक सपनो के किर्च-किर्च होकर बिखरने का दौर शुरु हो गया । क्या गाँव और क्या नगर ! सर्वत्र एक अफरातफरी, आतक, हिसा, लूट-खसोट, मौकापरस्ती और सर्वग्रासी भ्रष्टाचार का जो सिलसिला आजादी के बाद शुरु हुआ वह बदस्तूर आज भी जारी है । साहित्यकार का सवदेनशील मन व्यवस्था की सड़ाँध से बुरी तरह आन्दोलित हो गया और देश के आम-जन के साथ उसने भी शिद्दत से महसूस किया कि 'इनसे तो वे ही अच्छे थे ।' दूसरा अध्याय आजादी के इसी मोहभग पर हिन्दी उपन्यास के विशेष संदर्भ में आधारित है ।

स्वाधीन भारत में राजनीति का उदय समाज के सबसे शक्तिशाली एवं प्रभावकारी अवयव के रूप मे हुआ है । तृतीय अध्याय मे 'ग्राम-नगर सम्बन्ध' के राजनीतिक आयाम को उद्घाटित किया गया है । राजनीति की दृष्टि से गाँवों का नगरों से सम्बन्ध स्वतंत्रता पूर्व युग में ही मजबूती से स्थापित होता हुआ दिखाई देता है । बाद की राजनीति इसी सम्बन्ध की अगली कड़ी है । राजनीति का वर्तमान चेहरा पूरी तरह अपनी नागर पहचान बनाकर उभरा है जिसने गाँवों के हर पहलू पर अपनी स्पष्ट एव व्यापक प्रभाव छोड़ा है । इस प्रभाव के 'शिव' और 'अशिव' दोनों रूपों के विश्लेषण का प्रयास इस अध्याय में हुआ है ।

चतुर्थ अध्याय में ग्राम-नगर सम्बन्धों को आर्थिक आयाम के लिहाज से जाँचने-परखने और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है । यह सम्बन्ध स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में अनेक प्रकार से रूपायित हुआ है । पंचवर्षीय एवं अनेक विकास योजनाओं के नीतिगत प्रभाव से लेकर वैज्ञानिक अनुसंधान परक उपलब्धियों ने एक ओर जहाँ कृषि-क्षेत्र का विकास किया है वही उसकी बेरोजगारी एवं नगर निर्भरता में वृद्धि भी की है । धनार्जन के लिए लोगों का नगराकर्षण इधर कुछ और ही बढ़ा है जिसके चलते ग्राम-नगर-सम्बन्धों के नए-नए आर्थिक कोंण उभर कर सामने आए है ।

पॉचवा अध्याय ग्राम-नगर-सम्बन्धो के सामाजिक आयाम पर आधारित है । गॉव की मानवीयता का विस्तार पशु-पक्षियो से लेकर जड वस्तुओं - नदी, खेत, पेड़-पौधों तक रहा है । किन्तु नगर प्रभाव के चलते आज यह सीमा सिकुड़ रही है और गॉव का सामाजिक जीवन तीव्रगति से परिवर्तित हो रहा है । पारस्परिक सबन्धों मे तनाव, विघटन, अनास्था, कुठा, सत्रास और मूल्य-सक्रमण जैसे विशुद्ध नागर गुण {अवगुण} यहॉ के जीवन मे भी घुसपैठ करते दिखाई दे रहे है । गॉव की सामाजिकता एव सामूहिकता नगर-प्रभाव के धक्के से टूट रही है; परन्तु इस प्रभाव का एक उज्जवल पक्ष भी है कि युगों-युगों से उपेक्षा की पीड़ा सहने वाला दलित एव नारी वर्ग नगर-सम्पर्क के चलते आत्मसजग होकर एक नवीन चेतन-बोध से सम्पन्न भी हुआ है । स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इन स्थितियों का आकलन ही प्रस्तुत अध्याय का विश्लेषण-विषय बना है ।

शोध-प्रबन्ध का अतिम और छठा अध्याय ग्राम-नगर-सम्बन्ध के सांस्कृतिक पक्ष पर अवलंबित है । नगर-प्रभाव के चलते गॉव का सास्कृतिक जीवन पूरी तरह परिवर्तित हो रहा है । लोगों के धर्म सम्बन्धी विचार बदले है एवं एक सर्वथा नवीन अर्थ-सस्कृति का विकास हुआ है । नगर से गॉव तक पहुँचे सिनेमा एव टी.वी. ने ग्राम-संस्कृति की जड़ों को उखाड़ कर उनमें मट्ठा डालने जैसी भूमिका निभाई है । लोगों की जुबान से तुलसी-कबीर के दोहों चौपाइयों को हटाकर सिनेमा के गीत काबिज हो गए है । स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास ने इस परिवर्तन की अनेक धाराओं को अपने आगोश मे समेटा है, किन्तु कुछ ऐसी ही चीजें हैं जो अपने नष्टप्राय होने की पीड़ा से भरी कातर निगाहों से साहित्यकार की ओर निहार रही हैं । हिन्दी उपन्यासकार की सार्थक सामर्थ्य को देखते हुए यह भरोसा किया जा सकता है कि निकट भविष्य मे इनकी पीड़ा को वाणी मिल सकेगी ।

अन्त मे उपसंहार है जिसमें समस्त अध्यायों के निकर्ष एवं मूल्याकन के साथ उपन्यासों के भाषिक शिल्प पर विचार करने का प्रयास किया गया है ।

इस कार्य को अजाम तक पहुँचाने का पूरा श्रेय मेरी निर्देशिका डॉ. {श्रीमती} निर्मला अग्रवाल, अवकाश प्राप्त उपाचार्या, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, को जाता है । उनका गुरुत्व कठोर अनुशासन और सहज आत्मीयता की छाया न होती तो ? सोचकर ही मन कॉप उठता है। कदाचित विषय की उलझन भरी गॉठों को सुलझाने के प्रयास में मैं स्वयं ही उलझकर रह जाता । डॉ. सत्य प्रकाश मिश्र, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जिनकी गुरु मूर्ति मन मे स्थापित कर एकलव्य की भाति मै साधनारत रहा, ने मेरे ऊपर जो कृपा की है वह शब्दो के सामर्थ्य से बाहर की वस्तु है । प्रो. मिश्र ने अपने व्यस्ततम-बहुमूल्य क्षणो को अनेकशः मेरे लिए खर्च करके मुझे जिस प्रकार उपकृत किया है, उसका मूल्य विनिमय के किसी माध्यम मे नही ऑका जा सकता ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की सग्रहाध्यक्षा श्रीमती साधना चतुर्वेदी, काउन्टर प्रभारी श्री ब्रजेशधर द्विवेदी, भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग के उप पुस्तकालयाध्यक्ष श्री श्रीनिवास जी और शिवभारती पब्लिशर्स & डिस्ट्रीब्यूटर, मम्फोर्डगज, इलाहाबाद के मालिक भाई मगला प्रसाद जी एव उनके अनुज श्री लाल बहादुर जी ने पुस्तकों की उपलब्धता सुनिश्चित कराने में मेरी जो मदद की है वह धन्यवाद की औपचारिकता की पहुँच से बहुत ऊपर की चीज है । मैं आप सबका चिर आभारी हूँ ।

गाँव के अभाव भरे जीवन से जूझते हुए मेरे माता-पिता ने मेरे निमित्त जो साधन-सुविधाए जुटाई हैं उसे देखकर प्राचीन भारतीय मनीषा द्वारा बताया गया पितृ ऋण से उऋण होने का जरिया भी मेरे निकट अग्राह्य हो जाता है ।

मेरे अग्रज द्वै श्री रेवती रमण मिश्र एव श्री विवेक कुमार मिश्र ने मेरा उत्साहवर्धन करते हुए, जीवन के तमाम आर्थिक सरोकारों से मुझे मुक्त रख, भ्रातृ-सम्बन्ध को जिस तरह निबाहा है, सम्बन्धों की इस छीजती-बिखरती दुनिया में यह एक सुखद अनुभव है ।

मेरे 'मित्र कम बड़े भाई ज्यादा' श्री लवलेश भैया ने इस प्रबन्ध के सिलसिले में जो त्याग और श्रम किया है, शब्दों में वह ताव नहीं कि उसे बयान कर सकें । मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ ।

आत्मीय सुहृद, बन्धु अजय पाण्डेय, मनोज सिह, राजेश सिंह, राजेन्द्र पटेल, प्रेम सिंह, सुमित श्रीवास्तव, कौशलेन्द्र कुशवाहा और अनिल मिश्र के साथ बाल्यबन्धु राजाभाई द्विवेदी से मुझे इस कार्य मे पग-पग पर जो सहयोग मिला है, उसे कृतज्ञता ज्ञापन की औपचारिक शब्दावली में बाँधकर ओछा नहीं करना चाहता ।

सहधर्मिणी सरोज ने समर्पण और सहयोग के साथ जीवन-साथी के दायित्व को जिस खूबसूरती के साथ निभाया है, कहकर अपनी उस भाव-सपदा को बिखेरना नहीं चाहूँगा । मेरी भतीजियो आयुष्मती सीता, नीता तथा भतीजो चिरजीव अभिषेक एव अचिन्त्य ने अपनी सामर्थ्य भर मेरी जो सहायता की है, उसके लिए मेरा रोम-रोम उन्हे 'असीसता' है ।

अन्त मे अपनी विदुषी निर्देशिका डॉ. निर्मला अग्रवाल एव अपने मानस गुरु प्रोफेसर सत्य प्रकाश मिश्र जी के चरणो मे प्रणाम निवेदन करते हुए, बस इतना ही कहूँगा -

'ना कुछ किया, न करि सका, न करने जोग सरीर ।
जो कुछ किया सो गुरु किया, भया कबीर, कबीर ।।'

कैलाश मिश्र

इलाहाबाद
6 दिसम्बर 2002

कैलाश कुमार मिश्र

विषय-सूची

अध्याय - प्रथम

विषय-प्रवेश

स्वातंत्र्योत्तरता से तात्पर्य

सामान्यतया राजनीतिक घटनाओ को आधार बनाकर साहित्य की सतत् प्रवाहमान धारा के कालखण्डों का निर्धारण नहीं होता, किन्तु बहुधा ऐसा अवश्य हो जाता है कि कोई विशेष राजनीतिक घटना विशेष सम्मान के साथ साहित्य के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा देती है । तब वह घटना या घटनाए साहित्य की दुनिया मे मील का पत्थर बन जाया करती है । आजादी की घटना ऐसी ही दूरगामी और स्पष्ट प्रभाव डाल देने वाली घटना है । यह घटना साहित्य की अजस्रधारा के विभाजक तत्व के रूप मे अपना महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ती है । इस घटना ने भारतीय जन-मानस को भीतर तक प्रभावित करते हुए उसकी सोच की दिशा को नई मंजिलों की तरफ मोड़ा।

'' 'स्वातंत्र्योत्तर' शब्द और उसकी अर्थबोधक स्थिति आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के समीक्षा सदर्भ में एक पुष्ट विभाजक बिन्दु के रूप में आख्यायित है ।''[1] भारतीय इतिहास के संदर्भ मे यह शब्द उस कालावधि का द्योतक है जो सन् 1947 के अगस्त माह की 15 तारीख के पश्चात अभिभुक्त है और जिसने समस्त भारतीयों को एक ऐसा नवीन पुलक भरा अनुभव प्रदान किया जो सुचिन्तित होने के बावजूद अदृष्टपूर्व था और जिसमे दासता की बेड़ियों से ''मुक्त जीवन की समस्त सम्भावनाए और देशगत बहुविधि विकसनशील वृत्तियों के प्रसार की कल्पनाएं है ।''[2]

स्वाधीनता से पूर्व आजादी महज एक अवधारणा के रूप में थी जबकि अब वही प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में उपस्थित थी जिसके साथ देश का ''वैचारिक पुनर्जन्म''[3] हुआ । पूरा देश एक अनिर्वचनीय आनन्द मे विभोर हो उठा । गुलामी की जंजीरों से मुक्ति, शासन-सत्ता पर अपने लोगों की आसीनता, संप्रभुता, आत्म निर्णय के अधिकार का स्वप्न पहली बार साकार होकर प्रत्यक्ष था और इस स्वप्न के मोहक साकार रूप के साथ जाने कितनी आशाओं - आकांक्षाओं की मीठी झंकार सम्मिलित थी । आनन्द के अनुभव का यह वह क्षण था जिसमें प्रत्येक भारतीय मन समभाव से शामिल था ।

''युगों की पराधीनता के बाद किसी देश का स्वतंत्र होना ही अपने आप में बहुत बड़ी घटना है ।''[4] इस घटना ने देश को झकझोर दिया था । इस घटना के जीवन्त अनुभव से

साहित्यकार भी अछूता नहीं रहा - रह भी नहीं सकता था । जिसके चलते आजादी का आह्लादकारी अनुभव साहित्य का रचना-प्रेरक तत्व बनकर उपस्थित हुआ । इस रूप मे आजादी की राजनीतिक घटना भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वमान्य काल-विभाजन बिन्दु बनकर उपस्थित हुई ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का वैशिष्ट्य

15 अगस्त सन् 1947 को देश की गुलामी की बेड़ियॉ कट गई और जिस नये क्षितिज का उदय हुआ वह अभूतपूर्व था और उसमें पुरानी मान्यताए ध्वस्त होने लगी । दासता की बेड़ियों की टूटन के रोमाचकारी अनुभवों से उत्साहित एव प्रेरित हो हिन्दी साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अलग हो नयी दिशाओ की खोज-यात्रा में चल पड़ा । स्वाधीनता पूर्व तक राजनीति तथा उसके समानान्तर चल रहे साहित्य के सारे प्रयासो की लक्ष्योन्मुखता आजादी प्राप्ति की दिशा में थी । जन-मानस मे सारी समस्याओं का हेतु, सम्पूर्ण दुःखों का मूल वही गुलामी थी । किन्तु आजादी मिलते ही एक झटके में उस दिशा में हो रहे तमाम सोच की इतिश्री हो गई और उसके स्थान पर एक नवीन चिन्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जिसका आधार बनें सृजन, नव-निर्माण, विकास और प्रगति के विविध आयाम । परिणामस्वरूप स्वाधीनता उपलब्धि के साथ ही भारतीयों की सोच का रूपान्तरण हुआ और चिन्तन की दिशा के इस पक्षान्तर ने साहित्य में भी स्पष्ट, चटक रग के साथ अपना प्रभाव डाला । साहित्य के इस बदले हुए तेवर का रंग पूर्ववर्ती साहित्य के रग से कतई जुदा था और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी था क्योकि आजाद हो जाने के साथ ही आजादी के लिए की जाने वाली साधना की, साधना के उपादानों की, क्रान्ति की और आजाद हो जाने की कल्पना की आवश्यकता अब नहीं रही और ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि साहित्य में चिन्तन की दृष्टि से परिवर्तन की दिशाएं उपस्थित हुई ।

स्वाधीनता के बाद के समस्त साहित्य-लेखन की मूल ऊर्जा वस्तुतः सामयिक युग की बदली हुई परिस्थितियाँ हैं । इस काल में रचित उपन्यासों में भोगे हुए सत्य पर बल देने के कारण एक ठहराव तथा तनाव मिलता है जो उसे स्वाधीनतापूर्व के उपन्यासों की तुलना में ''सर्वथा भिन्न, आधुनिक जीवन के निकट, प्रमाणिक और यथार्थ आग्रही बना देता है ।''[5]

नये साहित्य का वैशिष्ट्य नये जीवन की जटिलता और उसके दबाव मे निहित है । युग परिवर्तन की जो तेज गति इस कालावधि में लक्षित होती है वैसी पहले कभी नहीं दिखी । लोकतत्र, मताधिकार, पार्टीगत राजनीति आज के परिचित सत्य बनकर सामने आये । आधुनिकता की स्वीकारोक्ति के साथ परम्परा के आगे सवालिया निशान खड़े किए जाने लगे । जिया जाना अथवा भोगा जाना ही साहित्य की प्रामाणिकता की कसौटी बनकर उभरा और नये साहित्यिक मूल्यबोध विकसित हुए ।

स्वाधीनता के बाद आयोजित पंचवर्षीय योजनाओं ने जीवन के हर क्षेत्र - विज्ञान, कृषि, शिक्षा, तकनीक सभी मे बहुआयामी विकास-कार्यक्रम प्रस्तुत किए । कृषि उन्नयन के लिए सिचाई व्यवस्था मे बॉधों, नहरों का निर्माण तथा विघुत, खाद व उत्तम किस्म के बीजों की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ । उद्योग धन्धों ने तेजी से विकास पाया जिससे नगरो के विकास को गति मिली । डॉ. विवेकी राय का यह कथन सच ही है कि ''दिसम्बर, 1947 के औद्योगिक सम्मेलन मे सर्वप्रथम गृह उद्योगों को भी औद्योगिक नीति मे सम्मिलित कर लेने की घोषणा के कारण पूँजीहीन विपन्न लोकजीवन के उन्नयन की आशाएं बँध गई थीं ।''[6] कल-कारखानों का तेजी से विकास प्रारम्भ हुआ तथा सड़कों से देश के दूर-दराजों को जोड़ने का उपक्रम हुआ जिसके चलते युग-युग से अपनी सीमित दुनिया की कैद में रहने वाले ग्रामीण तथा प्राकृतिक संपदा से सम्पन्न अंचलों का बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित हुआ । यातायात एव संचार के साधनो के विकास ने दूरियों को समेटने का काम किया । जीवन के दैनन्दिन ढर्रे में व्यतिक्रम आया और इस बदले हुए वातावरण ने भारतीय व्यक्ति के जीवनक्रम में, उसकी मानसिकता में ''ऐसी उथल पुथल मचा दी कि जीवन के अनगिनत नये-नये पर्त उघड़ कर सामने आ गये और नित नई-नई गति से आते रहे ।''[7] ये परिवर्तन स्वातंत्रोत्तर साहित्य का यथार्थ बनकर उपस्थित हुए हैं ।

परिवर्तन संसार का सार्वभौमिक सत्य है और बदले हुये युग की बदली हुई परिस्थितियों ने भारतीय जनमानस को भी अपने प्रभाव में ले लिया । उसकी चिन्तन दृष्टि, उसका भावबोध तथा उसकी कल्पनाशीलता में अब नये युग के प्रभाव परिलक्षित होने लगे । कल तक जहॉ ''भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्व दिया

जाता रहा''[8] था वहीं अब सामयिकता रचना-प्रेरक तत्व का सबसे बड़ा कारक बनकर उपस्थित हुई।

यह तो सर्वस्वीकार्य तथ्य है कि ऐतिहासिक प्रवाह के साथ-साथ साहित्यिक अभिरूचियॉ बदलती जाती है ''वास्तव मे प्रत्येक नवीन युग अपने साथ साहित्य ही नहीं, जीवन की समस्त सर्जनात्मक गतिविधि के नये मानदण्ड लाता है ।''[9]

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य मे 'शैली' और 'वस्तु' दोनों के लिहाज से 'नयापन' दिखलाई पड़ता है। 'वस्तु' पर 'आधुनिकता' और 'शैली' पर आंचलिकता का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। आधुनिकता के चलते जहॉ हर विधा पर जिये हुये सत्य पर बल दिया जाने लगा वही आचलिकता ने उपेक्षित और महत्वहीन माने जाने वाले गावों और अन्यान्य सुदूर स्थित अचलों की महत्ता को प्रतिष्ठित किया । अब साहित्य लिखने या रचने की चीज नहीं, जीने की चीज हो गई और इस जीवनवादी दृष्टि ने गतकाल के आदर्श और रूमानियत को एक सीमा तक नकार दिया । साहित्य की हर विधा मे प्रामाणिकता की बात उठाई जाने लगी । यद्यपि प्रामाणिक अनुभव के स्वर स्वाधीनता पूर्व में ही अज्ञेय - {शेखर एक जीवनी, 1941} - तथा जैनेन्द्र जैसे साहित्यकारों के यहॉं सुनाई देने लगते है किन्तु यह अनुभव दर्शन की पर्तो में लिपटा हुआ सा है । अनुभव का पूर्ण उभार तो स्वातंत्रोत्तर साहित्य में ही हुआ । 'प्रेम', 'सेक्स', 'नारी' सबके सब एक बदले हुए रूप-रग मे चिन्हित होने लगे । यौन-सम्बन्धो की उन्मुक्तता की राह पर स्वातंत्र्योत्तर साहित्य नयी दिशाओं की तलाश करता हुआ दिखाई पड़ता है ।

डॉ. विवेकी राय के शब्दों में कहें तो - ''राजनीतिक अथवा सत्ता परिवर्तन के साथ ही हिन्दी कथा साहित्य मे एक अभूतपूर्व नवता के आयाम उभड़ जाते हैं ।''[10]

हिन्दी उपन्यास : स्वाधीनता संघर्ष

हिन्दी साहित्य और नवजागरण

भारत में सांस्कृतिक पुनरूत्थान के चलते सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीति सुधार आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अपनी भाषा व साहित्य के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न करने के

लिए भारतेन्दु जैसे राष्ट्रधर्मी साहित्यकारो ने 'सब उन्नति को मूल' के रूप मे 'निजभाषा उन्नति' को देखा, जिस भावना ने 'साहित्यिक जागरण' को जन्म दिया । यह वह काल था जिसमे साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण चक्र अपने पूरे वेग से चल रहा था । साहित्यकार इस शोषण को, इसके रूप को बखूबी समझ रहा था । 'सर्वसु लिए जात अँग्रेज' या 'सब धन विदेश चलि जात' जैसी भव्य पक्तियॉ उसकी मर्म व्यथा की परिचायक हैं, फलस्वरूप जनता मे ब्रिटिश शासन एव उसके शोषण के प्रति असन्तोष की चिन्गारियॉ सुलगने लगी थीं । पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क ने भी भारतीय दृष्टि को विकास के अनेक नये आयाम दिये । परिणामतः दासता की बेड़ियों से मुक्ति के लिये स्वभाषा के महत्व को ऑका गया तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक व महात्मा गॉधी जैसी शक्तियाँ निजभाषा के प्रयोग तथा संवर्धन की ओर उन्मुख हुई ।

यह सास्कृतिक नवजागरण के साहित्य सबधी आन्दोलनों का ही परिणाम था कि भाषा रीतिकाल के दरबारी 'पक' व वासना के 'पर्यक' से निकलकर लोकजीवन के समक्ष खड़ी हो ''जनता की चौपाल मे नव आयामों के शोध में सलग्न''[11] हो गयी । ''अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नही रहा, बल्कि अपने घरो मे बैठी हुई असख्य अज्ञात जनता आ गई ।''[12] जागरण के इस युग मे दैहिक पराधीनता के साथ मानसिक पराधीनता से मुक्ति की भावना बलवती हो उठी ।

जीवन, साहित्य और उपन्यास

साहित्य, समाज और व्यक्ति से अटूट रूप मे संबंधित होता है । व्यक्ति, समाज और साहित्य-संबध की एक कड़ी का काम करता है । किसी समाज के रूप-स्वरूप, उसकी स्थिति और गति का आकलन उसके साहित्य के आधार पर किया जा सकता है । ''जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा उसका समाज भी अच्छा होगा । समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी ।''[13]

साहित्यकार युगीन परिवेश के भाव और विचारों को ग्रहण कर उन्हें साहित्यिक रूप देने का काम करता है अतः स्पष्ट है कि ''कला या साहित्य का उद्देश्य मात्र कला की ही अभिव्यक्ति नही मानवीय सवेदना की अभिव्यक्ति भी होता है ।''[14] इसलिए प्रत्येक साहित्य अपने युग के

'प्रामाणिक दस्तावेज' की महत् सज्ञा का अधिकारी हो जाता है । साहित्यकार समाज की यथार्थमूलक घटनाओ को नजरअन्दाज नहीं कर सकता, यह बात अलग है कि उसके यहाँ घटनाओ का हूबहू 'फोटो' रूप मे अकन नहीं होता । जहाँ तक उपन्यास की बात है तो उसका तो जन्म ही यथार्थ की कोख से हुआ है, ''किसी भी देश की प्रगति का यदि ज्ञान करना हो तो उस देश का उपन्यास पढना चाहिए, क्योंकि जीवन की यथार्थताओं को लेकर ही उपन्यास आगे बढ़ता है ।''[15] अगर प्रो. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी के शब्दों में कहे तो - ''एक विराट कैनवस में युगीन जीवन एव समकालीन जीवन चिन्तन के विविध पक्ष उसमें कलात्मक अभिव्यक्ति पाते है । इस दृष्टि से देखा जाय तो उपन्यास और मानव जीवन मे अन्तर नहीं रह जाता ।''[16] इस लिहाज से देखा जाय तो उपन्यास मानव जीवन का 'प्रामाणिक दस्तावेज' बन जाता है । उपन्यास सम्राट मुशी जी तो उसे ''मानव चरित्र का चित्र मात्र''[17] मानते है । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तो उपन्यास को मानव जीवन से इतना तद्रूप मानते है कि दोनों के बीच अन्तर करना ही कठिन है यानि उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र ही नहीं उसकी व्याख्या भी है । उपन्यास और जीवन के संबध को विद्वानो ने अपनी-अपनी तरह से परिभाषित किया है । किसी के यहाँ उपन्यास यथार्थ मानव अनुभव तथा सत्य का आकलन है, किसी की नजर में वह जीवन और समाज के विभिन्न रूपो और घटनाओं का चित्रण है तो किसी के लिए जीवन की आलोचना । निष्कर्ष यह कि साहित्य और खासकर उपन्यास का जीवन से अभिन्न रिश्ता है ।

राजनीति और साहित्य

अपने समय के महान विचारक अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानने के साथ-साथ राजनीति से भी उसका अभिन्न रिश्ता स्वीकार किया है । उनके विचारानुसार मनुष्य यदि सामाजिक होगा तो निश्चय ही राजनैतिक भी । ''समाज यदि मानव का चरण है तो राजनीति उसका मस्तिष्क । दोनों की संगति में ही उसकी गति संभव है ।''[18] आधुनिक युग में विज्ञानोन्मेष के चलते मानव जीवन के विभिन्न पक्ष-धर्म, दर्शन, कला, इतिहास, साहित्य और राजनीति आदि कुछ इस प्रकार कुण्डलीवत गुंथे हैं कि उनको अलगाया जाना संभव ही नहीं है ।

राजनीति और साहित्य के परस्पर सबंधित होने के बावजूद दोनों की कार्य प्रणालियाँ नितान्त भिन्न होती हैं । राजनीति जहाँ प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप में अपने लक्ष्य के लिए सघर्ष

करती है वही साहित्यकार अपनी विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रतीको को माध्यम बनाता है । साहित्यकार का रास्ता राजनीतिज्ञ के बनिस्बत कहीं अधिक चुनौतीपूर्ण होता है, - दुधारी तलवार की तरह - उसे एक ओर जहाँ अपने साहित्य को 'प्रचारात्मक' हो जाने की छुद्र सज्ञा से बचाना होता है वहीं दूसरी ओर युग की धड़कनों को यथावत् संजोकर रखने का गुरु दायित्व भी उठाना होता है । साहित्य यदि राजनीति से विचार ग्रहण करता है तो उसके विचारो को उचित दिशा-निर्देश देने का माद्दा भी रखता है । प्रभावित होने के साथ-साथ यह प्रभावित करने का भी काम करता है और बखूबी करता है । राजनीति की तुलना में साहित्य का काम अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण तो होता ही है, जोखिम भरा भी होता है क्योकि उसे समाज मे अनेक मोर्चों पर जूझना पड़ता है । उसका काम महज फोटो खींचकर चुप रह जाने वाला काम नहीं होता बल्कि वह समाज की विसगतियो, विपदाओ, विडम्बनाओ और हर प्रकार के अत्याचार, अनाचार एव शोषण से डटकर लोहा लेने का हौसला रखने वाला फौलादी सीना रखता है । उसके इसी चरित्र पर प्रकाश डालते हुए मुंशी प्रेमचन्द का कथन है ''पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियो के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी ।''[19] तभी मुशी जी उसे {साहित्य को} समाज और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई न मानकर मशाल दिखाकर आगे चलने वाली सच्चाई स्वीकार करते हैं ।

राजनीति और उपन्यास

जैसा कि कहा गया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है । राजनीति और समाज संभवतः सहोदर रूप मे साथ-साथ अस्तित्व में आये होंगे । हमारे यहॉ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध, पुरा समाज के रूप मे ज्ञात, वैदिक युग में सुव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति प्राप्त होती है । जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति व समाज सहधर्मी हैं । मुंशी प्रेमचन्द के सूत्रवाक्य - ''साहित्य का आधार जीवन है''[20] से साहित्य और राजनीति का संबध स्वतः व्याख्यायित हो जाता है । जीवन के यथार्थ का सबसे मुखर वक्ता होने के कारण साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास राजनीति के सबसे अधिक निकट हो जाता है । उपन्यास के पन्नों में युग के हृदय की धड़कनें कैद होती हैं और जब स्वतत्रता संघर्ष की बात उठती है तो हम पाते हैं कि हिन्दी उपन्यास भी भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की अनदेखी न कर सका । युगीन औपन्यासिक कृतियों में स्वातंत्र्य संघर्ष के विभिन्न आयामों और दृश्यों को कल्पना की तूलिका से यथार्थ रूप में उकेरा गया है ।

हिन्दी मे राजनीतिक उपन्यासो की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं मिलती और न ही अलग से राजनीतिक उपन्यासो की कोई परम्परा । प्रेमचन्द युग से ही हिन्दी मे राजनीतिक उपन्यासो का स्रोत फूटना आरम्भ होता है । साम्राज्यवादी नीति-अनीति के कच्चे ''चिट्ठे''[21] तो काफी पहले से ही साहित्यकार लिखता चला आ रहा था । इधर के वर्षों में असहयोग आन्दोलनों तथा स्वतत्रता सघर्ष की अनेक घटनाओ ने साहित्यकार के दृष्टिपथ मे मजबूती से अपने पैर जमाने शुरू किये । बीसवी शताब्दी अपने जन्म के साथ ही राजनीतिक घटनाओ की उथल-पुथल समेटे आती है । विनाश के विराट दानव के रूप मे विश्व युद्ध, बोल्शेविक क्रान्ति, लालक्रान्ति, अफ्रीकी, एशियाई देशों का राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन आदि इस युग की प्रमुख राजनीतिक घटनाए है । इन घटनाओ का भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से परोक्ष-अपरोक्ष सबंध रहा है । जिसके चलते समाज का हर तबका इनसे प्रभावित हुआ है ।

राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष में हिन्दी उपन्यास ने किस प्रकार अपनी भूमिका अदा की तथा यह संघर्ष किस रूप मे उपन्यास साहित्य मे स्वरवान हुआ, यह भारतीय स्वाधीनता सघर्ष एव हिन्दी औपन्यासिक परम्परा के सबधों के विवेचन का महत्वपूर्ण बिन्दु है ।

गाँधी - युग - पूर्व हिन्दी उपन्यास

भारतीय पराधीनता के काल मे उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अपना विशेष महत्व रखता है । भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस और हिन्दी उपन्यास के जन्म की घटना लगभग साथ-साथ सम्पन्न होती है तथा दोनों के प्रेरक तत्व के रूप में यूरोपीय पुनर्जागरण को स्वीकार किया जा सकता है । अपनी शैशवावस्था मे हिन्दी उपन्यास रूपी यह शिशु तिलिस्म, रोमांस, ऐयारी और जासूसी की सस्ती मनोरंजनपूर्ण दुनिया में भटक रहा था और यह स्थिति कमोवेश मुंशी प्रेमचन्द के हिन्दी कथा साहित्य की दुनिया में प्रवेश तक बनी रहती है । प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों में राष्ट्रीय चित्रण का प्रायः अभाव ही है । यद्यपि भारतेन्दु युग में हिन्दी काव्य के क्षेत्र में साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध आवाजें उठनी शुरू हो गई थीं किन्तु हिन्दी उपन्यास इस विषय में मौन था और इस काल के उपन्यासों में युग-चित्रण का अभाव सा मिलता है । चन्द्रकान्ता जैसे अति प्रसिद्ध उपन्यासों में युग के हृदय की कोई धड़कन नहीं सुनाई देती । जब यह उपन्यास लिखा गया उस समय देश

की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अवस्था कैसी थी इसका कोई भी ज्ञान इस रचना से नहीं होता ।

बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक के लगभग अन्तिम वर्षों तक हिन्दी उपन्यासकार ''अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार औपन्यासिक कार्य कर रहे थे ।''[22] यह रुचि और प्रकृति क्या थी ? एकमात्र कौतूहल-तृप्ति और सस्ता मनोरजन । राष्ट्रीय समस्या नाम की कोई समस्या उनके सामने न थी । यह वह युग था जब उपन्यास सामाजिक सरोकारों से पूरी तरह कटा हुआ दिखाई देता है और जनता की निगाहो मे उसके प्रति किसी सम्मान का भाव न था । जहॉ कहीं उपन्यास में सामाजिक सरोकार दिखाई भी देते थे वहॉ आदर्शवादी उबाऊ उपदेशात्मकता और नीरस ज्ञान की कोरी बाते ही सुन पड़ती थी जिसके चलते वह जन सामान्य मे लोकप्रियता न पा सका । ''पुनर्जागरण काल ने हिन्दी उपन्यास को गहरे आदर्शवाद के रग में डुबो दिया था । पथभ्रष्ट युवक के सुधार की कहानी 'परीक्षा गुरु' से आरम्भ हुई तो सारे कथा साहित्य को धीरे-धीरे उसने अपनी क्रोड़ में समेट लिया ।''[23]

प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय राजनीति मे एक आलोड़न, एक नवीन हलचल उत्पन्न कर दी। भारतीय राजनीति के सचालन सूत्र महात्मा गॉधी के हॉथों मे आ गये । बापू की मर्मभेदिनी दृष्टि एवं अथक प्रयास के चलते शहर की सड़के ग्रामों से जुड़ गईं । असहयोग आन्दोलन ने युग-युग से सोये पड़े भारतीय मन मे नूतन प्राणों का सचार कर दिया और ठीक उसी समय हिन्दी उपन्यास ने भी एक अगड़ाई लेकर कथ्य और शिल्प की नवीन दुनिया मे अपने कदम रख दिये । यहॉ आकर पहली बार हिन्दी उपन्यास तिलिस्म की भूलभुलैया एवं आदर्शवादी चोंगे को उतार, लोक से जुड़कर, लोक-जीवन को कथा का उपजीव्य बनाता हुआ दिखाई देता है और सच्चे अर्थों में 'साहित्य' की पदवी का अधिकारी होता है । ''श्रेष्ठ साहित्य उस समय उत्पन्न होता है जब समाज में उस सकट के विरूद्ध असन्तोष का बीज हो । इस असन्तोष को लोक जीवन से जितना ही बल प्राप्त होता है उसमे उतना ही ओज आता है और साहित्य का स्वर उतना ही ऊँचे उठता है ।''[24] भाव यह है कि यह काल लोक-चेतना की सुगबुगाहट और अन्याय के प्रति असन्तोष प्रकट करने का था ।

विश्व की राज्य क्रान्तियाँ इस बात की गवाह हैं कि उनके मूल में साहित्य की प्रेरणा रही है । फ्रांस की क्राति का अगुवा रूसो रहा है और रूस की समाजवादी क्रांति में गोर्की का नाम

सदैव स्वर्णाक्षरों मे अंकित रहेगा । भारत में हिन्दी साहित्य की दुनिया मे यही श्रेय मुशी प्रेमचन्द को जाता है । मुंशी जी ने हिन्दी उपन्यास को मनोरंजन के व्यामोह एव तिलिस्म के मकड़जाल से निकाल, नई दिशाए दी । महात्मा गाँधी ने राजनीति को 'ड्राइगरूम' से निकाल कर जनता जनार्दन के बीच मे ले गये और मुशी प्रेमचन्द ने उपन्यास पर जमीं धूल को झाड़ उसे राष्ट्रीय सघर्ष की पताका थमा दी । महात्मा गाँधी राजनीति मे तथा मुशी जी का उर्दू से हिन्दी मे आगमन का मणिकाचन सयोग 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' बनकर उपस्थित हुआ । ''जीवन की समग्रता को लेकर युगीन समस्याओ के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास सर्वप्रथम प्रेमचन्द के उपन्यासो में ही मिलता है । जो अपने युग के एक प्रकार से दिशा-निर्देशक है ।''[25]

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यासो मे भारतीय स्वातत्र्य सघर्ष के किसी भी सोपान का चित्रण प्रायः नहीं है ।

गाँधी युग और हिन्दी उपन्यास

सन् 1917 के बाद हिन्दी साहित्य मे गॉधीवाद का प्रभाव देखा जा सकता है । गॉधी जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा महिमावान था कि वह अपने युग के क्षितिज पर पूरी तरह छा गया । तब भला ऐसे में साहित्य उसके प्रभाव से अछूता कैसे रहता । ''इस युग ने जिस साहित्य की सृष्टि की उसमें कर्मण्यता, विचारो की स्वतत्रता और जीवन की सरलता के साथ-साथ निर्भीकता भी पाई जाती है । आदर्श और सिद्धान्तों के लिए बलिदान का भाव पाया जाता है ।''[26]

गॉधी बाबा ने स्वतंत्रता की जो अलख जगाई, स्वाधीनता-हित संघर्ष की जो पवित्र मदाकिनी प्रवाहित की, कालान्तर में वह कई धाराओं में विभाजित हो गई जिन्हें विचारधारा के अलगाव के चलते 'क्रान्तिकारी' 'समाजवादी' जैसे नामों से पुकारा गया और हिन्दी उपन्यास इन सभी से प्रभाव, प्रेरणा ग्रहण कर विकास के सोपानों पर अग्रसर होता रहा ।

गाँधीयुगीन हिन्दी उपन्यासों को स्वतंत्रता संघर्ष के संदर्भ में अलग-अलग वर्गों में इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :-

(i) गॉंधीवादी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

(ii) समाजवादी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

(iii) क्रान्तिकारी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

(iv) स्ववत्रता सघर्ष की अन्य घटनाए और हिन्दी उपन्यास

गॉंधीवादी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

''गॉंधीवाद वह वृक्ष है जिसकी जड़ें 'राजराज्य', 'ट्रस्टीशिप', 'हृदय-परिवर्तन', 'सत्याग्रह', 'अहिसा' और 'सत्य' मे निहित है ।''[27] गॉंधी जी के अनुसार सत्य, अहिसा और प्रेम की राह पर चलकर पायी गई सफलता ही वास्तविक अर्थों में सफलता है । गॉंधीवाद यह मानकर चलता है कि मानवीय सबधों की सार्थकता आर्थिक, राजनीतिक और विधिगत साधनों से नहीं, नैतिकता और धर्म से सभव है और 'अर्थ' नहीं 'सत्य' मानव जीवन का आधार है ।

मुशी जी का उपन्यासकार गॉंधी जी और उनके विचारो को पूरे मन से स्वीकार करता है और गॉंधी-विचारधारा को पूरी निष्ठा से कथात्मक रूप देता है । गॉंधी जी के नेतृत्व पर मुशी जी की पूर्ण आस्था थी । गॉंधी जी के प्रथम दर्शन के बाद लौटे मुंशी जी से जब उनकी सहधर्मिणी-शिवरानी देवी - गॉंधी-दर्शन को अपनाने के सदर्भ में प्रश्न करती है, तो उनका जवाब होता है - ''अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो - मैने 'प्रेमाश्रम' लिखा है ।''[28] 'प्रेमाश्रम' से पूर्व लिखा गया उनका उपन्यास 'सेवासदन' पूरी तरह सुधारवादी दर्शन से अनुप्राणित है क्योंकि सारा कांग्रेस आन्दोलन सुधारवादी भावना को लेकर गतिमान था ।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व महात्मा गॉंधी के हाथो में आते ही राष्ट्रव्यापी आन्दोलन हो जाता है और शहरी परिधि को तोड़कर गॉंवों तक जा पहुंचता है । सारे देश को लगता है कि गॉंधी के रूप में हमें एक मसीहा मिल गया है जिसके पास हमारे तमाम दुःखों की अचूक दवा है और इस देश के 'कोटिपग' गॉंधी के अनुगामी हो जाते हैं । सारा देश 'महात्मा गॉंधी की जय' के नारों से अनुगूँजित हो उठता है तब भला ऐसे में मुंशी जी कैसे पीछे रह सकते थे । उन्होंने कहा - ''दुनिया में मैं महात्मा गॉंधी को सबसे बड़ा मानता हूँ । उनका भी उद्देश्य

यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों । वह हम लोगो को बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे है, मै लिखकर के उनको उत्साह दे रहा हूँ ।''[29] ''रचना के क्षण में वे गॉधी के सबसे नजदीक होते है ।''[30]

गॉधी जी तथा गाँधीवादी आन्दोलन से प्रभावित मुशी जी के उपन्यासों में तीन का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है - 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' और 'कर्मभूमि' । इन तीनों पर गॉधीवाद की स्पष्ट छाप है तथा 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' राष्ट्रीय आन्दोलन की औपन्यासिक त्रयी है । इन औपन्यासिक कृतियों मे उभरे आन्दोलन का स्वरूप पूँजीवादी और सामतवादी शोषण के विरूद्ध है । यह भी कह सकते है कि पूँजीवादी और सामतवाद के विरूद्ध है । 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशकर, 'रगभूमि' के सूरदास और 'कर्मभूमि' के अमरकान्त के सघर्ष में राष्ट्रीय आन्दोलन की छाया-छवि देखी जा सकती है । गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे आर्थिक विषमताओ के जितने भी रूप सभव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी । मुंशी जी ने भले ही अपने सूरदास को बनारस की गलियो से उठाया हो, उसकी सहिष्णुता, त्याग, मानवीय करूणा, सत्य के प्रति अडिग निष्ठा और अहिंसात्मक संघर्ष, सबको मिलाकर जो तस्वीर बनती है वह सहज ही पहचान मे आ जाती है । वह और कोई नही प्रेमचन्द की कल्पना की कूँची से उकेरा गया युग पुरूष गॉधी का औपन्यासिक चित्र-रूप ही है । मुशी जी के इन उपन्यासों में तत्कालीन सम्पूर्ण भारत अपने समग्र रूप मे व्याख्यापित हुआ है । सत्य की हर हाल में जीत, हृदय-परिवर्तन, सत्याग्रह, अछूतोद्धार, चरखा-कर्घा, लगानबन्दी, नौकरशाही की दमनवृत्ति, स्वराज्य की व्याख्या, स्वदेशी-आन्दोलन, नारी-जागरण, किसान-मजदूर आन्दोलन, शोषक जमींदार, रियासती अत्याचार, जैसी अनेक घटनाएं अपनी पूरी जीवत यथार्थवादिता के साथ मौजूद हैं ।

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द का साहित्य समकालीन भारत का और उसके स्वाधीनता सग्राम का स्पष्ट प्रतिविम्ब है और मुशी जी ने ''आजादी की लड़ाई का, जो उस समय की सबसे बड़ी और तीखी सच्चाई थी, का चित्रण अत्यन्त ईमानदारी से किया है ।''[31]

मुंशी प्रेमचन्द के समकालीन और उत्तरवर्ती अनेक उपन्यासकारों की कृतियों में गाँधी-दर्शन के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ प्रमुख औपन्यासिक कृतियों को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है ।

श्रीनाथ सिह की औपन्यासिक कृति जागरण {1927} गॉधीवादी विचारधारा का उपन्यास है जिसमे गॉधी जी का 'गॉव की ओर' तथा ग्राम्य जागरण का भाव निहित है । कृषक आन्दोलन की बागडोर गॉधीवादी नेता कृपाशकर के हाथ मे होती है । उपन्यास मे 'वारदोली सत्याग्रह' का रग स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जी का 'बुधुवा की बेटी' {1928} गॉधी जी द्वारा चलाये गये हरिजनोद्धार आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण कर लिखा गया उपन्यास है । उपन्यास के अघोरी बाबा और कोई नहीं स्वय गॉधी जी ही है ।

'उग्र' जी के एक उपन्यास 'सरकार तुम्हारी ऑखो में' मे हिन्दू मुस्लिम समस्या के साथ रियासती अत्याचार एव शोषण को विषय बनाया गया है । इस काल तक देश के स्वाधीनता सग्राम मे पुरूष-कधे से नारी-कधा भी मिला हुआ दिखाई देने लगा था, जिसका चित्रण भी इस कृति मे हुआ है ।

गॉधी जी के आन्दोलनों को उपजीव्य बनाकर ऋषभचरण जैन ने 'भाई', 'सत्याग्रह', 'गदर' तथा 'हर हाइनेस' जैसे उपन्यास लिखे, जिनमें गॉधी जी के सत्याग्रह का प्रभाव विशेष रूप में विद्यमान दिखाई देता है ।

जैनेन्द्र कुमार पूर्णतया गॉधीवादी दर्शन से प्रभावित उपन्यासकार हैं । गाँधीवाद पर उनकी पूर्ण निष्ठा एवं आस्था है । यह गाँधीवादी दर्शन का ही प्रभाव था कि उन्होंने आतंकवादी क्रातिकारी आन्दोलन को अपनी भर्त्सना का विषय बनाया है ।

उनकी कृतियाँ 'सुनीता' {1935} व 'त्यागपत्र' {1937} दोनों में गॉधीवादी दर्शन का प्रभाव है। 'सुनीता' में यह प्रभाव जहाँ 'अहिंसा' की विजय एवं 'हिंसा' की पराजय के रूप में लक्षित होता है वहीं 'त्यागपत्र' में गॉधी जी के 'प्रेम' व 'आत्मत्याग' का भाव निहित है ।

'बचन का मोल' {1936} मे ऊषा देवी मित्रा ने समाज और राजनीति, दोनों को घुला-मिला दिया है । इसे हम समाज और राजनीति का समन्वित रूप कह सकते है । उपन्यास की कथावस्तु के आधार मे गॉधीवादी दर्शन ही मौजूद दिखाई पड़ता है ।

भगवती प्रसाद वाजपेई ने 'निमत्रण' {1942} मे महात्मा गॉधी के विचारो एव आन्दोलनों को विषय बनाकर लेखनी चलाई है ।

स्वतंत्रता के आसपास लिखा गया भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' {1946} स्वतत्रता सघर्ष की परस्पर विरोधी अनेक धाराओ को अपने मे समेटे एक अनोखा उपन्यास है । पिता रामनाथ 'पूँजीवाद' का प्रतीक है तो उसकी तीन सन्तानो मे से दयानाथ काग्रेस, उमानाथ साम्यवाद तथा प्रभानाथ क्रातिवादी विचारधारा का अनुयायी है । पुरूषों के कंधे से कधा मिलाकर भारतीय नारी किस प्रकार इस महायज्ञ में अपनी आहुति दे रही थी, उपन्यास इस गौरव गाथा का भी साक्षी है ।

विष्णु प्रभाकर अपने 'निशिकान्त' {1955} को स्वय एक राजनीतिक उपन्यास स्वीकार करते है जिसमे 'असहयोग आन्दोलन' से लेकर 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' तक की कथा कही गई है । ''इसमे एक ऐसे युवक की कहानी है जो चाहता तो है देश की सेवा करना परन्तु उसे करनी पड़ती है विदेशी सरकार की सेवा ।''[32]

समाजवादी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

भारत में सन् 1934 में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई । इसकी स्थापना के साथ भारतीयो का समाजवाद की ओर झुकाव बढ़ने लगा । कांग्रेस के अधिवेशनों में साम्यवादी विचारधारा अपना रग दिखाने लगी थी । 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना के पीछे समाजवादी चिन्तन ही की प्रेरणा काम कर रही थी । साहित्यकार भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा । मुशी प्रेमचन्द के शब्दों में ''साम्यवाद आजकल विचार का मुख्य विषय है और हमें यह मालूम होने लगा है कि देश का उद्धार किसी न किसी रूप में समाजवाद के हाथों होगा ।''[33] समाज की अशांति के

मूल कारण के रूप मे वित्त विषमता को पहचाना जाने लगा था । इस विषमता से मुक्ति के लिए समाजवादी विचारधारा अपरिहार्य तत्व के रूप मे उभरकर सामने आयी जिसके सिद्धान्तो की अवतारणा हिन्दी साहित्य मे 'प्रगतिशील लेखक सघ' के द्वारा होने लगी थी । लोगों की समझ मे आने लगा था कि उनके दुःखों का कारण सिर्फ अँग्रेज शासक वर्ग नहीं वरन् पूजीवादी व्यवस्था है और इस समझ ने राष्ट्रीयता की भावना के स्परूप को परिवर्तित किया और ''राष्ट्रीयता के स्वरूप का आगे चलकर जो पर्यवसान हुआ वह समाजवाद की भावना मे हुआ । वर्गहीन समाज की भावना ने साहित्यकार को नई दृष्टि दी ।''[34]

इस विचारधारा ने हिन्दी उपन्यासकार के नजरिये मे नव-परिवर्तन उपस्थित किया और इसके प्रभाव की छाया तले बैठकर उसने अपनी कल्पना को शब्द रूप दिये ।

महापडित राहुल साकृत्यायन ने 'जीने के लिए' मे सामाजवादी जीवन दर्शन को स्वर दिया है । इसमें गॉधीवादी आन्दोलन की असफलता, नमक सत्याग्रह पर अनास्था तथा कृषक-मजदूर आन्दोलन की सफलता की आशा को उपन्यास का वर्ण्य विषय बनाया गया है ।

लेखक की अगली कृति 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' {1944} में कुछ पात्रों के सहारे साम्यवाद की सुन्दर व्याख्या की गई है । स्वतत्रता सघर्ष की अनेक घटनाएं भी उपन्यास के कथानक का विषय बनकर उभरी है ।

राहुल जी के बाद समाजवादी परम्परा को औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से आगे बढ़ाने का काम यशपाल द्वारा सम्पन्न हुआ है । यशपाल प्रणीत 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' व 'पार्टी कामरेड' को समाजवादी दृष्टिकोंण से लिखे गये उपन्यासों की कोटि में शामिल किया जाता है ।

'पार्टी कामरेड' {1946} में यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी के दलीय अनुशासन, उसके सिद्धान्त, राजनीति दर्शन तथा उसके सदस्यों की जुझारु प्रकृति का वर्णन किया है । यशपाल के शब्दों मे '''पार्टी कामरेड' की कहानी आज की ही कहानी है, पाठक के चारो ओर मौजूद परिस्थितियों की कहानी ।''[35]

रामेश्वर शुक्ल 'अचल' के उपन्यासो - 'चढ़ती धूप', 'नई इमारत' तथा 'उल्का' की कथावस्तु भी समाजवादी विचारधारा के तानें-बाने में बुनी हुई है । ये उपन्यास यशपाल तथा राहुल जी के समाजवादी दर्शन के विकास की अगली कड़ी है जिनमे समाजवाद की स्थापना का सतत् प्रयत्न चित्रित है ।

'मनुष्य के रूप' {1949} मे यशपाल की आस्था साम्यवाद मे पूरी दृढ़ता से स्थापित होती दिखाई देती है । उपन्यास में द्वितीय विश्व युद्ध, अगस्त क्राति, आजाद हिन्द फौज, अँग्रेजी पुलिस का दमनचक्र, नारी के प्रति पूँजीवादी लोलुप दृष्टि, अनैतिकता और अत्याचार का जीवन्त चित्रण मौजूद है।

भैरव प्रसाद गुप्त का 'मशाल' {1951} पूर्णतया राजनीतिक उपन्यास है जिसमे गुप्त जी की साम्यवाद के प्रति आस्था का अंकन हुआ है । उपन्यास का कथानक द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर 'आजाद हिन्द फौज' तक की घटनाओ में फैला हुआ है । नरेश, जो द्वितीय विश्वयुद्ध मे भाग लेने के लिए सेना में भर्ती हुआ था, कालान्तर मे बदली परिस्थितियो में 'आजाद हिन्द फौज' के सिपाही के रूप मे गाँव लौटता है तो उसका गाँव उसे पूरी तरह उजड़ा हुआ तथा परिवार टूटा हुआ मिलता है । नरेश साम्यवादी चेतना से भरकर सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के विरूद्ध सघर्ष के लिए प्रेरित करता है ।

भैरव प्रसाद गुप्त के अगले उपन्यास 'सती मैया का चौरा' {1959} में भी साम्यवाद की व्याख्या व प्रचार का उद्‌देश्य निहित है । उपन्यास में मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी, जनसंघ के राजनीतिक दर्शन से मतभेद एव उनकी विचारधारा का खण्डन किया गया है ।

नागार्जुन का 'बलचनमा' {1952} पूर्णतया समाजवादी चिन्तन की उपज है । लेखक ने बलचनमा की आँखों-देखी के माध्यम से सामंतवाद का पर्दाफाश और शोषित वर्ग के जीवन का यथार्थ चित्र उरेहा है । राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की घटनाएं अपनी पूरी जीवन्तता के साथ उपन्यास में उभार पाने में सफल रही हैं ।

मन्मथनाथ गुप्त ने 'रंगमंच' {1960} में महात्मा गाँधी के नमक सत्याग्रह आन्दोलन को कथा का आधार बनाया है । उपन्यास में गुप्त जी की समाजवाद के प्रति आस्था के दर्शन होते हैं

मन्मथनाथ गुप्त ने 'रगमच' (1960) मे महात्मा गॉधी के नमक सत्याग्रह आन्दोलन को कथा का आधार बनाया है । उपन्यास मे गुप्त जी की समाजवाद के प्रति आस्था के दर्शन होते है। उपन्यास मे एक पात्र प्रेमचन्द को आतकवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होते दिखाया गया है।

क्रांतिकारी विचारधारा : हिन्दी उपन्यास

ब्रिटिश साम्राज्य को भारतीय क्रातिवीरो के गुप्त आन्दोलनो ने अत्यधिक बेचैन किया । अॅग्रेज हुक्मरानो की जुल्मी नीति के विरोध मे भारतीय बहादुरों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था जो गाँधी जी के एक गाल पर तमाचा खाकर दूसरा गाल आगे कर देने की अहिसावादी नीति से कतई इत्तिफाक नहीं रखता था और 'शठे शाठ्यं समाचरेत' की भावना से ओत-प्रोत होकर इसने हिसा का रास्ता अपनाया । मुशी प्रेमचन्द जी के यहॉ प्रकट तो नहीं परन्तु प्रकारान्तर से ऐसे आन्दोलनों की चर्चा तथा इन आन्दोलनकारियो के प्रति उनकी सहृदयता के दर्शन हो जाते है । '''कायाकल्प' 'गबन' और 'कर्मभूमि' मे कई ऐसे प्रसग है जो स्वाधीनता आन्दोलन से सीधे जुड़े है ।''[36] गबन मे क्रांतिकारियों को जब डकैती के झूठे केस मे फॅसा कर रमानाथ को झूठी गवाही देने के लिए तमाम सब्जबाग दिखाकर तैयार कर लिया जाता है तो उन अभियुक्तों पर जनता की श्रद्धा और सहानुभूति तथा रमानाथ के प्रति घृणा दिखाकर मुशी जी बहुसख्यक हिन्दुस्तानियों का नजरिया बयान कर देते है। यहाँ तक की रमानाथ की पत्नी जालपा भी रमानाथ को ठुकरा देती है और दिनेश, जिसे इस षड़यंत्र में फॉसी की सजा हुई है, के घर जाकर उसकी पत्नी, बच्चों की सेवा करती है ।

'रगभूमि' में कथित डाकू वीरपाल के प्रति जनता की श्रद्धा-भावना एवं विनय के प्रति घृणा से भी यह बात जाहित होती है कि मुशी जी के हृदय में इन क्रातिकारियो के लिए एक नर्म कोना था तथा गॉधी जी को आदर्श बनाये रखकर भी वे इन क्रातिवीरों का पूरा सम्मान करते थे । सोफिया, विनय सिंह से कहती है - ''मेरी दृष्टि में जिस राज्य का अस्तित्व अन्याय पर हो, उसका निशान जितनी जल्दी मिट जाये, उतना ही अच्छा ।''[37] जिन व्यक्तियों को अंग्रजी सरकार 'डाकू' समझती थी तथा जिनकी गिरफ्तारी के लिए विनय सिंह अँग्रेज सरकार से मिलकर रात-दिन एक किए हुए थे, उनके विषय मे सोफिया की धारणा है - ''जिनके साथ हूँ, वे सहृदय हैं, वे किसी दीन

प्राणी की रक्षा प्राण-पण से कर सकते है, उनमे तुमसे कही अधिक सेवा और उपकार के भाव मौजूद हैं ।''[38]

किन्तु मुशी जी के यहाँ क्रातिकारी घटनाएं प्रकारान्तर से ही महत्व पा सकी है । उनका सीधा चित्रण कहीं नही है । क्योकि मुशी जी 'सोजेवतन' का हश्र देख चुके थे इसलिए उन्होने सरकारी क्रोध से बचाव करते हुए आजादी की लड़ाई को चित्रित किया है । जैसा कि गोपाल राय लिखते है - ''प्रेमचन्द के उपन्यासो में समान्तर चल रहे स्वाधीनता संग्राम का सीधा चित्रण बहुत कम मिलता है ।''[39]

मुशी प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकार दुर्गा प्रसाद खत्री ने क्रांतिपथगामियों की नीतियों, उनके गुप्त सगठनों और उनके विविध कार्यकलापों को जासूसी कथानक के बहाने से अनेक उपन्यासो मे चित्रित किया है ।

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन में क्रातिपक्ष के साथ सक्रिय भूमिका निभाई है, उन्होने अपनी औपन्यासिक कृति 'जययात्रा' (1938) में इस विषय को यथार्थवादी दृष्टि से उभारा है ।

असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद प्रगतिशील व्यक्तियों का अहिसावाद से विश्वास उठ गया था तथा क्रातिकारी दलों की स्थापनाए देश में होने लगी थीं । गुरूदत्त ने 'स्वाधीनता के पथ पर' (1942) में इसी पृष्ठभूमि को कथा का आधार बनाया है ।

उदयशकर भट्ट कृत 'डॉ. शेफाली' (1960) में क्रांतिकारी आन्दोलन को कथा का आधार बनाया गया है । भारतीय क्रांतिपथ में पुरूषों के कंधे से कधा मिलाकर नारियाँ भी समानरूप से कार्य कर रही थीं । प्राणोत्सर्ग करने तथा खतरों से जूझने में उनका 'नारीपन' कहीं आड़े नही आता, कथा का प्रतिपाद्य यह भी है ।

भट्ट जी के अन्य उपन्यास 'शेष-अशेष' का विषय भी क्रांतिकारी आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है जिसमें पराधीनता की बेड़ियों को काटने के निमित्त साधुवेष में रहकर क्रांतिकारी अपने आन्दोलन का सचालन करते हैं । देशभक्त नवनवान ब्रिटिश शासन का मूलोच्छेद करने के

लिए साधुवेष धारण कर स्वामी हरिहरानन्द के नेतृत्व मे योजना बनाते है । ये साधुवेषी क्रातिकारी इश्तहार, लघु पुस्तिकाओ तथा कथा प्रवचनो के माध्यम से जन-जागरण करते हुए शोषक आग्ल शासन के प्रति घृणा के भाव का सचार करते है ।

स्वतंत्रता संघर्ष की अन्य घटनाएं तथा हिन्दी उपन्यास

स्वाधीनता सघर्ष के इस युग मे कुछ ऐसी घटनाए भी थीं जो प्रथम दृष्ट्या भले ही महत्वपूर्ण प्रतीत न होती हों किन्तु स्वतत्रता की मशाल को प्रज्ज्वलित करने में निश्चय ही छोटी किन्तु सार्थक भूमिका निभा रही थीं । इन घटनाओ का अंकन भी हिन्दी उपन्यासो में हुआ है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का सम्पूर्ण जीवन सघर्षों का एक ज्वलन्त दस्तावेज है, जिसकी छाप उनके साहित्य पर - चाहे वह पद्य साहित्य हो या गद्य - विद्यमान है । राजनीति के क्षेत्र में निराला का विद्रोही मन गॉधीवादी आदर्शों के साथ अपना समजस्य नही बैठा पाता । निराला जी के उपन्यासो में स्वतंत्रता संग्राम की घटनाए प्रकारान्तर से प्रसगवश ही प्रवेश पा सकी है । स्पष्ट रूप से स्वाधीनता आन्दोलन को विषय बनाकर उन्होने उपन्यास नही लिखे । उनके तीन उपन्यासों 'अप्सरा', 'अलका' और 'कुल्लीभाट' में राजनीति के अंशतः ही दर्शन होते हैं और वह भी व्यग के पुट के साथ ।

'अलका' (1933) में प्रसगवश कृषक आन्दोलन का जिक्र मिलता है । इस आन्दोलन के माध्यम से जमींदार और किसान के आपसी सबंधों, कृषकों का शोषण, जमींदारो का अत्याचार और लगानबन्दी के साथ-साथ तत्कालीन मदी का चित्रण मिलता है ।

'कुल्लीभाट' (1939) संस्मरणात्मक उपन्यास है जो सामाजिक व्यंग की दृष्टि से बेजोड़ है । कुल्ली गाँधी जी के प्रति अडिग आस्था रखता हुआ अछूतोद्धार आन्दोलन का सूत्रपात करता है तथा सम्प्रदायगत भेदों को धता बताते हुए मुसलमान महिला से विवाह रचाता है किन्तु कालान्तर में परिस्थितियों के चक्र में पड़कर उसकी आस्था डावाँडोल होने लगती है । निराला जी ने अपने इस उपन्यास में राष्ट्रीय आन्दोलन की समसामयिक घटनाओं की व्यगात्मक झाँकी बड़े मार्मिक रूप में पेश की है ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने इतिहास एव समाज को आधार बनाकर अनेक औपन्यासिक कृतियो का प्रणयन किया है । 'आत्मदाह' (1935) मे उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर गॉधी जी के असहयोग आन्दोलन तक की समय सीमा को कथानक का विषय बनाया है । जलियॉवाला बाग के बर्बर नरसहार को उपन्यास मे बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है । क्रातिकारियो की विविध गतिविधियो का अकन उपन्यास मे शामिल है । अँग्रेजों द्वारा भारतीय स्वाधीनता के हित जूझ रहे देशभक्तों को कालापानी की जो सजा दी जाती थी उससे जुड़े अनेक प्रसग उपन्यास में जीवन्तता के साथ उभार पा सके है ।

इलाचन्द्र जोशी ने 'मुक्तिपथ' (1948) मे स्वाधीनता पूर्व से लेकर स्वाधीन भारत के चित्र खींचे है । साइमन कमीशन का वहिष्कार, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, क्रातिकारी आन्दोलन आदि समस्याएं उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाती है ।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने 'चढ़ती धूप' (1945) मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बाद की रानीतिक घटनाओ को कथा का आधार बनाया है । उपन्यास के बारे में स्वय उपन्यासकार का मत है - ''मेरे उपन्यास का घटनाकाल काग्रेस के सन् 1932 वाले आन्दोलन के बाद का और विभिन्न प्रान्तों में काग्रेस मत्रिमडल स्थापित होने के बीच का समय है - जब देश मे जोरो के साथ समाजवादी चेतना का उदय हो रहा था ।''[40]

प्रताप नारायण श्रीवास्तव ने 'बयालीस' के बाद (1950) में राष्ट्रीय संग्राम को केन्द्र में रखकर द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास की घटनाओं को कथानक का विषय बनाया है । उपन्यास में सर्वहारा वर्ग और पूँजीवाद के संघर्ष का चित्रण, गॉधीवाद के विश्लेषण के साथ-साथ मिलता है । 'आजाद हिन्द फौज' द्वारा अंडमान द्वीप समूह पर कब्जा कर लिए जाने को भी उपन्यास के कथानक में संजोया गया है ।

'मैला ऑचल' (1954) की कथावस्तु का आधार भी भारतीय स्वाधीनता संग्राम की नींव पर खड़ा किया गया है । उपन्यास में राजनीति का रथ शहर से चलकर गॉंव तक आता है । काग्रेस के चरखा-कर्घा के साथ कम्युनिस्ट पार्टी का लाल पताका भी गॉंव में फहरा उठता है । उपन्यास में ग्रामीण वातावरण में राजनीतिक चेतना का अंकन करना ही 'रेणु' का अभिप्रेय है ।

लक्ष्मीनाराण लाल ने 'रूपजीवा' {1959} मे स्वातत्र्य सघर्ष की घटनाओं का सूचनात्मक रूप में अकन किया है । काग्रेस-आन्दोलन, जवाहर लाल नेहरू की सभापति पद पर आसीनता, श्रीमती कमला नेहरू का देहान्त, द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ और स्वाधीनता की लड़ाई में भारतीय नवयुवकों के योगदान आदि की चर्चा उपन्यास में हुई है ।

उपर्युक्त उपन्यासों के विवेचन के पश्चात् यह तथ्य उभरकर सामने आते है कि तत्कालीन भारत के राजनीतिज्ञो के जेहन में जो सबसे महत्वपूर्ण बात थी वह - देश की आजादी थी । उनके रास्ते भले अलग-अलग रहे हों परन्तु गतव्य स्थल सबका एक था । तथा वे सब अपने लक्ष्य के प्रति पूरी निष्ठा के साथ समर्पित थे । ठीक इसी तर्ज पर गाँधीयुगीन उपन्यासकार चाहे वह गॉधीवादी था या हिंसा समर्थक या फिर समाजवादी अथवा क्रातिकारी - सबका मूल स्वर समान था।

स्वतंत्रता की उपलब्धि के बाद भारतीय स्वाधीनता सघर्ष को विषय बनाकर लिखे गये उपन्यासो का स्वर अपने पूर्ववर्तियों से किचित भिन्न है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि किसी वस्तु से अलग खड़े होकर ही हम उसको सही मायने में परख सकते है । इसलिए अब उपन्यासकार विभिन्नवादों - गॉधीवाद, समाजवाद-साम्यवाद की आलोचना-प्रत्यालोचना को स्वतत्र भारत के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से, बेझिझक शब्द देने मे समर्थ था ।

यद्यपि मूलतः ये सारी धाराएं शहरी जीवन में ही प्रवाहित हो रही थीं लेकिन इसके कुछ छीटे गॉव की धरती पर भी पड़ने लगे थे ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : नई दिशाएं

15 अगस्त सन् 1947 का बहुप्रतीक्षित दिन अपने साथ आजादी की रंगीन रोशनी लेकर आया। यह तारीख भारतीय इतिहास की एक अति महत्वपूर्ण घटना है । "स्वाधीनता प्राप्ति ने हमारे देश को बहुत गहराई तक झकझोर दिया था, उसमें ऐसी उथल-पुथल मचा दी थी कि जीवन

के अनगिनत पर्त उघड़कर सामने आ गये ।''[41] और यह कहना उपयुक्त होगा कि हिन्दी उपन्यासकार ने इन उघड़ी हुई पर्तों के रेशे-रशे को अपनी पैनी निगाह से देखा ।

स्वतत्रता के बाद का हिन्दी उपन्यासकार एक प्रकार के अन्तर्विरोध से ग्रस्त रहा है । एक ओर जहॉ राजनीतिक रूप से मिली आजादी के कारण उसने मुक्ति का अनुभव किया, उसकी कल्पना का नये क्षितिज से साक्षात्कार हुआ तथा उसकी अनुभूति का धरातल जीवन के व्यापक क्षेत्र को अपने मे समेट पाने में समर्थ हुआ, जिसके चलते नये सामाजिक और भौगोलिक क्षेत्रों से आये नवयुवक रचनाकारो ने अपने पूर्ववर्तियों से सर्वथा भिन्न जीवन क्षेत्र को अभिव्यक्ति प्रदान की । वहीं दूसरी ओर उसे यह भी आभास होने लगा कि इस आजादी में तो सिर्फ सत्ता हस्तान्तरण हुआ है और इसके चलते वह यह सोचने पर विवश होता गया कि क्या भारतीय जन ने स्वाधीनता की यही परिकल्पना की थी ?

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास तत्कालीन जीवन के बहुआयामी विस्तार को एक स्तर पर जहॉ समग्रता से समेटने के लिए कृत संकल्प दिखाई देता है, वहीं दूसरे स्तर पर ''गहराई के आयाम में कुठित और खण्डित व्यक्तित्व की करूणा को अभिव्यंजित करता है ।''[42] स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यासकार अपने समसामयिक जीवन को विभिन्न रूपों में अपनी रचनाओ में उकेरता है । उसके चित्रण मे मनुष्य अपने कई परिचित-अपरिचित रूपों, परिवेश के साथ अपने संबधों तथा अपने सघर्षों के साथ मौजूद मिलता है । स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास भारतीय जीवन के बहुत से स्तरों और आयामों को अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है । इन उपन्यासों में जीवन के खण्ड सत्यों के असंख्य चित्र मार्मिक अनुभूति की तीव्रता तथा विविधता के साथ चित्रित मिलते हैं । इधर पूर्ववर्ती युग की थोथी भावुक आदर्शवादिता तथा रोमानी दृष्टिकोंण के बजाय वैयक्तिक ईमानदारी और निर्मम यथार्थपरकता पर आग्रह बढ़ा है । ''स्वाधीनता के उपरान्त जो परिवर्तन आया है उसे पूर्व स्थिति के साथ रखकर टूटते हुए आर्शवाद, बढ़ते हुए अवसरवाद और ईमानदारी को कुटिलता के चक्रव्यूह में जूझते हुए दिखाना हिन्दी उपन्यासकारों की प्रवृत्ति रही है ।''[43] अब वह किसी 'आश्रम' या 'सदन' के भुलावे में नहीं पड़ता बल्कि सत्य का पल्ला थामने वाले उसके 'कालीचरन' किसी डकैत के शरण में चले जाते हैं तथा भारत माता के 'जार-जार' रूदन को सुन मर्मान्तक पीड़ा की अनुभूति करने वाले 'बावनदासों' को भ्रष्ट और लोलुप अधिकारियों की गाड़ियों के चक्के कुचल देते

है - तार-तार कर देते है । यह यथार्थपरकता वाह्य व आन्तरिक दोनों आयामो में है और साथ ही उसके कई एक स्तर विभिन्न उपन्यासकारो की रचनाओ में उपलब्ध होते है ।

स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यासकार मनुष्य के जीवन के विभिन्न पहलुओं को, उसके टूटने-बनने की दीर्घ तथा बहुमुखी गाथा को, विभिन्न कोणों से अकित करता है । उसके रचनाकर्म में साधारण जीवन तथा व्यवहार के अनगिनत उतार-चढ़ावों के साथ सामाजिक जीवन के बहुत से स्तर उद्घाटित होते है । परिवार तथा उसके विघटन के परिप्रेक्ष्य मे सहज मानव आरचण तथा मूल्यो के सक्रमण की विडम्बनात्मक प्रस्तुति के साथ तद्युगीन टूटती-बनती सक्रांतिकालीन व्यवस्था की झॉकी अपनी पूरी प्रामाणिकता के साथ उपन्यास के पन्नो मे दर्ज हुई है ।

भारत माता के पैरो की बेड़ियॉ कट गईं तो भारतीय मन उत्फुल हो विस्तृत नभ की सीमाए नाप डालने को आकुल हो उठा । यह सदियों की गुलामी से मुक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया-उमग थी जिसके फलस्वरुप उपन्यासकार का मुक्त मन अपने देश के सुदूर अंचलों की यात्रा पर निकल पड़ा और 'आंचलिक' उपन्यास के बहाने उसने समकालीन भारतीय जीवन के बहुत से क्षेत्रों को अपने उपन्यासों मे खींच लिया । इस प्रक्रिया मे लेखक ने अपने चारो ओर के जीवन को नई दृष्टि से देखा, पहचाना और अभिव्यक्त किया और अपनी अनुपम रचना शक्ति द्वारा उपन्यास की दुनिया मे एक नई ओजस्वी शक्ति का ज्ञान करा दिया । इसका सारा श्रेय उन रचनाकारों जाता है जो मूलतः इन क्षेत्रों से संबधित थे तथा शिक्षित हो, साहित्यिक कलात्मक सवेदनशीलता प्राप्त करते ही अपने प्रदेश के जीवन की ओर स्वभावतः ही उन्मुख हुए । इस उन्मुखता के पीछे शायद शहरी जीवन की कुठा और घुटन की उकताहट थी जिसके चलते उपन्यासकार को अपने देहातों की खुली हवा मे सांस लेना सुखद लगा । परिणामस्वरुप विभिन्न जन जातियों और अचलों से परिचय पाया जाने लगा । परन्तु इन 'आचलिक' कहे जाने वाले उपन्यासों का रुप-स्वरुप एक सा नहीं रहा, रागेय राघव ने जन जातियों को चुनते हुए करनटों को 'कब तक पुकारुं' (1957) का विषय बनाया, राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने बस्तर के गोंड़ों को 'जंगल के फूल' (1960) में तथा आदिवासियों के जीवन की एक अछूती समस्या को 'सूरज किरन की छाँह' (1959) में चित्रित किया तो उदयशंकर भट्ट ने बरसोवा के मछुवारों की जिन्दगी को 'सागर लहरें और मनुष्य' (1955) में जीवन्त किया । इस स्थिति के पीछे जो प्रेरक तत्व के रुप में काम कर रही थी वह थी - मानवतावादी विचारधारा। प्रारम्भ में गाँधी जी एवं रवीन्द्र द्वारा प्रवाहित मानवता की धारा काल की गति ने अवरुद्ध कर दी

थी परन्तु 1947 के बाद वह नवीन वेग से पुन. प्रवाहित होने लगी और देश के अनजान अचल उसमे स्नात होकर निखरने लगे।

उपन्यास की दुनिया मे आचलिकता के उभार को प्रधानतः भाव-दृष्टि से जोड़ा जाता है परन्तु कला की दृष्टि से भी देखा जाय तो यह होना अपरिहार्य हो गया था । अब जन-संकुल नगरो के कृतिम जीवन मे साहित्यकारो एव पाठको को भी बासीपन महसूस होने लगा था । साहित्य का शिल्प भी एक बंधे-बधाये ढर्रे पर नीरस गति से चलता हुआ सा हो गया था जिसमे चित्र पिष्ट-प्रेषण के सिवा कुछ विशेष शेष नहीं रहा । ऐसे में यह नितान्त स्वाभाविक था कि कला के क्षेत्र मे कुछ नए प्रयोग होते । इसी प्रयोग की प्रतिक्रिया उपन्यास साहित्य मे प्रकट हुई और उसने अपने आप को सर्वथा नूतन रग में रंगना आरम्भ कर दिया ।

इस दौर के उपन्यासो में एक नया स्वर नारी के नये रूपों और स्त्री-पुरूष सबंधों के नये आयामों की अभिव्यक्ति के कारण है । इस युग तक आकर नारी सतीत्व और देवीत्व के कटघरों मे कैद नही रह सकी । ''अब वह केवल खिलौना नहीं, केवल रमणी भी नहीं, मात्र सगिनी भी नही अधिकाधिक 'व्यक्ति' होती जा रही है ।''[44] इसके पूर्व के युग मे नारी आदर्शों का असह्य बोझ लादे ''परंपरागत नारी सहिता''[45] के सीमित दायरों मे कैद दोहरी दासता के पाटों में पिस रही थी। स्वय मुशी प्रेमचन्द भी नारी को आदर्श, परम्परागत रूप मे देखने के पक्षधर थे । उनका मेहता कहता है - ''मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है, और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है ।[46] यानि कुल मिलाकर 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी'' ही उसकी नियति बनी हुई थी । ''छायावाद युग की नारी न तो नारी है, न सामाजिक सदर्भो में रहने वाली जीवित इकाई । वह प्रायः निराकार है, एक 'हवा' है ।''[47] छायावाद के पूर्ववर्ती द्विवेदी युगीन साहित्य में नारी की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है ''वस्तुतः द्विवेदी युग में भी नारी के प्रति पुरूष का दृष्टिकोंण बहुत कुछ वही था जो रीतिकाल में था । दोनों युगों में दृष्टिकोंणों में मौलिक अन्तर नहीं था ।''[48] नामवर सिंह से क्षमाप्रार्थी होते हुए मैं यह अवश्य कहना चाहूँगा कि मैथिलीशरण गुप्त जी की नारी दृष्टि रीतिकालीन दृष्टि से भिन्न थी । इन युगों में वास्तविक जीवन में और साहित्य में नारी वर्जनाओं के कठोर घेरेबन्दी में कैद हो जीवन जीने के लिए अभिशप्त थी। नारी उस स्वतंत्रता की कल्पना भी नही कर सकती थी जो पुरूष को प्राप्त थी । महाराज मनु जैसों ने तो जीवन पर्यन्त उसकी दासता की व्यवस्था के नियम बना रखे थे । मनु के बहुत बाद तुलसी

बाबा ने भी उसे डडे के जोर से हॉकने की राह सुझाई और किसी सूरत स्वतत्रता न देने की बात कही । ऐसे मे नारी, पुरुष की सिर्फ भोग्या बनकर रह गई और यदि कभी पुरुष ने उसे महत्व देना भी चाहा तो जैसा कि नामबर सिह जी का भी मत है कि ''उसके अन्दर वह सामर्थ्य नहीं था, जो खुलकर अपने को व्यक्त कर सके, क्योंकि सदियो पुराने बदी जीवन ने नारी के वास्तविक नारीत्व को कुठित कर दिया था ।''[49]

परन्तु स्वातत्र्योत्तर युग तक आकर नारी वही 'नारी' नहीं रही जिसका एक पर्याय 'अबला' भी था । ''आधुनिक नारी अब अपनी पूरी गरिमा, देह सपदा और वास्तविक सम्मान के साथ आई है ।''[50] स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासो मे उसे विभिन्न कोणों से खींचे गये चित्रो के रूप मे उपस्थित किया गया है । वह साधारण गृहिणी, अध्यापिका, आर्थिक रूप से स्वतत्र जीवन्त व्यक्ति तथा निजी जीवन की स्वाधीनता के लिए सघर्षशील आधुनिक रूप मे चित्रित हुई है । परम्परा के अनुगामी तथा नैतिकता का राग अलापने वालो के लिए यह भले 'सच्चरित्र' न हो पर इस युग के कथाकारों ने शुचिता के तथाकथित दायरे से बाहर निकाल कर इसे सर्वथा स्वतंत्र व्यक्ति की भाति गढने का यत्न किया है । स्वाधीनता परवर्ती उपन्यासों मे चित्रित नारी पूर्ण व्यक्तित्व की मर्यादा से मण्डित, आत्मविश्वासपूर्ण और पूरी तरह आत्मानुशासित है और उसका चरित्र हिन्दी उपन्यास को सर्वथा नई गहराई का आयाम देता है ।

नारी की स्थिति में आये क्रातिकारी परिवर्तन के फलस्वरूप यह बहुत स्वाभाविक था कि पुरुष के साथ उसके सबध नये आयाम ग्रहण कर पाने में सक्षम हो जाते । नवीन हिन्दी उपन्यास मे स्त्री-पुरुष-सबंध पूर्ववर्ती लेखन की तुलना में सर्वथा भिन्न रूप में प्रस्तुत हुए हैं । ''प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास मे स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य को अपरिहार्य मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इन उपन्यासों में जो स्त्रियाँ पातिव्रत्य का पालन नहीं करतीं है उन्हें ईश्वरीय दण्ड मिलता है ।''[51] मुशी प्रेमचन्द के यहाँ स्थिति थोड़ी बदलती जरूर है लेकिन उनकी श्रद्धा के अधिकारी वही नारी पात्र हो सके हैं जिनके लिए 'पति देव न दूजा' रहा है । धनिया {गोदान} प्रत्यक्ष प्रमाण है । परन्तु अब यह स्थिति टूट रही है । दूसरे महायुद्ध, स्वाधीनता, देश के विभाजन, शिक्षा, ये सब ऐसे कारक तत्व बने जिन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों को उन्मुक्तता, उच्छंखलता भी दी है और स्वाभाविकता तथा सहजता भी । ''उच्चतर शिक्षा ने स्त्रियों को स्वावलम्बी ही नहीं बनाया बल्कि उन्हें अपनी अस्मिता और अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाया । उनमें परम्परागत नारी-संहिता और संस्कारों

के प्रति विद्रोह का भाव पैदा हुआ ।''[52] सबसे अहम् पन्ना 'यौन-मुक्ति' का है । शिक्षा, नगरीय सपर्क तथा अकेलेपन की त्रिवेणी ने नारी के पिछले सारे सस्कार धो दिये है और आज उसे अपनी ''कच्चे कॉच वाली यौन शुचिता''[53] की बात बचकानी लगने लगी है । ''नारी की देह अब उसके अपने निर्णय की वस्तु है ।''[54] 'चाक' की सारग इसका जीवन्त प्रमाण है ।

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकार ने स्वतत्रता परवर्ती युग की नारी के, आत्मनिर्भर, आत्मनिर्णायक होने की स्थितियों को, उसके स्वरूप और मानसिक गठन को और फलतः पुरूष के साथ बदले उसके सबधों को खुलकर स्वीकारते हुए चित्रित किया है ।

स्वाधीनोत्तर युग के उपन्यास व्यक्ति को पूर्व की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण ढग से प्रतिष्ठित करते है और साधारण व्यक्ति मे सहज जीवन के तमाम पहलुओं को मानवीय गरिमा के साथ चित्रित करते है । यह भी कह सकते है कि स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साधारणता मे ही विशिष्टता की खोज करता है । यह उसकी सार्थक विशेषता है । स्वाधीनोत्तर हिन्दी उपन्यास एक साथ दोहरी यात्रा करता है । एक ओर वह मानव के अर्न्तमन मे उतर कर उसके अवचेतन जीवन की दबी-ढॅकी पर्तों को खोलता है, तो दूसरी ओर मनुष्य के व्यापक सामाजिक सबधों को पूरी तीव्रता एव बहुआयामिता के साथ समेटने का सफल प्रयास करता है । यह उसकी रचनाधर्मिता की सबसे बड़ी खूबी है कि वह परस्पर विरोधी - 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' को - मनुष्य की भीतरी और बाहरी दुनिया को पूरी समग्रता में व्यक्त कर देता है चाहे वह व्यक्ति शहर या गाँव अथवा किसी भी भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध हो ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : ग्रामोन्मुखता

स्वतत्रता पूर्व का साहित्य बहुत हद तक फार्मूलाबद्ध तथा नीरस हो चुका था । उसके बासीपन से ऊबकर स्वतंत्रता परवर्ती साहित्य में नया आन्दोलन आया जो अपने पूर्ववर्ती उबाऊ हो चुके साहित्य के विरूद्ध नयी चेतना लेकर उपस्थित हुआ । कविता के क्षेत्र में 'तार सप्तक' के कवियों के आत्म वक्तव्य बताते हैं कि उनमें से अधिकांश की ग्रामोन्मुखता के पीछे साहित्य में नई स्फूर्ति लाने की भावना काम कर रही थी । प्रेमचन्द युग में मुंशी जी एवं उनके समकालीन

उपन्यासकार ग्राम-जीवन पर आधारित विशाल एव जीवन्त साहित्य की सर्जना कर चुके थे परन्तु बीच मे यह धारा सूख गई । ''गोदान के बाद गॉवों मे केवल पगडण्डियॉ रह गईं और मुख्य सड़कें रोम (शहर) ले जाने वाले रेलवे स्टेशनो की ओर मुड़ गईं ।''[55] सन् 1947 में स्वतत्रता मिलते ही भारतीय नेतृत्व का ध्यान गॉधी जी की प्रेरणा के चलते अपने उपेक्षित ग्राम-अचलो की ओर गया और उसी के साथ ही साहित्यकार भी भारतीय सस्कृति के आधार क्षेत्र ग्राम-जीवन की ओर आकर्षित हुआ और इस बदली हुई भावभूमि के तहत साहित्यकार ने अपने गॉव को, अपने अचल को अपनी उपेक्षिता धरती को हाथो हाथ उठा लिया।

प्रेमचन्द के बाद खण्डित हो गई साहित्य की ग्रामोन्मुखी धारा स्वतत्रता रुपी जीवन-रस पाकर फिर से बह निकली और हिन्दी के बहुत से उपन्यासकारो ने फिर से देहाती जीवन को आधार बनाकर उपन्यास लिखे ।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य के इस ग्रामाभिमुख होने के पीछे क्या सिर्फ स्वतत्रता सग्राम के सिलसिले मे लगाये गये नारे 'गॉवों की ओर चलो' की ही प्रेरणा थी या कुछ और भी था जिसने साहित्य का रुख गाँव की ओर कर दिया । गाँव के प्रति रचनाकारों के आकर्षण के इस नवोन्मेष के उत्तरदायी कारणों की तलाश करते हुए नेमिचन्द जैन इसको शहरी जीवन की कुठा और घुटन, उसकी एकरसता और आत्माभिमुखता से उकताहट और ऊब के अहसास से अपजने वाली रस और सुन्दरता की खोज की प्रवृत्ति से सबद्ध करते हैं ।[56]

कारण कुछ भी रहे हों, कदाचित स्वतत्रता परवर्ती उपन्यासकार ने महसूस किया कि भारतीय जीवन के मेरुदण्ड गाँव है । शहर की विशाल फैक्टरियों में पेट भरने के लिए अनाज नहीं बनाया जा सकता, उसके लिए नगर को गाँव की ओर ही निहारना पड़ता है । यह निर्भरता कोई आज की चीज नहीं है - ''नगर एक ऐसा विशाल जनसमूह है जिसकी जीविका के साधन उद्योग एवं व्यापार है । वह व्यावसायिक उत्पादनों के विनिमय द्वारा ग्राम से खाद्यान्न प्राप्त करता है । नगर-तत्व एवं ग्राम तत्व का यह प्रधान भेद भारतवर्ष में चिरकाल से चला आ रहा है ।''[57] इस सच्चाई से आँख मिलाने का परिणाम यह हुआ कि साहित्यकार ने महसूस किया कि वास्तविक भारत गॉवों में बसता है और दिल्ली, मुम्बई अथवा कोलकाता में बैठकर देश के दिल की धड़कन नहीं सुनी जा सकती । परिणामतः इस धड़कन को सुनने के लिए वह स्वयं को देश के 'दिल' अर्थात गाँव के करीब ले

गया। साहित्यकार की दृष्टि अब बदल गई । कुछ प्रबुद्ध समीक्षको ने भी यही राय प्रकट की है । नामवर सिह इसे "लोक जीवन के अर्न्तवैयक्तिक सामाजिक सबधों की समझ"[58] का परिणाम भी मानते है । डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ उपन्यास साहित्य की ग्रामोन्मुख हुई धारा के कारणो की तलाश करते हुए हिन्दी मे आचलिक उपन्यास के विकास पर विचार करते हुए लिखते है - "अधिक सभावना यह है कि स्वाधीनता के बाद भी गॉवो की स्थिति जस की तस रह जाने से सवेदनशील कथाकारों को क्षुब्ध और आहत किया ।"[59] यह क्षोभ तब और भी बढकर रचनात्मक शक्ति बन जाता है जब रचनाकार इन परिस्थितियो का सिर्फ दर्शक ही नहीं भोक्ता भी होता है । डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ के शब्दो में "यह गौर मतलब है कि अधिकतर आँचलिक उपन्यासकार गॉव मे जन्में है और उनके पास इन अविकसित अचलों की अनुभव सपदा पर्याप्त है । इसलिए आचलिक उपन्यास एक तरह से जिए हुए और कमाए हुए सत्यो की प्रस्तुति के प्रभावपूर्ण मच बन गये है ।"[60]

सही मायनो में देखा जाय तो ग्राम-जीवन सबधी औपन्यासिक धारा के पीछे भी ठीक उसी तरह के तर्कसगत कारण नजर आते हैं, जिस तरह के कारणों के चलते प्रेमचन्द अपने समकालीनों के साथ ग्रामभित्तिक साहित्य की रचना कर सके थे । "यदि प्रेमचन्द का गाँव की ओर उन्मुख होना गॉधीवाद से प्रेरित था तो परवर्ती उपन्यासकारो को उसकी ओर उन्मुख होना देश की राजनीतिक स्वतत्रता और प्रजातत्रात्मक विधान की स्थापना का परिणाम था ।"[61]

ग्राम-जीवन एव ग्रामीण जन को साहित्य का विषय बनाने की प्रेमचन्दोत्तर काल मे लुप्तप्राय हो चुकी परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय नागार्जुन को जाता है । इसके चलते "नागार्जुन को प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है ।"[62] स्वातंत्र्योत्तर काल मे नागार्जुन- 'रतिनाथ की चाची' {1948} द्वारा पुर्नप्रवाहित की गई इस धारा का सफर भगवानदास मोरवाल - 'काला पहाड़' {2000} तक अनवरत जारी मिलता है, बीच के अवरोधों को पार करता हुआ । इन उपन्यासकारों ने नेपाल से लेकर केरल और असम से लेकर कश्मीर तक व्यापक भूखण्ड में फैले ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों का अकन किया है । इन उपन्यासकारों में नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, फणीश्वरनाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, श्रीलाल शुक्ल, हिमांशु श्रीवास्तव, बलभद्र ठाकुर, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी, रामदरश मिश्र, राही मासूम रजा, विवेकी राय, गोविन्द मिश्र, जगदीश चन्द्र, मिथिलेश्वर, द्रोणवीर कोहली, हरगुलाल, पकज विष्ट, प्रभा खेतान, वीरेन्द्र जैन, मैत्रेयी पुष्पा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : ग्राम कथा

भारत की जनसख्या का एक बड़ा - बहुत बड़ा हिस्सा - ग्रामवासी है । स्वतत्र भारत के हिन्दी उपन्यास साहित्य मे इन गॉवो तथा इनके निवासियों का त्रिणण प्रमुख विषय के रूप मे हुआ है । अनेक स्वातत्र्योत्तर युग के कथाकारो ने ग्रामभित्तिक उपन्यास साहित्य को समृद्ध किया है । कुछ उपन्यासकारो के यहॉ 'ग्राम-कथा' कथा का प्रतिवाद्य ही रहा है तो कुछ ने इनका आशिक स्पर्श किया है । इन दूसरे वर्ग के उपन्यासों मे गॉव या ग्राम-सन्दर्भ प्रकारान्तर से आया है ।

आंशिक स्पर्श के उपन्यास

चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'उदयास्त' (1958) मे गॉव और शहर के किसान और मजदूरों तथा शरणार्थियों के जीवन सघर्ष क्रम मे मौजूदा शासन की असफलताओं के साथ गॉव के जीवन के चित्र मिलते है ।

राहुल साकृत्यायन के उपन्यास 'जीने के लिए' (1950) मे रामपुर गॉव के बाल-अनाथ देवराज की समूची जीवनगाथा वास्तव में दुनिया में जीने के लिए असामाजिक तत्वों के विरूद्ध सघर्ष की कथा है । इस सघर्ष के आलोक में राहुल जी ने ग्राम-जीवन को प्रकाशित कराने का प्रयास किया है।

आचार्य शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' (1925) हिन्दी की प्रारम्भिक आंचलिक कृति के रूप में चर्चा में आती है जिसमे देहाती जीवन के चित्र उपलब्ध होते हैं ।

भगवती प्रसाद वाजपेई ने अपनी दो औपन्यासिक कृतियों 'पतवार' (1952) तथा 'भूदान' में ग्राम-जीवन के चित्र उकेरे हैं, जिनमें प्रथम गाँधीवादी विचारधारा से अनुप्रमाणित है तथा दूसरी ने अपनी संज्ञा के अनुरूप विनोबा जी के भूदान आन्दोलन को कथानक का विषय बनाया है ।

भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' {1959} मे यद्यपि कथा का ढर्रा कुछ और ही है परन्तु प्रकारान्तर से कथा-धारा के बहाव-क्रम मे लघुद्वीप की भाति ग्राम-जीवन अस्तित्ववान हो उठा है । महत्वपूर्ण यह भी है कि उपन्यासों मे लोकभाषा की विधिवत प्रयोग-प्रतिष्ठा इसी उपन्यास से आरम्भ होती है ।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विनाश के बादल' यद्यपि भारत-चीन सीमा सघर्ष की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है परन्तु ग्राम-जीवन के चित्र फलक पर आशिक रूप से अकित है ।

यशपाल के 'मनुष्य के रूप' {1949} की प्रमुख पात्र सीमा के जीवन-सघर्ष को कथा-रूप देने मे सीमा के गॉव के चित्रण के चलते ग्रामीण परिवेश कथा मे उपस्थित हुआ है ।

यशपाल के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा सच' {1958} का आधार यद्यपि विभाजन की त्रासदी है परन्तु बँटवारे के लोमहर्षक सन्दर्भों में लोकजीवन भी मुखर हुआ है ।

गोविन्द वल्लभ पत के चार उपन्यासों 'प्रगति की राह' {1948}, 'जल समाधि' {1953}, 'फारगेट मी नाट' {1956} तथा 'कागज की नाव' {1960} में ग्राम-जीवन को विषय बनाकर कथा की प्रस्तुति हुई है ।

ग्रामांकन संबंधी मुख्य उपन्यास

बुन्देलखण्ड अचल के जन-जीवन को विषय बनाकर औपन्यासिक सर्जना करने वाले, प्रेमचन्द की परंपरा में परिगणित डॉ. वृन्दावन ला वर्मा के अनेक उपन्यासों में ग्राम-जीवन के दर्शन होते है ।

स्वातंत्र्योत्तर भूमि-सुधार को विषय बनाकर लिखा गया उपन्यास 'अमरबेल' {1953} डॉ. वर्मा का ऐसा उपन्यास है जिसका आरम्भ जमींदारी उन्मूलन की आहट से होता है । जमींदारी उन्मूलन के बाद सरकारी तन्त्र की सहायता से गाँव में सहकारी खेती का प्रयोग-प्रयास होता है, जो सफल भी होता है । पूरा उपन्यास ग्राम-जीवन संदर्भों को ही आत्मसात किये हुए अपनी यात्रा पूरी करता है ।

वर्मा जी के अन्य उपन्यास 'उदय किरण' {1960} मे आदर्शोन्मुख यथार्थ दृष्टि को अपनाकर कथा कही गई है । गॉव मे सहकारी खेती, पचायत, पाठशला तथा चिकित्सालय आदि सफलतापूर्वक कार्य करते है । उपर्युक्त दोनों उपन्यासो मे चित्रित ग्राम-जीवनगत परिस्थितियॉ आदर्शवादी-आशावादी चश्मे से देखी गई है । वृन्दावन लाल वर्मा के अन्य ग्राम-जीवन अकन सबधी उपन्यास 'कभी न कभी' {1945}, 'कचनार' {1948}, 'अचल मेरा कोई' {1948} और 'मृगनयनी' {1958} है ।

उदयशकर भट्ट जी के उपन्यासो 'सागर लहरे और मनुष्य' {1956}, 'लोक-परलोक' {1958}, 'शेष-अशेष' {1960} तथा 'दो अध्याय' {1962} मे ग्राम-जीवन का अंकन हुआ है, परन्तु कथाकार की सर्वाधिक चर्चित कृति 'सागर लहरे और मनुष्य' ही है । जिसमे मुम्बई के पास के एक गॉव बरसोवा तथा वहॉ के मछुआरों के जीवन-सघर्ष को चित्रित किया गया है । कथाकार ने कृति मे गॉव की नगरोन्मुखता को ग्रामबाला रत्ना के माध्यम से प्रस्तुत किया है जो आजीवन गाँव और नगर के दो विरोधी छोरों पर झूलती रहती है । नायिका रत्ना नगराकर्षण के व्यामोह में फँसकर टूटती है और उसकी मृगमरीचिका में भटकने के बाद अपने ग्राम के महत्व को पहचानकर पुनः ग्राम-जीवन को अपना लेती है ।

देवेन्द्र सत्यार्थी के प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास 'ब्रम्हपुत्र' {1956} को महाकाव्यात्मक उपन्यास का दर्जा प्राप्त है । कथा की शुरुवात पराधीनता युग, और राष्ट्रीय आन्दोलन से होती है । कथा क्रमिक विकास-सोपानों को लॉघती हुई गॉधी युग, स्वाधीनता प्राप्ति से लेकन वर्तमान मोहभंग तक आती है । राष्ट्रीय क्राति के केन्द्र के रूप में एक गाँव को चित्रित किया गया है जो भारत का प्रतीक है । इस क्रांति में गॉव का हर वर्ग-समुदाय समान रूप से सम्मिलित है । नदी, गॉव और सम्पूर्ण संबंधित क्षेत्र भावना के रंग में रंगा हुआ प्रस्तुति पाता है ।

सत्यार्थी जी के अन्य उपन्यासों 'दूधगाछ', 'रथ के पहिये', 'कठपुतली' आदि में भी ग्राम-जीवन का अकन हुआ है ।

सामाजिक यथार्थ को आचलिक परिप्रेक्ष्य मे अकित करने वाले उपन्यासकारो मे नागार्जुन का नाम प्रथम उल्लेखनीय है । उनके द्वारा बिहार प्रात के एक विशेष ग्रामाचल के कोटि-कोटि मूक मनुष्यो को वाणी प्रदान की गई है ।

'बलचनमा' {1952} बिहार के दरभगा जिले के एक गॉव तथा उसके जमींदार-भूस्वामी की सेवा में पीढियों से लगे 'बहिया' बलचनमा की कहानी है । अत्याचारी-कामुक जमींदार के चरवाहे के रुप मे जीवन प्रारम्भ करने वाला बालचन्द्र-बलचनमा, फूल बाबू की कृपा से पटना से साक्षात्कार करता है और फिर 'कमीन' परिवार का यह निरीह बालक कांग्रेस का स्वयसेवक बनकर 'मालिक-मजदूर' सघर्ष मे मजबूती से देह अड़ा देता है । भूपतियों के शोषण, अत्याचार तथा लम्पटता के साथ-साथ गॉव के गरीब-मजदूर लोगो की बेबस जिन्दगी पर नागार्जुन ने भावनापूर्ण दृष्टि से निगाह डाली है ।

लेखक के अन्य ग्रामचिन्तिक उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' {1954}, 'दुःखमोचन' {1957}, 'बरुण के बेटे' {1966}, 'नई पौध' {1967} और 'इमरतिया' {1968} आलोच्य विषय की दृष्टि से पर्याप्त महत्व के है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'पत्थर-अल-पत्थर' के रुप में एक आचलिक उपन्यास का प्रणयन किया है । उपन्यास में कश्मीर के एक गाँव परहेजपुर के दीन-हीन किसानो के साथ शोषक समाज-व्यवस्था तथा मानवताभोगी पुलिस प्रशासन का चित्रण किया गया है ।

अमृतलाल नागर ने बगाल के अकाल का ग्रामभूमि पर अकन करते हुए 'महाकाल' {1947} की रचना की । कथा में ग्राम-संदर्भों में अत्याचार, अमानवीयता तथा कर्तव्य के परस्पर विरोधी रगों के बीच धधकती 'पेट की आग' की ज्वाला के रग उभर कर सामने आये हैं ।

यज्ञदत्त शर्मा का नाम ग्राम-जीवन को मार्मिकता के साथ अंकित करने वाले उपन्यासकारों में लिया जाता है । उनके कई उपन्यासों यथा 'इंसान' {1951}, 'अंतिम चरण' {1952}, 'निर्माण पथ' {1953}, 'बदलती राहें' {1954}, 'महल और मकान', 'बाप-बेटी', 'झुनिया की शादी', 'दो पहलू' और 'इंसाफ'में स्वतत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत के ग्राम-जीवन के अनेक रंग उभरे हैं ।

भैरव प्रसाद गुप्त जी ने समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हो ग्राम-जीवन संबधी अनेक उपन्यासो की रचना की है जिनमे सामाजिक अन्तर्विरोधों का ग्राम-स्तर पर प्रभावशाली चित्रण है । गुप्त जी ने 'मशाल' {1951} मे श्रमिक वर्ग की समस्याओ को उठाया है । 'गगा मैया' {1953} मे स्वतत्रता पूर्व युग की पृष्ठभूमि पर बलिया जिले के एक गॉव के किसान-जमींदार सघर्ष को साम्यवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में अकित किया है । 'सती मैया का चौरा' {1959} में पराधीनता युग से लेकर स्वतत्रता सघर्ष, जमींदारी उन्मूलन और स्वाधीन भारत की परिवर्तित परिस्थितियो का विशाल फलक पर चित्रण किया गया है । गुप्त जी का 'जजीरें और नया आदमी' {1956} अँग्रेजी राज के शोषण चक्र तले पिसते उपेक्षित-उजड़े ग्राम-जीवन की करूण गाथा है और 'धरती' में गॉव से कटकर नगरवासी हो चुके व्यक्ति की कहानी के बहाने ग्राम-जीवन और धरती के प्रति नया प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरा है ।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के प्रथम उपन्यास 'मैला आँचल' {1954} के साथ हिन्दी उपन्यास के नये युग का प्रारम्भ होता है । रेणु ने अपने इस नया मोड़ उपस्थित कर देने वाले उपन्यास मे स्वतत्रता से थोड़ा पहले के सक्रांतिकालीन ग्रामीण लोक मानस का तटस्थ विश्लेषणपरक अंकन अत्यन्त आत्मीयता के साथ किया है । बिहार के पूर्णिया जिले के सर्वाधिक पिछड़े 'मेरीगज' को आधार बनाकर गाँवों के पिछड़ेपन, दलबन्दी, विघटन, गिरावट, अन्तर्विरोध, नवचेतना, अवमूल्यन का बहुमुखी दौर, विद्रोह, नैतिकता के उखड़ते शिविर, बेदखली, हलचल और स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही गाँव की सामाजिकता और सहधर्मिता की ढहती हुई दीवारों को सशक्त भाषा में प्रस्तुत किया गया है । गाँव अपने पूरे अवयवों के साथ इस उपन्यास में चित्रित मिलता है उसमें 'धूल भी है, फूल भी कीचड़ भी है कमल भी' लेखक किसी से दामन बचाकर निकल नहीं सका है ।[63] शहर 'पटनिया रोग' के रूप में यहाँ बार-बार आता है ।

रेणु के अगले उपन्यास 'परती परिकथा' {1957} का अंकन भी ग्रामीण पृष्ठभूमि पर हुआ है। यह रेणु की नई कल्पनाओं और नये सपनों का परिणाम है । यहाँ भी कहानी पूर्णिया जिले के एक अपेक्षाकृत विकसित गाँव परानपुर की सैकड़ों एकड़ परती जमीन की पीड़ा को शब्द देते हुए आगे बढ़ती है । पूरी कथा में बन्ध्या धरती के साथ-साथ पूरा ग्रामांचल अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रकाशित होता चलता है । उपन्यास की बड़ी विशेषता जमींदार जितेन्द्र के चरित्र के चलते उभरकर

सामने आती है जो जमींदारों के मुकाबले पूरी तरह शुभावह रूप मे चित्रित होता है । जिसमे प्रगतिशील और नवविकसित ग्राम-चेतना है । चरित्र का यह विकास शहर की शुभ देनो मे से एक है ।

रेणु के 'जुलूस' (1965) मे एक नई तरह की आचलिकता के दर्शन होते हैं । स्वतंत्रता के बाद पूर्वी बगाल के बांग्लादेश हो जाने पर वहाँ के विस्थापित हिन्दुओ को पूर्णिया के गोड़िहार गॉव के निकट कालोनी बनाकर बसाया जाता है । ये कालोनीवासी गॉव वालों से स्वय को नितान्त भिन्न समझते है । स्वय को बगाली और पुरानें गॉव वालो को हिन्दुस्तानी मानकर उनसे मिलने-जुलने से सख्त परहेज करते है । 'नोबीनगर' और 'गोड़िहार' की सास्कृतिक टकराहट के चलते ग्रामीण जन-मन की अनेक बाते उभर कर सामने आ सकी है ।

उदयराज सिह प्रणीत दो उपन्यासो 'भूदानी सोनिया' (1957) तथा 'अधेरे के विरूद्ध' (1970) मे ग्राम-जीवन का चित्रण किया गया है । प्रथम में राजनीतिक पाखड को वर्ण्य विषय बनाया गया है और द्वितीय मे इस समय तक आ चुके ग्रामीण परिवेश के परिवर्तन का समग्र तथा यथार्थ चित्रण किया गया है । इस प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण में बसन्तपुर गॉव को केन्द्र बनाकर ग्राम्य स्तर के राजनीतिक दॉव-पेंच, पचायत चुनाव, बिखराव, टूटन, मतलबपरस्ती, लूट और भ्रष्टाचार के चतुर्दिक व्याप्त विषैले वातावरण मे छटपटाती बेवस ग्रामीण जिन्दगी का सफलतापूर्वक अकन हुआ है।

ग्राम-जीवन की आधुनिकता से टकराहट तथा परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को खूबसूरती से उपन्यासों में अकित करने वालों में रामदरश मिश्र जी का नाम आदर से लिया जाता है । 'पानी के प्राचीर' (1961) में मिश्र जी ने स्वतत्रता पूर्व के ढ्ाई दशक से लेकर स्वतत्रता प्राप्ति तक की घटनाओं को ग्राम सन्दर्भों में व्यक्त किया है । कथानायक नीरज परतंत्रता की बेबस जिन्दगी के बाद स्वतत्रतागम पर आशा-उल्लास से भर उठता है ।

मिश्र जी के अगले उपन्यास 'जल टूटता हुआ' (1969) की कड़ियाँ 'पानी के प्राचीर' से जुड़ी हुई हैं जिसमें यह भावना थी कि पानी के ये प्राचीर स्वतत्रता के बाद टूट जायेंगे तथा इन प्राचीरों में कैद जिन्दगी उन्मुक्त होगी जिसमें जन-मानस खुली हवा में सांस ले सकेगा । लेकिन

स्वाधीनोत्तर आशावादिता अन्ततः भग हो जाती है और मोहभग की इस मार्मिक अनुभूति को लेखक अत्यन्त कुशलता के साथ उपन्यास मे चित्रित कर देता है ।

अमरकान्त अपनी 'ग्राम सेविका' {1962} के माध्यम से स्वतत्रता परवर्ती ग्राम-जीवन के आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनो को रूपायित करते है । जिसमे कथानायिका रूढियों, परम्पराओ तथा सामाजिक वर्जनाओं से निरन्तर जूझती हुई अन्तत· सफल होती है ।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'रीछ' {1967} मे चॉदसी गॉव के विमल की कहानी के माध्यम से आन्तरिक स्तर पर हुए लोक-मानस के परिवर्तनों का आकलन किया है । उपन्यास का नायक विमल शहर तथा गॉव के दो छोरों के बीच अपनी जिन्दगी जीता है । शिक्षार्थ वह नगर जाता है तथा समाज-सेवा की भावना उसे गॉव खींचती है । गॉव की प्रतिगामी शक्तियॉ, पूँजीपति, महाजन, जमींदार, मुखिया सबके सब 'रीछ' है जिनके विरोध मे विमल का संघर्ष चित्रित हुआ है ।

व्यंग शैली में लिखे गये श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' {1969} का अपना विशिष्ट स्थान है । शिवपाल गज गॉव की गंदी राजनीति, वहॉ के स्कूल मे व्याप्त धाँधलेगर्दी तथा मूल्यहीनता को कथाकार ने खूब रस ले-ले कर चित्रित किया है । इस 'शिवपाल गज' के बहाने लेखक ने दिखाया है कि ''सम्पूर्ण देश एक ऐसा गॉव हो गया है जहाँ धरती का रस सूख गया है ।''[64] लेखक ने 'गजहों' के बहाने से स्वातत्र्योत्तर भारतीय जन के भ्रष्ट, लम्पट, मूल्यहीन हो चुके आकठ स्वार्थपरता में डूबे रूप को चित्रित किया है । उपन्यास में ग्रामीण सन्दर्भों में राजनीतिक बकवादी 'गंजहे', नाना प्रकार की लूट-खसोट की कोलकाता से शिक्षा लेकर आये ग्राण्टखोर कालिका प्रसाद, जोगनाथ जैसे शराबी, जुंआरी और राहजन, रुप्पन जैसे छात्रनेता, रंगनाथ जैसे फ्रस्टेटेड रिसर्च स्कॉलर, भ्रष्ट थानेदार, मैनेजर, प्रिंसिपल, सुपरवाइजर, दलाल, पहलवान और स्कूल मास्टर अपने पूरे छल-बल के साथ उपस्थित हैं । 'राग दरबारी' के प्रकाश में सारे भारत को देखा जाय तो लगता है कि पूरा देश एक 'शिवपालगज' हो गया है ।

शुक्ल जी के सद्यः प्रकाशित 'विस्रामपुर का सन्त' {1998} की कड़ियाँ भी गाँव से जुड़ी हैं जिसमें राजनीतिक छल प्रपंच के साथ शोषण एवं अनाचार को कथा का विषय बनाकर प्रस्तुत

किया गया है । 'विस्रामपुर का सन्त' के नायक कुवर साहब के सपने, प्रेम के प्रति निष्ठा और उनकी आत्महत्या, ग्राम-मन का प्रतीकात्मक अकन है ।

'अलग-अलग वैतरणी' (1967) मे डॉ. शिवप्रसाद सिह ने 'करैता' के माध्यम से ग्राम-जीवन के जीवन्त रूप को प्रतिष्ठित किया है । उपन्यास मे किसी व्यक्ति विशेष की कहानी न होकर पूरे गॉव करैता की कहानी कही गई है । स्वतत्रता के पश्चात गॉवों में आये अधोमुखी परिवर्तन को कथाकार ने मर्मभरी प्रस्तुति प्रदान की है । 'परती: परिकथा' के जमींदार-पुत्र जितेन्द्र की तरह जमींदार-सुत विपिन नगर से पढ़ाई समाप्त कर गॉव वापस लौटता है तथा डॉक्टर देवनाथ और मास्टर शशिकान्त के सहायोग से गॉव को सुगढ़ स्वरूप प्रदान करने के सपने देखता है । परन्तु असफल हो जाता है और गॉव में रह जाती है अन्तहीन नारकीय घुटन, विषैली मतलब परस्तता और सड़ी नैतिकता । गॉव इस कदर टूट जाता है, उसका परिवेश इतना भीषण हो जाता है कि कोई भी मन से गाँव में रहना नहीं चाहता । यहाँ वही रहते है जिनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है, जो रहने को मजबूर है । गॉव छोड़ने की विवशताजन्य पीड़ा के साथ विपिन नगरवासी हो जाता है और इसी के साथ गॉव की सारी सभावनाए समाप्त हो जाती हैं ।

आचलिक उपन्यासकारों में राजेन्द्र अवस्थी जी का नाम अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अवस्थी जी ने अपने कई उपन्यासों में जन-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है । 'सूरज किरण की छॉह' (1959) में कालपी-चित्रकूट के आदिवासी जीवन, 'जगल के फूल' (1960) में मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के आदिवासी, तथा 'जाने कितनी आँखें' (1969) में बुन्देलखण्ड के जन-जीवन का चित्रण किया गया है।

कूर्मांचल के पार्श्ववर्ती पहाड़ी जीवन तथा पहाड़ी-ग्राम निवासियों की सहज मानस छवि शैलेश मटियानी ने 'चिट्ठी रसैन' (1961) मे तथा अल्मोड़ा की पहाड़ी जिन्दगी तथा गाँवों को 'चौथी मुट्ठी' (1961) व 'हौलदार' (1961) में चित्रित किया है । 'हौलदार' में उपन्यासकार ने डूगर सिंह हौलदार से कथा का आरम्भ करके पूरे गाँव की कहानी को वाणी प्रदान की है ।

सुरेन्द्रपाल ने 'लोकलाज खोई' (1963) मे हवलदारिन भौजी की कथा के साथ जैनाथपुर गॉव के नर-नारी, बी.डी.ओ., ग्राम सेवक और चमटोल के साथ ग्राम विकास का कागजी रूप और गॉव के सन्दर्भ मे आत्माभिमान की गिरावट का जीवन्त चित्रण हुआ है ।

मध्यप्रदेश के आदिवासी बहुल जिले बस्तर मे सड़क के किनारे बसे एक छोटे से गाँव को कथा का आधार बनाकर शानी ने 'कस्तूरी' की रचना की है । उपन्यास की कथा मे चाय की दुकान की युवती डोली, उसकी मॉ, ट्रक ड्राइवरो, शराब-अफीम की तस्करी तथा भीड़-भाड़ के साथ आदिवासियो के जीवन मे नागरिक सम्पर्क के प्रभाव स्वरुप हुए परिवर्तन को सूक्ष्मता से अकित किया गया है ।

आचलिक कथाकारो मे एक उल्लेखनीय नाम मधुकर गगाधर का है । जिनके प्रथम उपन्यास 'मोतियों वाले हाथ' (1963) में पटना के पार्श्व में बनी विस्थापितों की कालोनी जसवन्तनगर के साथ गॉव तक फैलते नगरो तथा उससे प्रभावित ग्राम-समाज का चित्रण किया गया है ।

मधुकर गगाधर के दूसरे उपन्यास 'फिर से कहो' (1964) मे पतनशील कृषि सस्कृति का चित्रण है । सोनारी गॉव का हलवाहा एतवारी अपने मालिक की सेवा में अपनी पूरी उम्र खपा देता है और अन्ततः कभी न उठने के लिए गिर पड़ता है ।

हिमांशु श्रीवास्तव ने 'नदी फिर बह चली' (1961) की रचना मुंशी प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी विचारधारा के अनुरूप की है जिसमें बिहार के छपरा अचल के सपूर्ण ग्राम-परिवेश को आधार बनाकर गॉव के गरीबों की उपेक्षित जिन्दगी तथा इस स्थिति में स्वातत्र्योत्तर अपरिवर्तनशीलता का मार्मिक आलेखन हुआ है ।

रामकुमार भ्रमर ने 'तीसरा पत्थर' (1969) में चंबल क्षेत्र की दस्यु-समस्या तथा 'कांचघर' (1971) में महाराष्ट्र के आचलिक रंग को उभारा है । 'कांचघर' महाराष्ट्र के आंचलिक जन-जीवन को अनुरंजित करने वाले लोकनाट्य 'तमाशा' पर आधारित है ।

उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र को कथा के लिए चुनकर गॉव के बदले हुए यथार्थ का चित्रण डॉ. विवेकी रॉय ने अपने उपन्यासो मे किया है । जिनमे 1942 के 'भारत छोड़ों आन्दोलन' से लेकर लगभग आधी सदी का समय पूर्वांचल की धड़कनों के रेशे-रेशे के साथ मौजूद है । उनके 'श्वेतपत्र' मे बयालीस का आन्दोलन ग्राम सन्दर्भों को आत्मसात किए हुए पूरे प्रामाणिक रूप मे मौजूद है । 'लोकऋण' का गॉव स्वतत्रता के बाद का बदला हुआ आधुनिक गॉव है जो मानव मूल्यो पर आधारित ग्राम-सस्कृति से च्युत होकर आधुनिक अपसस्कृति के अजगर के गुजलक मे छटपटा रहा है।

'सोनामाटी' (1997) मे पूर्वांचल के 'करइल' क्षेत्र की स्वर्णमयी फसलों के सौन्दर्य के साथ-साथ वहॉ के ग्राम-समारोहों, पर्व-त्योहारों, लोक-परम्पराओ और सास्कृतिक मूल्यो के साथ ही ग्रामीण क्षेत्र में आ रहे मूल्य-स्खलन का जीवन्त चित्रण है, जो लोकतंत्र - असफल लोकतत्र - तथा पूँजीवाद की दुरभिसन्धि का परिणाम है ।

'समर शेष है' की कथा दीर्घ काल तक अन्याय और शोषण सहते रहने के बाद उसके खिलाफ तनकर खड़े होजाने वाले छोटे किसानो तथा उन्हें नेतृत्व प्रदान करने वाले मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी क्रातिकारयों की है ।

1962 के चीनी आक्रमण तथा उसके भारतीय मानस पर प्रभाव को आधार बनाकर विवेकी रॉय जी ने 'मंगल भवन' की रचना की है जिसमें वर्तमान गाँवों के बिखर रहे परम्परागत रिश्तो, जर्जर हो चुके पुराने मूल्यों तथा सत्तालोलुप राजनेताओं के घृणित चेहरों की कुरूपता के साथ अस्त-व्यस्त व दिशाहीन भारतीय ग्रामीण जिन्दगी को कई पहलुओं से चित्रित किया गया है ।

महिला उपन्यासकारों में ग्राम-जीवन का एक खास परिप्रेक्ष्य में अंकन करने वाली मैत्रेयी पुष्पा हैं । जिनके उपन्यासों 'इदन्नमम' (1996), 'चाक' (1997), 'अल्मा कबूतरी' (2000) तथा 'झूलानट' में स्त्री-संघर्ष के क्रम में ग्राम-जीवन की कथा उभरकर सामने आई है । इस दृष्टि से मन्नू भंडारी तथा कृष्णा सोबती का नाम भी उल्लेखनीय है ।

अन्य ग्राम-गथी उपन्यासो में हर गुलाल का 'भीतरी कुऑ' {1974}, मनोहर श्याम जोशी जी का 'कसप' {1995}, पकज विष्ट जी का 'उस चिड़िया का नाम' {1989}, असगर वजाहत का 'सात आसमान' {1996}, 'यह अत नहीं' {2001} मिथिलेश्वर और 'डूब' {वीरेन्द्र जैन, 1991} आदि के नाम भी उल्लेखनीय है ।

सन्दर्भ

1 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - डॉ. विवेकी रॉय, पृष्ठ 18

2 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - डॉ. विवेकी रॉय, पृष्ठ 17

3 'नयी कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 9

4 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 19

5 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - डॉ. विवेकी रॉय, पृष्ठ 19

6 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - डॉ. विवेकी रॉय, पृष्ठ 19

7 'मैला ऑचल . देहाती जीवन का काव्यात्मक और सवेदनशील अकन' - नेमिचन्द जैन, सकलित, 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' सम्पादक - भीष्म साहनी एव अन्य, पृष्ठ 503

8 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' - डॉ. नगेन्द्र (स.), पृष्ठ 22

9 'बदलते परिप्रेक्ष्य' - नेमिचन्द जैन, पृष्ठ 13

10 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - डॉ. विवेकी रॉय, पृष्ठ 20-21

11 'हिन्दी उपन्यास . स्वातन्त्र्य सघर्ष के विविध आयाम' - डी.डी.तिवारी, पृष्ठ 65

12 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' - आचार्य प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 193

13 'प्रेमचन्द घर मे' - शिवरानी देवी, पृष्ठ 59

14 'हिन्दी उपन्यास' - डॉ. सुरेश सिन्हा, पृष्ठ 139

15 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' - डॉ. त्रिभुवन सिह, पृष्ठ 97

16 'हिन्दी उपन्यास . उपलब्धियॉ, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 15

17 'प्रेमचन्द : विविध प्रसग' भाग तीन - अमृत रॉय, पृष्ठ 33

18 'हिन्दी उपन्यास . स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम' - डी.डी.तिवारी, पृष्ठ 68

19 'प्रेमचन्द और उनका युग' - डॉ. राम विलास शर्मा, पृष्ठ 121

20 'प्रेमचन्द और उनका युग' - डॉ. राम विलास शर्मा, पृष्ठ 128

21 'शिवशभु के चिट्ठे' - बालमुकुन्द गुप्त

22 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' - नन्ददुलारे वाजपेई, पृष्ठ 135

23 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा' - डॉ. मक्खन लाल शर्मा, पृष्ठ 266

24 'इतिहास और आलोचना' - डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ 34

25 'बीसवीं शताब्दी : हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ' - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 249

26 'प्रेमचन्द : विविध प्रसंग', भाग तीन - अमृत रॉय, पृष्ठ 244

27 'प्रेमचन्द . जीवन और कृतित्व' - हसराज रहबर, पृष्ठ 166

28 'प्रेमचन्द घर मे' - शिवरानी देवी, पृष्ठ 95

29 'प्रेमचन्द घर मे' - शिवरानी देवी, पृष्ठ 95

30 'हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास' - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 165

31 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 134

32 'निशिकान्त' - विष्णु प्रभाकर, दो शब्द, भूमिका

33 'प्रेमचन्द : विविध प्रसग', भाग तीन - अमृत रॉय, पृष्ठ 394

34 'राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य' - रामेश्वर शर्मा, पृष्ठ 51

35 'पार्टी कामरेड' - यशपाल, पृष्ठ 5

36 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 134

37 'रगभूमि' भाग दो - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 133

38 'रगभूमि' भाग दो - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 62

39 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 133

40 'चढ़ती धूप' - रामेश्वर शुक्ल 'अचल', भूमिका, पृष्ठ 4

41 'मैला आंचल . देहाती जीवन का काव्यात्मक और सवेदनशील अंकन' - नेमिचन्द जैन, सकलित - 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' - भीष्म साहनी एव अन्य {सम्पादक}, पृष्ठ 503

42 'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचन्द जैन, पृष्ठ 2

43 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' - एन.सी.ई.आर.टी., पृष्ठ 128

44 'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचन्द जैन, पृष्ठ 6

45 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 420

46 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 161

47 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 32

48 'छायावाद' - नामवर सिंह, पृष्ठ 52

49 'छायावाद' - नामवर सिह, पृष्ठ 58

50 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 18

51 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 128

52 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 420

53 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 36

54 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 19

55 'हस' - जनवरी 1999, पृष्ठ 130, लेख - 'नागार्जुन के उपन्यास · ग्राम-जीवन के अर्द्ध विराम' - विजय मोहन सिह

56 'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचन्द जैन, पृष्ठ 33

''यह अनिवार्य ही था कि शहरी जीवन की कुठा और घुटन से उकताने पर नए साहित्यकार गॉवों के अपेक्षाकृत सहज और अकृतिम जीवन के प्रति झुकते, अथवा उसमे रस और सुन्दरता की खोज करते । क्योकि चाहे जिन कारणों से सही, आज के शहरी जीवन को, विशेषकर मध्यवर्गीय शहरी जीवन की एकरसता और आत्माभिमुखता को आप चाहे जैसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म सवेदनशील मन से परखे, उसमें जीवन के कवित्त के लिए अधिक स्थान नहीं । ऐसा उन्मुक्त खुला आसमान नहीं कि मन निर्बन्ध उड़ जाय और शिखरो की खोज कर सके । इसलिए यदि खुलेपन और सहज रस-स्रोत की खोज मे लेखक देहात के जीवन की ओर मुड़े तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं ।''

57 'प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर जीवन' - डॉ. उदयनारायण रॉय, पृष्ठ 1

58 'कहानी . नई कहानी' - नामवर सिह, पृष्ठ 22

59 'हिन्दी के आचलिक उपन्यासो में मूल्य सक्रमण' - डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, पृष्ठ 12

60 'हिन्दी के आचलिक उपन्यासो में मूल्य सक्रमण' - डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, पृष्ठ 12

61 'प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास', भाग पहला, यश गुलाटी, पृष्ठ 204

62 'प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास', भाग पहला, यश गुलाटी, पृष्ठ 154

63 'मैला ऑचल' - फणीश्वर नाथ रेणु, भूमिका

64 'धर्मयुग' 26 अप्रैल 1970, लेख - 'स्वातत्र्योत्तर भारतीय यथार्थ का दर्पण . राग दरबारी' - विवेकी रॉय

अध्याय - द्वितीय

स्वातंत्र्योत्तर भारतः आजादी से मोहभंग

{'कोई चिराग जलाओ बहुत अँधेरा है'}

ग्राम संदर्भ

जनसख्या और बसत के आधार पर भारत को दो वर्गों में रखकर देखा जा सकता है - ग्रामीण क्षेत्र और ग्रामीणेत्तर क्षेत्र । देश की बहुसख्यक आबादी गॉवों मे बसती है । आदिकाल से ही प्राचीन भारत के गॉव शताब्दियों तक गणतत्र की इकाई के रूप मे रहे है किन्तु इनका सुखी-समृद्ध होना ही मानो इनके लिए घातक हो गया और विदेशियो के जत्थे के जत्थे लुटेरे बनकर यहॉ आने लगे - आते रहे है । "परतत्रता के आते ही मुस्लिम काल एवं अगेजी काल मे विकृतियो से इनका स्वरूप उत्तरोत्तर बिगड़ता गया ।"[1] अग्रेजी काल आते-आते अग्रेजों के आर्थिक शोषण-चक्र मे पिसकर गॉव चूर-चूर हो गये । उनका आर्थिक स्परूप टूट कर बिखर गया । अग्रेजो ने गॉव के शोषण के निमित्त अपने दलाल - जमीदार, महाजन, मुखिया, पटवारी, थानेदार से लेकर चौकीदार तक नियुक्त कर रखे थे । यह वर्ग ग्राम जनो का जोंक की तरह खून पीता रहा । इनके "शोषण और उत्पीड़न की बुनियाद पर टिके गॉव की तकलीफों का एक लम्बा सिलसिला है ।"[2] बाढ़, सूखा, अकाल, अवर्षण, लगान, वसूली, कुर्की, बेदखली और बेगार के अनगिनत पाटों के बीच पिसते हुए कृषक के जीवन का सबसे बड़ा सच 'दुःख' होकर रह गया । महाप्राण निराला के शब्दो में कहें तो- "दुःख ही जीवन की कथा रही ।"[3]

"स्वतंत्रता हमारे देश और समाज की सबसे बड़ी घटना"[4] बनकर 15 अगस्त, 1947 को दिल्ली मे घटी और इस घटना का प्रभाव गॉवों में पड़ा । स्वाधीनोत्तर भारत मे क्रांतिकारी परिवर्तन हुए । पुरानी मान्यताएं टूटीं और नई मूल्य परम्परा विकसित हुईं । शिक्षा के प्रसार, नगरीय-सम्पर्क तथा राजनीतिक कारणों के चलते गाँवों में बहुआयामी परिवर्तन हुए "किन्तु ब्रिटिशकालीन भ्रष्ट नौकरशाही के चलते ग्राम-जीवन की हीनता आमूल उच्छिन्न नहीं हुई ।"[5] स्वतत्रता के अपेक्षित परिणाम नहीं मिले और इस न मिलने के पीछे आन्तरिक और बाह्य दोनों कारण विद्यमान थे । एक तरफ नए वैज्ञानिक उपकरण और जीवन के नए-नए साधन गाँव में पहुँच रहे थे और दूसरी ओर गाँव अपनी उन्हीं पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं के शिकंजे में बुरी तरह जकड़े हुए भी थे ।

स्वाधीनोत्तर गाँवों में जन-संचार की निरन्तर बढ़ती सुविधाओं, केन्द्र से लेकर गाँव तक, विभिन्न स्तरों पर सर्वव्यापी बालिग मताधिकार और स्वशासन का प्रारम्भ, आर्थिक कारणों के चलते

वर्ण व्यवस्था मे आई कुछ हद तक शिथिलता, शिक्षा की बढ़ती हुई लोकप्रियाता और सामुदायिक विकास योजना, इन सबसे गॉव वालो की आकॉक्षाए और धारणाए बदली है । अच्छी जिन्दगी की चाहना का प्रसार गॉवों तक हुआ है और नई पीढी अब अपने पूर्वजों की भाति रहने-जीने को तैयार नही है । गॉव आज अपने पूर्व मिजाज – छोटे-छोटे गणतत्रों एवं सहअस्तित्व की भावना से बहुत दूर है तथा निरन्तर नगरो की कृतिम जीवन-शैली के व्यामोह मे फॅसते जा रहे है । किसी समय इस देश मे 'ग्राम-देवता' की सज्ञा से अभिहित गॉंव आज सवर्णो-असवर्णो, भूपतियो-भूमिहीनो, शिक्षितो-अशिक्षितों, दकियानूसियों-प्रगतिशील और कुल मिलाकर कहे तो विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी गुटो के बीच सघर्ष के अखाड़े बने हुए है ।

आजादी मिलने के साथ ग्रामीणो ने अपनी ऑखों में सुखमय जीवन के कुछ स्पप्न सजाये थे । ग्रामीण, जिनमे किसान और खेतिहर मजदूर सभी सम्मिलित थे, ने सोचा था कि आजादी के बाद जमींदारों एव भूपतियों के साथ सरकारी अमलो का भी अत्याचार समाप्त हो जायेगा, उनके भी दिन फिरेगे, उन्हे खेती के लिए जमीन एव सिर छुपानें के लिए एक छत मिल जायेगी, शिक्षा, जीविका के साधन तथा स्वास्थ्य सुविधाएं, जिन पर अब तक बड़े लोगों का दबदबा कायम रहा, अब उन्हे भी मिलेंगी, कल तक घुड़कनें वाले सरकारी कर्मचारी उनकी सेवा के लिए होंगे और नेतृत्व उनके विकास में सन्नद्ध हो जायेगा । किन्तु सोचा हुआ सच नहीं हुआ । दशक बीतते-बीतते तमाम सपने टूटकर बिखर गये । विदेशी शासन और जमींदारी का अन्त तो हुआ, लेकिन नशासको का चरित्र बदला और न पूर्व जमींदारों का शोषण चक्र टूटा । "पुराने जमींदार भूमिपति और महाजन वेश बदल कर राजनीति में शामिल हो गये और संसद, विधान सभाओं और सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश कर आम जनता का पूर्ववत् शोषण करते रहे ।"[6] पुराने उत्पीड़न तो परिवर्तित वेश के साथ अपनी जगह कायम थे ही "जमींदारी उन्मूलन के बाद ग्रामांचल में कुछ नये सामतों का उदय हुआ ।"[7] ग्रामीणों ने देखा कि "सामंत नया हो या पुराना उसकी मानसिकता रूढ़िवादी और जन विरोधी ही है । दूसरों की भूमि और श्रम को हड़पनें की हवस ज्यों की त्यो है ।"[8] बदली हुई परिस्थितियों में इस शोषक वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए आपस में एक सगठन सा कायम कर लियाऔर प्रकारान्तर से, शोषण के काम में दूसरे की सहायता करने लगे । "जमींदारों और जागीरदारों ने अपनी शेष सत्ता फिर सगठित की । मुखियों और नंबरदारों का स्थान ग्राम पंचायत के पंचों और सरपंचों तथा सहकारी समितियों के पदाधिकारियों ने ले लिया ।"[9] आजाद गॉंवों की मर्म व्यथा का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं -

''जमींदार वर्ग क्षेत्रीय नेताओं मे तब्दील हो गया, जो बिक्री के लिए तैयार पदो का खरीददार था । पहले यही पद रक्त और वश की शुद्धता से प्राप्त होते थे अब ये टोपी और खादी के बल पर प्राप्त होने लगे और बहुत शीघ्र क्षेत्रीय नेताओं का छुटभैया वर्ग नये बुर्जुवा वर्ग मे तब्दील हो गया । इसी मे वह व्यापारी वर्ग भी आ मिला जो सदियो से सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए तड़प रहा था ।''[10] इस व्यवस्थामे सम्पन्न वर्ग और अधिक सम्पन्न हुआ है तथा गरीब की गरीबी लगातार बढ़ती गई है । शासन की मशीन का बाहरी स्वरुप तो बदला हुआ दिखाई देता है परन्तु पूर्जे वही है ।

महात्मा गॉधी का मानना था कि स्वतत्रता नीचे से आरम्भ होनी चाहिए और शायद यह उन्हीं का प्रभाव था कि नेहरु के नेतृत्व मे गठित पहली भारतीय सरकार ने ग्राम-विकास-हित अनेक योजनाए बनाईं । गॉंवों को देश की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए लम्बे-चौड़े वक्तव्य प्रकाशित हुए । लोगों को उन्नत जीवन के, खुशहाली के खूब सब्जबाग दिखाए गये और इसी भ्रामक आशावादिता के साथ पचवर्षीय योजनाओं की शुरुवात हुई । प्रथम पचवर्षीय योजना के सम्पूर्ण व्यय का लगभग एक तिहाई कृषि, सामुदायिक योजनाओं, सिचाई, बाढ़-नियत्रण आदि पर खर्च हुआ परन्तु गॉंवों के विकास का ढोल अधिक पीटे जाने के बीच वास्तविक विकास उद्योग, औद्योगिक क्षेत्रों और नगरों का ही हुआ। दूसरी योजना में पहली के मुकाबले कृषि-विकास पर खर्च घटाकर एक चौथाई कर दिया गया और उद्योग को प्राथमिकता दी गई । ग्राम पंचायतों, सहकारी-समितियों तथा शासन-शक्तियों के विकेन्द्रीकारण की बहुप्रचारित नीति के बाद भी गॉंवों का भला नहीं हुआ । तीसरी योजना में उद्योगों के विकास के साथ खाद्यानों में निर्भरता का लक्ष्य भी रखा गया परन्तु पलड़ा फिर औद्योगिक क्षेत्र का भारी रहा और योजना असफल रही । चौथी योजना कुछ कारणों वश समय से लागू न हो सकी और तय समय से तीन वर्ष बाद स्वीकृत हुई । जिसमें समाज के कमजोर तबकों, छोटी जोत वाले किसानों, भूमिहीन मजदूरों को लाभ पहुँचाने के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अधिकाधिक अवसर पैदा करना, ग्रामीण क्षेत्रों में आवागमन की सुविधा सुनिश्चित करना, भूमि विकास बैंकों की स्थापना, कृषि-वित्त निगम, कृषि-उद्योग निगम तथा ग्रामीण विद्युतीकरण जैसी बातों को लक्ष्य बनाया गया । पॉंचवी योजना के भी कमोवेश यही लक्ष्य थे और परिणाम भी वही-ढाक के तीन पात ।

1 अप्रैल सन् 1951 को लागू 2378 करोड़ की प्रथम पंचवर्षीय योजना से प्रारम्भ पंचवर्षीय योजनाओं का यह सफर 15,92,300 करोड़ की दसवीं पंचवर्षीय योजना तक बदस्तूर जारी है परन्तु

गॉव की स्थिति ज्यो की त्यो आज भी है । भूमि सबधी कानूनो की उलझन, चकबन्दी का भ्रष्टाचार और बाजार की लूट का वट वृक्ष, भ्रष्ट नौकरशाही की छत्र छाया मे बखूबी फल-फूल रहा है । व्यवस्था के नागफॉस ने गॉवो को पूर्व की ही भॉति जकड़ रखा है । शासन के विकास कार्यक्रमो को गॉव तक पहुॅचाने की जिम्मेदारी थामने वाले बी.डी.ओ. ने विकास के आधार धन की धारा अपने घर की ओर मोड़ रखी है । 'ग्राम-सेवक' जैसे पद पर बैठे लोग सिर्फ अपनी सेवा करते है और शायद ही कभी गॉवों तक जाने की जहमत उठाते हों । इस तथ्य को भारत के पूर्व प्रधानमत्री स्व. राजीव गॉधी ने अपने बबई के एक भाषण मे स्वीकारते हुए कहा था कि दिल्ली से चला एक रूपया गाँव तक पहुचते-पहुँचते 15 पैसे मात्र बचता है । वर्तमान प्रधानमत्री श्री अटल बिहारी बाजपेई की जानकारी मे यह 15 से घटकर 10 पैसे ही रह गया है । इस लूट की वास्तविकता से सभी परिचित है, परन्तु 'यक्ष प्रश्न' यही है कि बिल्ली के गले मे घटी बॉधे कौन ? हिन्दी के प्रख्यात ग़जलकार दुष्यन्त कुमार के शब्दो में - 'सूख जाती है तमाम नदियाँ यहॉ आते-आते हमको मालूम है कि पानी कहाँ ठहरा है ।' इस ठहरे हुए पानी को गतव्य तक पहुँचा सके फिलहाल ऐसी कोई शक्ति दिखलाई नहीं पड़ रही ।

देश के स्वाधीन होते ही नेतृवर्ग भ्रष्टाचार के दलदल में जा फँसा । उत्तरोत्तर इसकी जड़ें और गहरी होती गई । पदो की बन्दर बॉट, भाई-भतीजावाद, जैसी लोकतत्र विरोधी बातें देश के आजाद होते ही होने लगीं । देश के आर्थिक विकास और प्रगति की आड़ में सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञों ने लूट-खसोट का जो देशव्यापी धधा शुरू किया, आज वह अपने विकास के चरम पर है । सरकारें गरीबों के लिए आये दिन घोषणाओं पर घोषणाए करती रही हैं और सामान्य जन गरीबी, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार के पहाड़ के नीचे दबता चला जा रहा है ।

पचायतें भारत में वैदिक काल से लेकर ब्रिटिश काल तक ग्रामीण गणतंत्र की प्रतीक के रूप में कार्यरत थीं । गोरों की प्रशासन केन्द्रीकरण की नीति के चलते एक दीर्घ पारंपरिक इतिहास वाली ये पंचायतें नष्ट हो गई थीं और ब्रिटिश शासन के नष्ट होने के बाद प्रत्येक गाँव की, एक गणराज्य अथवा पंचायत राज के रूप में 'कल्पना' की गई । गाँधी जी पंचायतों की छाया में आदर्श ग्राम-निर्माण चाहते थे । ग्राम-जनतंत्र की प्रतीक पंचायतें सन् 1959 की गाँधी जयन्ती से प्रारम्भ हुईं । समय-समय पर 'पंचायत राज एक्ट' संशोधित होता रहा और कागजों पर इसकी ताकत बढ़ाने का ऐलान करते हुए शासक वर्ग अपनी उदारता पर अपनी पीठ थपथपाता रहा । इन पंचायतों ने

गॉव का कितना विकास किया है यह कोई छुपा तथ्य नही है । हाँ यह जरूर हुआ है कि सरपच के पद को लेकर गॉव मे सदियो से व्याप्त परस्पर भाईचारे और सहयोग की भावना का लोप हो गया । पचायत-चुनाव की सुई ने जातिवाद का जहर गाँव की नसो मे 'इजेक्ट' कर दिया है । गॉव की सीधी-समतल भूमि पर विकास के नाम पर बिछाये गये 'खडन्जों' ने लोगों के पैरों मे तो घाव किए ही है आत्मा भी लहूलुहान कर दी है । इस व्यवस्था के विद्रूप पर कमलेश्वर जी की टिप्पणी है - ''न्याय पचायतों का पच जातिवाद के कीड़े पैदा करने वाली लाश है ।''[11]

स्वातत्र्योत्तर भारत मे ग्रामोत्थान के प्रयास ज्यों-ज्यों बढ़ते गये त्यो-त्यों उनकी दशा बिगड़ती गई - 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यो-ज्यों दवा की ।' न्यूटन का गतिविषयक नियम है कि 'प्रत्येक क्रिया के विपरीत बराबर प्रतिक्रिया होती है ।' शायद यही कारण रहा हो कि शासन व्यवस्था गॉवों को ऊपर उठाने की जैसी जोर आजमाइश करती रही प्रतिक्रिया-स्वरूप गॉव उसी गति से अधोगति को प्राप्त होते रहे । स्वतत्रता की स्वर्ण जयन्ती मना चुकने के बाद, जैसा कि डॉ. हरदयाल लिखते है ''आज विकसित होते-होते गाँव उस सीमा तक पहुँच गया है जिस पर पहुँचने वाले का दम घुटने लगता है ।''[12] आज यदि गुप्त जी {मैथलीशरण गुप्त} गाँव को देखें तो कदाचित 'अहा ग्राम जीवन भी क्या है' जैसी पक्तियाँ लिखने के लिए अफ़सोस करे । ''सरकार की समूची विकास योजनाएं ग्रामोन्मुखी होकर भी वहाँ के अँधेरे को पराभूत करने में असमर्थ सिद्ध होती है । गाँव मे जकड़ा मायावी अन्धकार एक ओर से कटकर अनेक ओर से नई-नई शक्लों में उभर पड़ता है ।''[13] 'लोक' के कल्याणार्थ आया 'तंत्र' भ्रष्टाचार के दलदल में डूब गया और गाँव नरक बन गये । कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात आदि के क्षेत्रों का विकास बस नाम मात्र को ही हुआ । मैदानी इलाके बाढ़ और सूखे जैसी स्थितियों से अब भी जूझ रहे हैं । पर्वतीय अचल आज भी विकास की एक किरण के लिए तरस रहे हैं । चतुर्दिक नैराश्य का घोर अंधेरा है । गाँव पूर्ववत वैतरणी बने हुए है । मौजूदा हालातों ने गाँव के परम्परागत ढाँचे को बिखेर दिया है । ग्रामीण मूल्य पूरी तरह नष्ट हो गये हैं, सहअस्तित्व की भावना पर कायम ग्रामीण संस्कृति दरारों से भर गई हैं, ऐसे में गाँव का आदमी गाँव में अपने आप को असुरक्षित, असहाय और अकेला पा रहा है। वह गाँव छोड़कर भाग जाना चाहता है, किन्तु समस्या यह है कि वह जाये तो कहाँ । उसके सामने कोई विकल्प नही है । एक बहुत बड़ी जनसंख्या निराधार हो गई है, या हो रही है । इसकी जीविका का कोई निश्चित और स्थाई साधन नहीं रह गया है । गाँव के उद्योग-धंधे तो अग्रेजों ने ही चौपट कर डाले थे और कांग्रेस से लेकर राजग तक की सरकारों ने इनके लिए ठोस

कुछ भी नही किया । गरीबी, बेकारी, शोषण, उत्पीड़न, बीमारी, असमय बुढ़ापा और आपसी वैमनस्य की आग मे तमाम गॉव झुलस रहे है । पुरानी सड़ी जाति-व्यवस्था राजनीति की खाद पाकर पुनः पनप उठी है, जिसके चलते एक गॉव मे कई गाँव हो गये है । बिलगाव-बिखराव और बैर-विद्वेष की भावना अपने भीषणतम रूप को प्राप्त कर चुकी है । एकता पूरी तरह समाप्त हो चुकी है । मार-पीट, फौजदारी और मुकदमेबाजी का नया रोग गाँवों को लगा है जिसने 'चैता', 'कजरी', 'सावन', 'होरी', 'बिरहा', जैसे गीतों के रस सोख लिए है । इनके गाने वाले होठो पर पपड़ी जम गई है । कृषि क्रान्ति हुई तो परन्तु ''यह कृषि क्राति उनके खेतो मे हुई है जिसके पास इस क्राति का मूल्य चुकाने की हैसियत है ।''[14] बहुसख्यक वर्ग पैरो को पेट मे डालकर आज भी सोने को अभिशप्त है । ब्लाक आफिस, अस्पताल, रेडियो और सड़कों ने गॉवों को जहॉ एक ओर नगरो तथा आधुनिक सभ्यता से जोड़ा, वहीं दूसरी ओर स्वय से भी दूर कर दिया । आधुनिक सभ्यता ने इन्हे कुछ दिया तो नहीं उलटे इनके पास जो निजता थी वह भी जाती रही । 'बिजली तो पहुँची परन्तु अंधकार बढ़ गया ।' गॉव आज निराला के राम की तरह हतप्रभ है, उसके सामने– ''उगलता गगन घन अधकार ।''[15]

यह है आज के भारतीय गाँव का वर्तमान जिसका निवासी आज सोचता है -

''मैं एक किसान हूँ ।
और अपनी रोजी नहीं कमा सकता इव गाँव में ।
मेरा हंसुवा, मेरी खुरपी ।
मेरी कुदाल और मेरी जरूरत नहीं रही ।''[16]

इस किसान की दिनचर्या अब बदल गई है -

''मुर्गे की पहली बाँग के साथ वह जागता है ।
और बैलों की जगह साइकिल निकालता है ।
पोंछता है हैंडिल, कैरियर में टिफिन दबा ।
ट्यूब की हवा का अनुमान करता है ।
और निकल जाता है ।
शहर ले जाने वाली सड़क पर ।''[17]

उक्त कविता की मूल चिन्ता यही है कि क्या होगा अब गॉव का । कौन कहा सकता है । आज गॉव के ही निवासियो की यह मान्यता है कि - 'गॉव बसन्ते भूतानाम्' । गॉव मे भूत-प्रेत बसते है । सच है, 'अस्थि मात्र' शेष काया वाले ये भूत ही तो है - जिन्दा भूत । अब तो शायद–

''मेरा गॉव बसेगा -
मेरा गॉव बसेगा दिल्ली और मुबई
जैसे महानगरो
की कीचड़ पट्टी मे ।''[18]

नगर-सन्दर्भ

भारत मे नगर-व्यवस्था की शुरुवात कब से होती है, इसकी ठीक जानकारी प्रमाणों के अभाव मे इतिहासवेत्ता अभी भी नहीं कर पाये है । ज्यादातर बातें अनुमान पर आधारित है । भारत की सबसे पुरानी सभ्यता के रूप मे ख्यात हड़प्पा सभ्यता मे यद्यपि लिपि का आविष्कार हो चुका मिलता है किन्तु वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी । खुदाई से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जरूर जा सकता है कि यह सस्कृति ''सुव्यवस्थित नगर-निवेश''[19] की सस्कृति थी । परन्तु जब तक हड़प्पीय लिपि अपठित है तब तक हम इसकी नगर-व्यवस्था के बारे में विश्वासपूर्वक कुछ कह पाने की स्थिति में नहीं है ।

अपने लिखित साक्ष्यों के साथ जो प्राचीनतम् संस्कृति हमारे सज्ञान में आती है वह पूर्व वैदिक युगीन सस्कृति है । यह सस्कृति कबीलाई सस्कृति थी, जिसका मुख्य पेशा पशुपालन था । पशुचारक समाज की विशेषताओं तथा परिस्थितियों के चलते यह सर्वथा स्वाभाविक था कि लोग अपेक्षाकृत अस्थाई जीवन बिताएं । ऐसी स्थिति में नगरों के विकास की कोई संभावना नहीं ही हो सकती । पूर्व वैदिक युगीन समाज पर टिप्पणी करते हुए प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय लिखते है - ''पूर्व वैदिक युग का जन-समाज ढ़ोर पालने वाले कबीलों का संचारशील समाज था जो कि वैदिक काल में खेती अपनाने के साथ स्थिर, निवासशील ग्रामों में बदल गया । शहर अभी भी बहुत दूर थे ।''[20] पूर्व वैदिक साहित्य में 'ग्राम', 'जन' और 'पुर' तीनों का उल्लेख मिलता है किन्तु इतना तय है कि यह 'पुर' नगर का पर्याय नहीं है ।
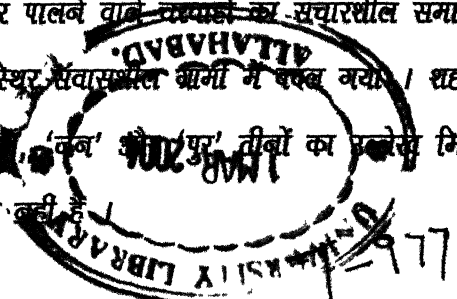
वैदिक युग तक आते-आते सभवतः नगर अस्तित्व मे आ चुके थे क्योकि वेद मे 'पणि' शब्द व्यापारी के पर्याय के रूप मे आता है और किसी भी तरह का व्यापर निश्चित रूप से नगरो के अस्तित्ववान होने के बाद ही शुरु हुआ होगा । कुछेक इतिहासकारो का मानना है कि कालान्तर मे भौगोलिक, प्राकृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारणो के चलते आर्यों के जीवन में स्थायित्व आ गया तथा ''कुछ जनों या कबीलों ने ही जनपद की अवस्था प्राप्त कर ली ।''[21] बहरहाल, छठीं शताब्दी ईस्वीपूर्व तक आते-आते बड़े-बड़े प्रादेशिक या जनपद राज्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त परिस्थिति बन गई । बुद्ध के समय मे 16 महाजनपद विघमान थे जिनके शासन के केन्द्र के रूप मे कार्यरत राजधानियॉ बड़े-बड़े नगरो के रूप मे मौजूद थीं । इस प्रकार नगर, शासन, शक्ति और व्यापार के केन्द्र बनकर स्थापित और सम्मानित हुए । शासन-शक्ति और व्यापारिक शक्ति के चलते नगर धन एवं आकर्षण के केन्द्र के रूप मे विकसित हुए जिनका बाद के वर्षों में उत्तरोत्तर विकास होता गया ।

राजनीति का केन्द्र तो नगर अपने जन्म काल से ही बने, किन्तु इस देश की गणतात्रिक व्यवस्था-प्रणाली के चलते शक्तियों का विकेन्द्रकरण था और ग्राम अपने आप में एक गणतांत्रिक इकाई के रूप में कार्य करते रहे थे । गाँव का समाज अपनी दैनिक जरूरतें गाँव से ही पूरी कर लेता था। सामाजिक व्यवस्था का ढ़ाँचा कुछ ऐसा था कि गाँवों की शहर पर निर्भरता बस एक सीमा तक ही थी । अंग्रेजों ने सबसे पहले गाँव के कुटीर उघोग को तोड़ा और धीरे-धीरे गाँव, शहर पर पूरी तरह आश्रित हो गये तथा गौरांग प्रभु रूपी बनिया ठाठ से शहर में रहकर अपना लूट-खसोट का काम करने लगा ।

ब्रिटिशकालीन शहर अंग्रेजों के अत्याचार, अनाचार तथा शोषण के प्रत्यक्ष गवाह थे । अंग्रेजो की दासता से मुक्त होने के लिए क्या गाँव, क्या शहर सभी के अन्दर तीव्र छटपटाहट थी । भारतीयों ने अपनी तमाम मुश्किलों की दवा, अपने तमाम दुःखों का इलाज स्वाधीनता को समझ रख था, इसके लिए उन्होंने जाने कितनी कुर्बानी दी और उनकी शहादत रंग लाई, उन्होंने 15 अगस्त 1947 का पवित्र दिन देखा ।

आजादी के बाद देश ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से शहरों और ग्रामों के सम्यक् विकास का सपना खुली आँखों से देखा । लोगों ने कल्पना की थी कि विकास की दिशा कुछ

ऐसी होगी कि सारा देश एक सुव्यवस्थित जीवन शैली में जीवन यापन कर सकेगा । नगरों का विकास नागरिक जीवन को अधिकाधिक सुलभ और आरामदायक बना सकेगा और ग्रामीण जीवन का भी भरपूर समुन्नयन होगा, किन्तु ''विकास यात्रा की नौ पचवर्षीय योजनाओ के पूरा हो चुकने के बाद भी नगरीय या ग्रामीण जीवन की गुणवत्ता मे उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं लाया जा सका है, बल्कि इसके उल्टे, कुछ अपवादों को छोड़कर देश के अधिकाश शहर मौत के साये मे पलते देखे जा सकते है ।''[22] भारतीय नगरो के वर्तमान सच के रूप मे जो दृश्य उभर कर आता है उसमे परले दर्जे की गदगी, बजबजाते नाले-नालियॉ, कूड़े के ढ़ेर, मौत के मुह मे ढ़केलता प्रदूषण, अव्यवस्थित यातायात और फुटपाथों तथा सड़कों पर सुरसामुखी फैलता अतिक्रमण । शहर के वर्तमान हालाता को कथाकार कमलेश्वर ने कुछ यो बयान किया है - ''और ऊपर से है भीड़ ! आदमी और आदमी और आदमी के ऊपर आदमी ! घरो के भीतर धसें हुए घर ! आदमी के भीतर घुसा हुआ दूसरा आदमी ! सार्वजनिक सड़कों पर प्रक्षेपित मकानो के कोने और चबूतरे । बिजली के खम्बों के सहारे उगी हुयी कोठरियां........ बिजली के तारों और टेलीफोन वायरो पर उलझे हुए बारजे, फुटपाथों पर कुत्तों के साथ सोने वाले अभिशप्त जन ! बाढ़ से भरी गन्दी बस्तियों के दलदलो में बच्चे जन्मती हुयी माताए .... गलियों के कोनों पर पड़े गन्दे खून से लथपथ मासिक धर्म के चिथड़े और गली, कोने, अतरे, कमरे मे प्रतिष्ठित पुरूष-लिग !''[23]

वर्तमान में हमारे देश के चार प्रमुख नगरों समेत सभी शहरों की कहानी लगभग एक सी है । देश में छोटे-बड़े कुल मिलाकर लगभग 500 जिले हैं । देश का कोना-कोना लोकसभ तथा राज्यसभा के अलावा प्रादेशिक विधान सभाओं, नगर निगमों, परिषदों तथा पंचायतों तक में प्रतिनिधित्व पाता है । यह देखकर दुःखद आश्चर्य होता है कि सांसदों की सांसद निधि तथा विधायकों की विधायक निधि से लेकर ग्राम पचायतों तक अनेक मदों में अपरिमित धनराशि क्षेत्रीय विकास हेतु प्रति वर्ष आवटित की जाती है किन्तु वास्तविक विकास के नाम पर वही - ढ़ाक के तीन पात । सांसद और विधायक निधि के अतिरिक्त विकास के नगर निगमीय बजट अलग होते है । इसके भी अतिरिक्त सूडा, डूडा, स्लम सुधार, जल निगम और नगरीय आवास विकास की अनेक योजनाओं के लम्बे-चौड़े बजट के रूप में प्राप्त अथाह धनराशि तथा विशेष योजनाओं के तहत विश्व बैक से ऋण एवं अन्य अनुदान उपलब्ध रहते हैं, किन्तु सारा विकास लगता है फाइलों में सिमटकर रह जाता है । नगरों से तो कहीं दिखाई नहीं देता । जन प्रतिनिधियों के अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकारियों की एक बड़ी फौज जनता की सेवा में तैनात है परन्तु जाने सेवा किसकी

करते है । पहला पड़ाव (1987) - श्रीलाल शुक्ल, का एक नगरीय पात्र नगर-परिवेश पर अपने फफोले फोड़ते हुए कहता है - ''अब सरकार नाम की कोई चीज नहीं रही । अग्रेज एक कूड़े का ढेर छोड़ गये थे । नौकरशाही । उसी की सड़ॉध मे हम लोग सॉस ले रहे है । हालत बड़ी खराब है । गधे जलेबी खा रहे है । हर शाख पै उल्लू बैठा है ।''[24]

नगरो का परिदृश्य कुछ ऐसा है कि देश का कोई भी नगर साफ-सुथरा और व्यवस्थित नहीं दिखायी पड़ता । तमाम नगर कूड़े के ढ़ेर से पटे पड़े है और उन्हीं ढ़ेरों पर मुँह मारते, बिलबिलाते सुअर और सुअरो के साथ युद्ध लड़ते मानव योनि के कुछ लोग जो कूड़े में ही जिन्दगी तलाश करते है । ऐसा लगता है कि कूड़े के ढ़ेरों के बीच नगर सिमटते जा रहे है, क्योंकि किसी भी नगर की सभी बाहरी दिशाओं पर सड़कों के बीच मुख्य बाजारों में नाली-नाले गन्दगी से पटे पड़े है तथा उनका पानी सड़कों पर फैला देखा जा सकता है । इतना ही नहीं इनके साथ-साथ सीवर, मेनहोलों की वैतरणी हर जगह प्रवाहित देखी जा सकती है, जिसको लॉघने के लिए तमाम नागरिक प्रतिदिन विवश है । इन नाले-नालियों में अनेक विषाक्त कीड़े-मकोड़े और मच्छर-मक्खियाँ पलते है और बेरोकटोक बीमारियों को 'नागरों' के खून में पहुँचाते हुए अपनी वश वृद्धि करते हैं । पॉलिथीन बैग का अन्धाधुध प्रयोग इस दशा में और चार चॉद लगा देता है । ये पॉलिथीन की थैलियाँ सीवर लाइनें जाम करके पर्यावरण प्रदूषण में अपना भारी योगदान देती है । न्यायालय द्वारा इनके प्रयोग पर लगे प्रतिबध के बावजूद धड़ल्ले से हो रहा इनका प्रयोग नागरिकों के गैरजिम्मेदाराना लहजे का जीवन्त प्रमाण है । प्रत्येक शहर में कुकुरमुत्तों की तरह उग आये नर्सिंग होम तथा प्राइवेट अस्पताल एक ओर जहाँ सरकारी अस्पतालों की करूण दशा का कच्चा चिट्ठा खोलते हैं वही अपने चिकित्सकीय कचरे के रूप में कटे-पिटे प्लास्टरों, प्रयुक्त सिरिंजों, गाज-पट्टियों, प्लास्टिक की बोतलें आदि सरे आम बाहर फेंककर प्रदूषण की भयावहता को बढ़ावा देते हैं ।

माननीय प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जब विपक्ष में थे तो अपने लगभग हर भाषण में - 'सड़कों में गढ्ढे हैं या गढ्ढों में सड़क' वाले जुमले का इस्तेमाल जरूर करते थे । सत्तासीन होते ही जाने उन्हें ये गढ्ढे दिखायी देने क्यों बन्द हो गये । सड़कों की इन बदहाली का मुख्य कारण है मानकों की अनदेखी, भारी कमीशनखोरी और घपलेबाजी । जब शहरों की सड़कों का ये हाल है तो बाकी क्षेत्रों की कौन चलाए ।

अबाध गति से बढ़ता अतिक्रमण शहरो की एक अन्य भीषणतम समस्या है । दुकानें जितनी अन्दर होती है उतनी ही बाहर, और होती है, कारो एव दोपहिया वाहनो की पार्किंग । ऐसे मे नगरो के बाजारो में चलना दूभर है, किन्तु इसे रोके कौन ? सबधित थाने मे समय से माहवारी जो पहुँचती है । इस सबके चलते घटो का ट्राफिक जाम । प्रायः सभी शहरो का जीवन नारकीय बना चुका है जिसमे फॅसकर कितना वेशकीमती समय तथा आयातित ईंधन नष्ट होता है, इसका यदि लेखा-जोखा रखा जाय तो अरबों रुपयो का नुकसान देशवासियो को सहना पड़ता है । खाकी वर्दी मे घूमते लुटेरे इन्सपेक्टर आवासीय कालोनियो की सड़कों तक पर दिन के उजाले में किये गये अतिक्रमण को सुविधा-शुल्क लेकर नजरअदाज कर देते हैं । नगरों में तथाकथित नेताओं या बड़े नेताओं के दुलारों द्वारा तार के बाड़े के बहाने घर की बाउन्ड्री बाल बढ़ा ली जाती है, फुटपाथों पर कब्जाकर उन्हे घर के भीतर सुरक्षित कर लिया जाता है । इस तरह साठ-फिट से सिकुड़कर पन्द्रह फिट बची सड़कें दुर्घटनाओं को खुले मन से आमत्रित करती है ।

बाह्य परिवेश से ही व्यक्ति के अन्तर्मन का निर्माण हुआ करता है और नगरो की वर्तमान स्थिति के चलते यह बहुत स्वाभाविक ही था कि व्यक्ति निरन्तर अकेला होता चला गया । ''शहरी जीवन की कुण्ठा और घुटन''[25] ने शहरी आदमी की आत्मा के रेशे-रेशे बिखेर दिए । वह यान्त्रिकता और भौतिकता के दबाव मे पूरी तरह 'रोबोट' होकर रह गया है । अकेलापन, अजनबीपन, पीड़ा, संत्रास, ऊब, घुटन और टूटन उसके जीवन के नए सत्य बनकर उभरे हैं । युग की शुष्क हवा ने उसके अन्दर की तमाम आर्द्रता सोख ली है । उसके मूल्य चुक गये हैं, सवेदनाए मर गई हैं और आस्था किर्च-किर्च होकर बिखर गई है । कभी अज्ञेय ने अपनी एक ''हाइकू''[26] में नगरीय संस्कृति पर करारी चोट अपने तीखे व्यंग्य के माध्यम से की थी आज स्थिति यह है कि वह डसता नही, आदमी को समूचा लील जाता है । पानी जहरीला हो चुका है, हवा बोझिल है और जिन्दगी ठस । अपनी तेज, तेज बहुत तेज गति के बावजूद शहर का अन्तर्मन स्पन्दनहीन हो गया है । शहर के वर्तमान परिवेश का शब्द चित्र उकेरते हुए कवि कुंवरनारायण अपनी एक सद्यः प्रकाशित कविता में लिखते है -

> *''अपने खूंखार जबड़ों में*
> *दबोचकर आदमी को*
> *उस पर बैठ गया है शहर*
> *सवाल अब आदमी का ही नहीं*
> *शहर की जिन्दगी का भी है*

उसने बुरी तरह
चीरफाड़ डाला है मनुष्य को
लेकिन शहर भी अब
एक बिल्कुल फर्क तरह के मानव रक्त से
प्रभावित हो चुका है
अक्सर उसे भी
एक बीमार आदमी की तरह
दर्द से कराहते हुए सुना जा सकता है ।''[27]

समग्र परिवेश : चाक्षुष सत्य और आजादी से मोहभंग

15 अगस्त 1947 को आजादी मिल जाने से पूर्व ही भारतीय जनता को यह स्पष्ट आभास होने लगा था कि अग्रेज अब यहाँ टिकने वाले नहीं है । स्वतत्रता की रजतरश्मियॉ एक अदम्य महत्वाकाक्षा जागृत कर रही थीं और भारतीय जनता के दिलों मे एक स्वर्णिम विहान अॅगड़ाई ले रहा था । यह बहुत स्वाभाविक भी था क्योकि ''युगों की पराधीनता के बाद किसी देश का स्वतत्र होना ही अपने आप मे बहुत बड़ी घटना है ।''[28] 'स्वराज', 'प्रजातंत्र' तथा 'सुराज' को लेकर एक सुनहरा सपना भारतीयों के हृदय में पल रहा था । गुलामी के दिनों में स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान, निराशा, घुटन, दिशाहीनता, अनिश्चयता का जो कुहासा भारतीय जीवन पर छाया था, वह विदीर्ण होने लगा । स्वाधीनता की घोषणा के साथ ही एक नए उत्साह व उल्लासमय वातावरण के सर्जन की अभिलाषा परिलक्षित होने लगी । शताब्दियों की गुलाम भारतीय जनता ने स्वशासन के संबध में सुनहरे सपने देखना शुरु किया ।

आजादी मिलते ही ऐसा लगता है कि भारतीय जनों के बुरे दिनों का युग बीत गया और नये आयाम तथा नए आकार दिखलाई देने लगते हैं । परन्तु ये सपने साकार होते इसके पहले ही देश को विभाजन का बेधक दंश भोगना पड़ गया । आजादी के शिशु को जन्म लेते ही लकवा मार गया हो मानों । अंग्रेज जाते-जाते जो घाव दे गये वह ऐसे नासूर में परिवर्तित हो गया है जो जब-तब रिसने लगता है और जिसकी सड़ाध पूरे देश में फैल जाती है । विभाजन को लेकर जो दंगे हुए, हत्याएं हुईं, आगजनी की घटनाएं हुईं, लोगों के घरबार छूटे, देश छूटा उसने नैराश्य की एक विचित्र स्थिति भारतीय जन के सामने उपस्थित की ।

स्वतत्रता के साथ ही भारत को जिम्मेदारी मिलती है खुले आसमान और फैली धरती के बीच आ पड़े लोगो की, जिनके लिए उसे कोई न कोई आसरा बनाना है किसी न किसी रूप मे जीविका के साधन खोजने हैं और साथ ही दुनिया की स्वतत्र बिरादरी के बीच अपने आप को स्थापित करना है । स्वतत्रता के बाद हमारे सामने विकास के नए आयाम उपस्थित होते है - गहरे आकर्षण से भरे । आधुनिकतम फार्म, शोध और प्रयोगों के बड़े-बड़े सस्थान, विश्वविघालय, मिलें, लम्बे-चौड़े कारखाने, प्लाण्ट और प्रोजेक्ट, सड़कें, रेलवे का विस्तार, उत्सव, जयन्तियाँ, अकादमियाँ, मीटिगें, कान्फ्रेसें, कमेटियाँ, कमीशन, चुनाव, प्रेस, पचवर्षीय योजनाए और जाने क्या-क्या है, जो सम्पूर्ण वातावरण पर, स्वाधीन भारत की धरती के आकाश पर इस छोर से उस छोर तक मँडरानें लगता है । ये सभी तत्व ऐसे है जिनके कारण भारतीय जनमानस ने एक प्रकार की उच्चता का अनुभव किया । उत्साह के इस वातावरण में समाज के सभी वर्गो ने सोचा कि स्वाधीनता के बाद आने वाले वर्षों में जो भारत निर्मित होगा उसमे किसी के लिए किसी प्रकार के शिकवे-शिकायत की गुंजाइश नही होगी और देश के हर नागरिक को उसकी मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक क्षमताओं के अनुरूप अवसर मिलेगा । कोई भी पीड़ित, दलित और कुंठित नहीं होगा । सभी एक बेहतर भारत के निर्माण में समान रूप से भागीदार होंगे । ये सब सुनहरे सपने ही वे कारण थे जिनके चलते जवानों ने 'सरफरोशी की तमन्ना' अपने दिल में रखी, पुरानी पीढ़ी ने जेल की यातनाएं भोगी, माताओं ने हँसते-हँसते अपनी गोदें सूनी कर दी तथा सुहागिनों के माथे के सिन्दूर पुँछ गये ।

परन्तु अपना सोचा भला कब होता है । आजादी की उजास के साथ ही राष्ट्रीय क्षितिज पर अँधेरे की रेखाएं भी दिखाई देने लगती हैं ''मेला उठने के तत्काल बाद ही जैसे झण्डियाँ, सुतलियाँ, बल्लियाँ, तोरण और अल्पनाएं बिखर और फैल-छितरा जाती हैं, वैसे ही आजादी का यह मेला उठते देर नही लगती और चारों तरफ बिखराव, अव्यवस्था और छितराव नजर आने लगा । धर्मगुरुओं की तरह बड़े नेता शीश महलों में जा घुसे और आवारा छोकरों की तरह स्थानीय और क्षेत्रीय नेताओं ने ध्वंस शुरु कर दिया ।''[29]

स्वतंत्रता के बाद बड़े समारोह पूर्वक देश में 'प्रजातंत्र' आया परन्तु ''देश की आत्मा को प्रजातंत्र के इस राष्ट्रीय झूठ (फ्रॉड) ने ही सबसे अधिक तोड़ा है ।''[30] राजनैतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, प्रांतवाद जैसे फोड़े राष्ट्र की काया में एकाएक फूट

पड़े और इन फोड़ो से निकले गन्दे खून और मवाद की सड़ी गन्ध वातावरण में व्याप्त हो गई । यह आश्चर्य का विषय है कि आजादी से पहले के सत्याग्रही नेता एकाएक भ्रष्टाचार, अनाचार और अत्याचार के पक्षधर और भागी कैसे बन गये । कहते है कि पूत के पाँव पालने मे ही दिखाई दे जाते हैं । इस जनतंत्र की शुरूवात मे ही 'उग्र' जी लिखते है - ''नई व्यवस्था जनराज्य बिल्कुल नही और चन्टजन राज्य ऊपर से नीचे तक ।''[31] यह 'चन्ट जन-राज्य' व्यापारियों और नए नेताओं का है जिन्हे 'उग्र' 'भद्दर लोक' कहते है । उन्हीं के शब्दों में - ''यह भद्दर आज खद्दर पहने माल-मलाई मारते ऐसे 'भद्दर लोक' है जो स्वराज्य नही हुआ था, तब भी मौज मारते थे और हो गया तब भी सोने चाँदी के नेवाले गपक रहे है ।''[32]

ताकत भ्रष्टाचार को जन्म देती है यह सर्वविदित तथ्य है । सत्ता पाते ही कांग्रेसी नेताओं के दुर्बल पक्ष उभर कर सामने आने लगे । यद्यपि सविधान में भारत को 'समाजवादी गणतंत्र' कहा गया, पर सामती और पूँजीवादी ताकतों ने राजनीति में प्रवेश कर अप्रत्यक्ष रूप से उस पर अपना कब्जा जमा लिया । धीरे-धीरे संसद और विधनसभाओं में चुनाव जीतने के लिए पैसे का महत्व बढ़ता गया । देश का प्रधानमत्री अपनी सरकार को बचाने के लिए विपक्ष के सासदों को खरीदने लगा । 'पार्टी फण्ड' के चंदे के नाम पर तस्करों, माफियाओं और ठगों को काला धन सफेद कर लेने के मौके दिये जाने लगे और निरन्तर आर्थिक भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई । आज आलम यह है कि ''रिश्वतखोर, तस्कर, डकैत, आर्थिक घोटाला करने वाले, सत्ता का दुरूपयोग करके धन जमा करने वाले, करोड़ों का आयकर हड़प कर जाने वाले सभी प्रकार के अपराधी राजनीति पर काबिज हो गये है ।''[33]

अपराध और राजनीति के गठजोड़ ने 'कोढ़ में खाज' वाली त्रासद स्थिति उत्पन्न कर दी है । शुरू में राजनेतागण चुनाव जीतने के लिए छुपे तौर पर अपराधियों का सहारा लेते थे और बदले मे उन्हें राजनैतिक संरक्षण देते थे । आज तो अपराधी स्वय ही चुनाव लड़कर सत्तासीन हो जाना फायदेमन्द समझता है । वह चुनाव जिताने की भूमिका भर से सन्तुष्ट न हो जीतने की राजनीति में आ गया है । सफेदपोश अपराधियों की तो कोई गणना नहीं कुख्यात डकैत तक राजनीति में बेहतर भविष्य तलाश करते नजर आ रहे हैं । इस क्षेत्र में स्वर्गीया फूलन देवी, तहसीलदार सिंह, मोहर सिंह, मलखान सिंह जैसे नाम राजनीति की भयावह स्थिति के द्योतक हैं । घोर निराशा की बात है कि कभी आतंक के पर्याय रहे ये सभी चंबलवासी किसी न किसी पार्टी से

जुड़े हुए है । आज ददुवा से लेकर वीरप्पन तक, कोई भी अपराधी-बागी कहीं से भी चुनाव लड़ सकता है । जीतने की पूरी निश्चयता के साथ । ऐसे मे देश का सर्वोच्च न्यायालय जब यह व्यवस्था करता है कि चुनाव नामाकन पत्र मे हर उम्मीदवार अपनी आर्थिक हैसियत और आपराधिक रिकार्ड जाहिर करने को बाध्य हो तो हमेशा आपस मे कुत्तों की तरह लड़ने वाले राजनीतिक दल असाधारण एका का प्रदर्शन करते है और सम्मिलित ताकत बनकर ऐसी किसी भी व्यवस्था के विरोध मे खड़े हो जाते है । यह है इन सबका नैतिक चरित्र ।

ऐतिहासिक कारणो के चलते देश मे हिन्दू और मुसलमान आरम्भ से ही प्रायः टकराव की स्थिति में रहे है । यद्यपि लगभग हजार वर्षों के साथ रहने से एक मिली-जुली संस्कृति का विकास भी होता रहा, पर मुसलमान अपनी आक्रामकता और हिन्दू अपनी कछुवाधर्मिता के चलते पूरी तरह एक न हो सके फिर भी ''बहुत दिनों तक एक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लगे थे ।''[34] इन खुल रहे दिलों को 'मरतिहुँ बार कटक सहारा' की तर्ज पर अग्रेज साम्प्रदायिकता की उन्मादक आग में झोंक गए और यह साम्प्रदायिक समस्या आज भी ज्यो की त्यों बनी हुई है । देश का नेतृत्व बजाय साम्प्रदायिक तनाव समाप्त करने के, अपनी 'वोट बैक' की कुत्सित राजनीति के चलते दोनों को लड़ाता रहा है । कभी मंदिर-मस्जिद के नाम पर कभी भाषा के नाम पर । उसकी इस घृणित राजनीति के चलते पूरा देश जब-तब हिसा की आग मे सुलग उठता है और हजारों-हजार बेगुनाह जिन्दगियाँ इस आग में खाक हो जाती हैं । आजादी की लड़ाई में काँधे से काँधा मिलाकर लड़नें वाले हिन्दू और मुसलमान जिन्होंने स्वाधीनोत्तर भारत के साझा सपने देखे थे आज एक दूसरे को सन्देह की नजर से देखने को मजबूर कर दिए गए हैं ।

देश में शिक्षा के प्रसार, विदेशी फैशन और तरीकों की नकल के कारण नैतिक मूल्यों का बेतरह क्षरण हुआ है । पहले जो पवित्र माना जाता था उसके उल्लंघन को अब 'एडवान्समेंट' माना जाने लगा है । दैहिक शुद्धता की बात करना अब पिछड़ेपन का प्रतीक है ˙ स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र-छात्राएं पश्चिम की भोगवादी संस्कृति के दीवानें हो रहे हैं ।

इधर के वर्षों में देश में सभी स्तरों पर विशाल पैमाने पर भ्रष्टाचार फैला है । जमींदारी टूट गई राजा-महाराजा भी समाप्त हो गए परन्तु कोटा, परमिट, लाइसेंस, ठेके आदि के रूप में नई

जमींदारियाँ अस्तित्व में आ गई है । चारों तरफ जातिवाद, प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद, भाईवाद, गुटबन्दी, राजनीतिक ब्लैकमेल, घूसखोरी और धोखेबाजी जैसे तकड़म दिखाई दे रहे हैं । अपराधी राजनीतिक शक्ति-सपन्न होकर समाज मे प्रतिष्ठित, प्रभावशाली और आदरणीय बन गये है । चरित्र, ईमानदारी और मूल्यो की बात करना आज चील के घोसले मे मास का टुकड़ा ढूढने जैसा है । आम आदमी समस्याओ के भीषण चक्रवात में फँसा हुआ है ।

आजादी के बाद देश मे बहुत से विकास कार्य हुए । यातायात के साधन विकसित हुए । नलकूप लगे । विकास खण्ड खुले । अनेक जल विघुत योजनाए पूरी हुई । बड़े-बड़े संयत्र और कारखाने स्थापित हुए । बहुत से मामलों में देश स्वावलबी हो गया । हरित क्राति के परिणामस्वरुप देश खाघान्न मामले मे आत्मनिर्भर बन गया परन्तु औसत आदमी की जिन्दगी सकटापन्न और दूभर हो गई । व्यक्ति से समाज का रिश्ता टूटता सा जा रहा है । जखीरेबाजी, चोर बाजारी और कालेधन में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है । स्वतंत्रता के बाद मंहगाई सुरसा के मुँह की तरह से बढ़ी है और दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रही है । मूल्यों पर सरकार का कोई नियत्रण नहीं रहा । नौकरशाही के भ्रष्ट और अड़ियल रवैये में कहीं कोई परिवर्तन होते दिखाई नहीं दे रहा है । मुल मिलाकर ''भारतीय समाज का दिल और दिमाग असाध्य बीमारी से ग्रस्त है।''[35] और आज का आदमी अपनी सस्कृति तथा विचारधारा दोनों से ही कट गया है ।

आजादी के बाद का व्यक्ति बदली हुई परिस्थितियों में तेजी से बदलने को मजबूर हुआ है। उसके सोच की दिशा बदल गई है । उसकी समष्टिगत चेतना का पूर्णतया लोप हो गया और वह घोर व्यक्तिवादी बन गया । भावनाओं के आधार पर जुड़ने वाले रिश्तों की जगह स्वार्थ के आधार पर सबंध कायम होने लगे हैं । समस्याक्रान्त व्यक्ति के लिए अब जीवन में अधिकाधिक संश्लिष्टता का विस्तार हुआ । आदमी भीड़ में अकेला हो जाने की पीड़ा भोगने को विवश हुआ है । परिवार के बढ़े खर्चे को पूरा करने तथ स्वावलंबी हो पाने की सोच के चलते नारी ने नौकरियाँ शुरु की । आर्थिक स्वावलंबिता ने उसके अह को उकसाया तथा दाम्पत्य संबंधों में तनाव पैदा हुए । काम-कुण्ठाएं विभीषिका बनकर सामने आई । समाज में व्यक्ति की अपनी पहचान भी एक समस्या बनीं । अजनबियत व भीड़ का अंग बने रहने की नियति को ढोते चले जाने की अपेक्षा व्यक्ति में उसके प्रति विद्रोह का भाव पैदा हुआ । असन्तोष, कटुता, ईर्ष्या, भय, आतंक, समझौतापरस्ती, अहं भावना, हीनताएं, कुण्ठाएं, ग्रन्थियाँ, आत्मप्रचार व्यक्ति के चरित्र के नूतन सच बनकर उभरे हैं और

महत्वाकांक्षाओं के टूटने की हताशा के चलते, घुटन, निराशा, तनाव उसके आचरण के अग बन गये है । उसके एक ओर परम्परित भारतीय चिन्तन, सस्कृति और सस्कारो की दुनिया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य जीवनक्रम के मोह का दुर्दमनीय खिचाव । इन 'दो पाटन' के बीच उसका व्यक्तित्व त्रिशकु सा होकर रह गया है । खण्डित चरित्र वाला ऐसा व्यक्ति दोहरे आदर्शों, मापदण्डों, मूल्यो से परिचालित होकर दोनों मे से किसी का नहीं हुआ । पश्चिमी सभ्यता की आँधी ने पूरे जनमानस को झकझोर दिया । उसने ''अपने घर तो भौतिक सुःख-सुविधा से भर लिए लेकिन मन खडहर हो गये ।''[36]

कुल मिलाकर स्वाधीनोत्तर भारत का सच बहुत कड़वा है कथाकार मोहन राकेश के शब्दो में इस हकीकत को बयान करे तो - ''स्वदेशी सत्ता के आ जाने से कुछ दिशाओं में प्रगति दिखाई देती है, पर साथ ही अवसरवाद का बोलबाला दिखाई देने लगता है । अनेक संकीर्ण स्वार्थ उभर आते है और जिस वायु से करोड़ों व्यक्ति प्राण पाने की आशा रखते थे वह धूल से भर जाती है, जहॉ श्वांस लेना भी कठिन है और न लेना भी ।''[37] वर्तमान युग के घुटन भरे अन्धकार से घबरा कर आम जन पुकार उठता है - 'कोई चिराग जलाओ बहुत अँधेरा है ।'

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य और मोहभंग

एक लंबी गुलामी के बाद देश स्वतत्र हुआ तो जनता ने राहत की सांस ली । उसे लगा कि अब अपना शासन होगा और तमाम पीड़ादायक स्थितियाँ अपने आप मिट जायेंगी । उसने महसूस किया कि ''यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की एक महती घटना है और एक महत्वपूर्ण मोड़ भी।''[38] इस मोड़ के सन्धि स्थल पर खड़े होकर भारतीय जनता ने भविष्य की ओर आशाभरी निगाह से देखा था । दूर आगत के शिखर पर उसकी कल्पना ने इन्द्रधनुषी सौन्दर्य देखा, मगर यथार्थ की आँधी में वह सौन्दर्य तो तिरोहित हो ही गया स्वयं देखने वाली आँखों में इतना गर्द-गुबार भर गया कि सपने देखने वाली आँखें आँसुओं से भर गईं ।

स्वाधीनोत्तर भारत में निराशा की धूल-धक्कड़ से भरा जो युग अवतरित हुआ उसने साहित्यकार के संवेदनशील मन में उथल-पुथल मचा दी और उसे महसूस हुआ कि यह आजादी अवास्तविक है । झूठी है । आजाद सुबह के क्षितिज पर कालिमा की लकीरें देखकर फैज को कहना पड़ा - ''ये दाग-दाग उजाला । ये शबगजीदा सहर । वो इन्तजार था जिसका । ये वो सहर तो

नहीं ।''[39] यह कैसी सुबह है, जो अन्धकार के धब्बो से भरी हुई है । क्या इसी के लिए इतनी कुर्बानियॉ दी गई । क्या इसी को पाने के लिए इतनी यातनाए सही गई । नही, ''अभी गरानी-ए-शब की घड़ी नही आई । नजाते-दीदा-ओ-दिल की घड़ी नही आई । चले-चलो कि वो मजिल अभी नहीं आई ।''[40]

साहित्यकार के आहत मन ने देखा कि आजादी के सूरज की प्रतीक्षा में उसे 'ढिबरी' का प्रकाश मयस्सर हुआ है और ढिबरी भी प्रकाश कम, पीड़ा ज्यादा देती है । एक प्रगतिवादी कवि लिखता है - ''धुऑ अधिक देती है दिन की ढिबरी । कम करती उजियाला । मन से कढ अवसाद क्राति । ऑंखो के आगे बुनती ज्वाला ।''[41]

क्या कविता, क्या कहानी, क्या नाटक और क्या उपन्यास, स्वाधीनोत्तर भारत के मोहभग का स्वर सभी में मुखर हुआ है । धर्मवीर भारती का 'अधायुग' (1955) स्वातत्र्योत्तर अवतरित हुए युग के 'अन्धेपन' की त्रासदी का सशक्त दस्तावेज है जिसमें 'महाभारत' के युद्ध को प्रतीक बनाकर आधुनिक युग की विडम्बनात्मक परिस्थितियों का भडाफोड़ हुआ है । समाजवाद के खोखले नारो के तले विकास पूँजीवाद का हुआ । 'अधायुग' का रचनाकार घोषणा करता है - ''सत्ता होगी उनकी । जिनकी पूजा होगी ।''[42] ''जिनके नकली चेहरे होगे । केवल उन्हे महत्व मिलेगा ।''[43]

गुलामी के दिनों में बर्बर अग्रेजों का शासन जनता की पीड़ा का कारण था । स्वतत्र भारत के शासकों की रीति-नीति का भविष्य लिखते हुए धर्मवीर भारती बतातें है -

> ''राजशक्तियाँ लोलुप होंगी ।
> जनता उनसे पीड़ित होकर ।
> गहन गुफाओं में छिप-छिपकर दिन काटेगी ।''[44]

यह युग का कटु यथार्थ ही था जो कवि-नाटककार को लिखने के लिए विवश करता है -

> ''टुकड़े-टुकड़े होकर विखर चुकी मर्यादा ।
> ....
> जो कुछ सुन्दर था, शुभ था कोमलतम था ।
> वह हार गया .... ।''[45]

समाजवादी ढग की समाज रचना का आश्वासन दिया गया था, वह पूँजीपति वर्ग के हाथो मे केन्द्रित हो रही थी ।''[48] मुक्तिबोध की पारखी नजर ने इस स्थिति को बखूबी भाँप लिया था । मुक्तिबोध का सजग दृष्टा देख रहा था कि भारत की अधिसख्य जनता गरीबी की अनियन्त्रित लहरो के बीच थपेड़े खाती हुए ऊभ-चूभ कर रही है और इस प्रवाह के बीच भारतीय समाज में अमीरी के टापू, समृद्धि के द्वीप बन रहे है । युग का अधेरा इतना खतरनाक है कि व्यक्ति को ''अधेरे मे पकड़कर मौत की सजा''[49] दे दी जाती है और उसकी आँखो मे 'किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही' बाँध दी जाती है । और उसे 'किसी खड़ी पाई की सूली पर' टाग कर 'किसी शून्य बिन्दु के अधियारे खड्डे में' गिरा दिया जाता है । यह है युग का सत्य जो 'घटाटोप' 'अधेरे में' भी पूरी तरह रूपायित हो उठता है ।

'अधेरे में' का कथानक समाज के अधेरेपन को तो चित्रित करता ही है व्यक्ति को भी लानत भेजता है, जो स्वतत्र होकर केवल अपना पेट भरता रहा । अपने लिए भौतिक साधन जुटाता रहा । व्यभिचारी, विलासी, कामी बना रहा । ऐसे देशवासी को फटकारते हुए कथानायक के शब्दों मे कवि कहता है -

> ''बहुत-बहुत ज्यादा लिया,
> दिया बहुत-बहुत कम,
> मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम !!''[50]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और मोहभंग

स्वतत्रता के बाद का पूरा का पूरा युग 'अन्धायुग' हो गया । घुटन, टूटन, कुठा, संत्रास, अजनबियत, अराजकता, अव्यवस्था, आधारहीनता, असन्तोष, हिंसा, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, हत्याए, आत्महत्याएं, सिद्धान्तहीनता और कुनबापरस्ती का सर्वभक्षी दौरशुरु हुआ । जैसा कि माना जाता रहा है कि उपन्यास अपने फलक की विस्तृतता के कारण युगबोध को समग्रता से सहेज लेने, समेट लेने की पर्याप्त क्षमता रखता है । ऐसा माना जाता है कि उपन्यास का जनम ही यथार्थ के दबाव के चलते हुआ । अतः यह स्वाभाविक ही था कि स्वातंत्र्योत्तर काल उपन्यासकार के लिए 'मोहभंग' का काल हो गया । ''स्वतंत्र भारत की अराजक, अव्यवस्थित, मूल्य विहीन,

निराशाजनक, समस्याक्रात, जीवन-स्थितियो के भोक्ता के रुप मे जिन प्रामाणिक अनुभवों को इन्होने {उपन्यासकारो ने} भोग किया उसे बिना लाग-लपेट के उपन्यास का विषय बनाकर''[51] उपन्यासकारो में प्रस्तुत किया ।

स्वाधीनोंत्तर भारत को लेकर मुशी जी {मुशी प्रेमचन्द} बहुत आश्वस्त नहीं थे । खद्दर धारण कर देशभक्त बन जाने वाले ढोगियों को उनकी पारखी नजर बखूबी देख रही थी । उनके 'गबन' {1930} का देवीदीन इन कथित देशभक्तों की कलई खोलते हुए कहता है - ''बड़े-बड़े देशभक्तो को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता । उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देशी चीज न मिलेगी । दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिए, घर का और सब सामान विलायती है । सब के सब भोग-विलास मे अन्धे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी । उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेगे । अरे तुम क्या देश का उद्धार करोगे ! पहले अपना उद्धार कर लो। गरीबो को लूटकर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है ।''[52] ''गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरना'' - इस एक वाक्याश मे मुशी जी ने अपने जमाने और आज के हिन्दुस्तान की कथा कह दी है । इतिहास, वर्तमान और भविष्य की नब्ज को इतनी बारीकी से समझ पाने की निगाह कम लेखकों में पाई जाती है । मुशी जी से पूर्व भारतेन्दु बाबू की निम्न वाक्य पक्तियॉ कुछ ऐसा ही आशय प्रकट कर रही है - ''हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम ।'' इस लिहाज से मुशी जी 'बाबू साहेब' के सच्चे उत्तराधिकारी ठहरते है ।

'गबन' के देवीदीन के रुप में मानो स्वय मुंशी जी जमाने को गहराई से देख रहे है । देवीदीन मानों भविष्य को देखता हुआ कहता है - ''साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन सा रुप तुम्हारे सामने आता है ? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी ॲगरेजों की तरह बगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, ॲंगरेजी ठाठ बनाए घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्यान होगा । तुम्हारे और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम से गुजरे, देश का तो कोई भला न होगा ।''[53] महान लेखक सचमुच भविष्यद्रष्टा होते हैं । ''जब तुम्हारा राज हो जायेगा, तब तो गरीबों को पीस कर पी जाओगे ।''[54] यह निर्मम सत्य देख पाने और कह पाने की ताव मुंशी जी ही में थी ।

स्वातत्र्योत्तर भारत मे मोहभग की परिणति सर्वप्रथम नागार्जुन के उपन्यासो मे मिलती है। 'बलचनमा' (1952) का नायक बलचनमा स्वतत्रतापूर्व क्रूर जमींदार के हाथो निर्मम यातनाए सहता है । अपनी वृद्धा दादी, प्रौढा मॉ को जलील होते एव जवान होती बहन को जमींदार की काम-लोलुप निगाहो का शिकार बनते, वह सरेआम बेइज्जत होते हुए देखता है । उसने भी एक स्वप्न देखा था उसने भी अपनी कल्पनाओ मे आजादी का सुख अनुभव किया था । उसकी ऑखो मे सजाए गए सपनो की एक झलक उसकी जुबानी - ''मैने सोचा मुलुक से अँग्रेज बहादुर चला जायेगा फिर यही बाबू - भैया लोग अफसर बनेगे और तब इस बाबा जी महाराज का भी उद्धार हो जायेगा । इसके हाड़ों पर मास चढेगा, चेहरे पर चिकनाई आवेगी .... सोराज मिलने पर क्या होगा ? यह बात मैने एक बार पटना मे मोहन बाबू से पूछा था । उन्होने क्या जवाब दिया था भैया, क्या बताऊँ ? मोहन बाबू ने यही कहा था कि सोराज होने पर सबके दिन लौटेगे, सबका भाग्य चमकेगा । हमारा भी तुम्हारा भी ।''[55] 'सोराज' तो आया किन्तु बलचनमा के सपने कहाँ साकार हो सके, प्रत्युत ध्वस्त हो गये और अन्ततः लाठी खाकर उसके गिर पड़ने के साथ उपन्यास के अन्त के साथ ही सपनो का भी अन्त हो गया । बलचनमा का यह गिरना अनायास 'होरी' की याद दिला जाता है ।

नागार्जुन के एक अन्य उपन्यास 'वरुण के बेटे' (1966) मे स्वतत्रता सघर्ष के दौरान स्वाधीन होने के मोहक सपने सजाए जाते है । मलाही गाँव का प्रगतिशील युवक मोहन मॉझी स्वाधीनता की लड़ाई में तन-मन से खुद को लगा देता है और इस सघर्ष के दौरान अपनी उन्नति का, अपने गाँव और अपने पोखर का रगीन सपना देखता है - ''गढ़पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चलकर और तब मलाही गोंढ़ियारी के ये ग्रामाचल मछली-पालन-व्यवस्था का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे । वैज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ पाली जायेंगी .... विशाल जलाशय की इन कछारो में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदनियों की खेती करेंगे । पक्की ऊँची मिडो पर इकतल्ला सेनेटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के विश्रामार्थी आ-आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे।''[56] आजादी तो मिलती है लेकिन मोहन के मोहक सपने पूरे नहीं होते । अंग्रेजों से लड़ने वालों को अपने देशी जमींदारों से लड़ना पड़ता है । बाद की कहानी स्वातत्र्योत्तर जमींदारों की धाँधली की कहानी हो जाती है और 'गढ़पोखर' के जीर्णोद्धार का सपना देखने वालों को इसे जमींदार के चंगुल से बचा पाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर घिर आए निराशा के घटाटोप बादलो की छाया मे धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवा घोड़ा' (1952) की रचना हुई । डॉ. यश गुलाटी लिखते है - ''स्वाधीनता प्राप्ति के पॉच वर्ष बाद ही लिखे जाने वाले 'सूरज का सातवा घोड़ा' उपन्यास मे युग के आर्थिक सघर्ष और नैतिक विश्रखलता से उपजे अनाचार, निराशा, कटुता औरा ॲधेरे के एहसास की व्यजना जिस धरातल पर हुई है वह साठोत्तरी मोहभग की याद दिलाता है ।''[57] उपन्यास लिखने के पीछे मौजूद सामयिक परिस्थितियो की चर्चा करते हुए स्वय भारती लिखते है - ''गहरी निराशा का समय था, जब यह उपन्यास लिखा गया था । आजादी आ गई थी पर आजादी आने के साथ वे सपने चरितार्थ होते नहीं दीख रहे थे जिनके आधार पर गली-मुहल्ले ने आजादी की लड़ाई लड़ी थी । मुहल्ले मे रामायण, भागवत, गीता से लेकर गॉधी, विनोबा और कार्ल मार्क्स तक की वाणी गुजरित थी लेकिन अन्दर ही अन्दर एक गहरी खामोशी में बेबस सा हर परिवार टूटता चला जा रहा था, हर जिन्दगी नाकाम होती नजर आ रही थी ।''[58] उपन्यास का नायक तत्कालीन भारत के मध्यवर्ग के जीवन की त्रासद स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए कहता है - ''हम सभी निम्नमध्य श्रेणी के लोगों की जिन्दगी में हवा का एक ताजा झोंका नहीं । चाहे दम घुट जाय पर पत्ता नही हिलता, धूप जिसे रोशनी देनी चाहिए हमे बुरी तरह झुलसा रही है और समझ मे नहीं आता कि क्या करे ।''[59]

कुल मिलाकर 'सूरज का सातवा घोड़ा' हमारे सम्मुख साठोत्तरी मोहभग के काल से अधिक निराशा और अवसाद से ग्रसित माहौल को प्रस्तुत करता है ।

मोहभग की व्यापक भावभूमि पर मैला आँचल (1954) का रेणु द्वारा अकन होता है । बालदेव के आगमन के साथ ही मेरीगज में आधुनिक राजनीति प्रवेश करती है । रामकिसुन बाबू, शिवनाथ बाबू एवं आभारानी जैसे राष्ट्र-भक्तों के नेतृत्व में और बावनदास, चुन्नी बाबू के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते हुए, वह उसके लक्ष्यों एवं नीतियों का ज्ञान प्राप्त करता है ।

आजादी से पहले ही भावी परिवर्तन की आहट को पहचानते हुए स्वार्थी और मौकापरस्त लोगों ने देश-भक्तों की पंक्ति में घुसपैठ ही शुरु नहीं कर दी थी, उनको बाहर खदेड कर उनके

स्थान पर अधिकार भी जमा लिया था । धन और सम्पत्ति के बल पर तहसीलदार साहेब काग्रेस के नेता बन जाते है । गॉव की चीनी और किरासिन तेल की पुर्जी बॉटने का काम ही बलदेव के हाथो से निकलकर तहसीलदार के हाथ मे नहीं चला जाता वरन लोगों मे उसक 'बिलेक' और बेईमानी की फर्जी कहानियॉ भी फैल जाती है । वस्तुत· बालदेव, बावनदास और चुन्नीलाल जैसे देशभक्तो की पीड़ा ही यही है कि अग्रेजों के समर्थक, विदेशी कपड़ों के विक्रेता, शराब-ठेको के मालिक, स्त्रियो के दलाल और स्वाधीनता आन्दोलन के विरोधियो का ही अब काग्रेस में कब्जा हो गया है और उनके हाथों यातनाए झेलने वाले सच्चे राष्ट्रभक्त अप्रासगिक बना दिए गए है - ''बावनदास करवट लेते हुए कहता है - 'बिलैती कपड़ा के पिकेटिग के जमाने में चानमल-सागरमल के गोला पर पिकेटिंग के दिन क्या हुआ था, सो याद है तुमको बालदेव ? चानमल मारवाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटरियो को पीटा था, जेहल मे भोलटरियो को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था । वही सागरमल आज नरपतनगर थाना काग्रेस का सभापति है । और सुनोगे ? .... दुलारचन्द कापरा को जानते हो न ? वही जुआ कम्पनीवाला, एक बार नेपाली लड़कियो को भगाकर लाते समय जो जोगबनी मे पकड़ा गया था । वह कटहा थाने का सिकरेटरी है । .... भारथमाता और भी जार-बेजार रो रही है ।''[60]

आजादी के बाद स्थिति सुधरती नहीं, बल्कि बद से बदतर होती जाती है । नए काग्रेसियो के चलते 'रामकिसुन आसरम' की खान-पान सबधी सारी पावनता नष्ट हो जाती है । अब वहाँ चौके में ही बैठकर लोग मछली और अण्डा खाने लगे हैं । शराब के ठेकेदार का बेटा, अफसरो के आगे खीसे निपोरने वाला भ्रष्ट ब्लैक मार्केटिया छोटन बाबू फारबिसगंज कांग्रेस का सेक्रेटरी हो जाता है । भारत माता रो रही है लेकिन उसका करूण रूदन किसी के कानों को सुनाई ही नहीं पड़ता वहाँ तो स्वार्थ के मजीरों की गूंज भरी है ।

स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व आरंभ होने वाली मोहभंग की यह मानसिकता सत्तायुग में निरन्तर बलवती होती जाती है । बावनदास के प्रसंग में यह मोहभंग पूरे उत्कर्ष पर दिखाई पड़ता है । आजादी के लिए एक निष्ठ होकर पूरी जिन्दगी होम कर देने वाले बावनदास जैसे लोग आजाद देश में अप्रासंगिक ही नहीं होते वरन् विक्षिप्त से हो जाते हैं - ''बावनदास को देखकर डर लगता है - एकदम सूखकर कॉंटा हो गए हैं ।''[61] बालदेव से एक दिन भेंट होती है बावनदास की तो वह 'उधर' (शहर) के समाचार पूछता है । भवनदास के जवाब में मोहभंग की कैसी पीड़ा टपकती है -

''हाल क्या सुनिएगा ! अब सुनना-सुनाना क्या है ! रामकिसुन आसरम मे भी हरिजन-भोजन होगा ।........ बिलेकपी कल मर गया । सिवनाथ बाबू आए है पटना से ।......... ससाक जी पराती सभापति हो गए है, वह भी पटना मे ही रहेगे ।. . . . सब आदमी अब पटना मे रहेगे । मेले लोग तो हमेशा वहीं रहते है ।........ सुराज मिल गया, अब क्या है !.......... छोटन बाबू का राज है । एक कोरी बेमान, बिलेक मारकेटी के साथ कचेहरी मे घूमते रहते है । हाकिमो के यहॉ दॉत खिटकाते फिरते है । सब चौपट हो गया.............''

'सब चौपट हो गया' कितनी अथाह पीड़भरी है बावनदास के इन चार शब्दों में । स्वाधीनता की असलियत बावनदास प्रसग में जिस तरह से 'मैला ऑंचल' में अनावृत्त हुई है, शायद ही पहले या बाद मे हुई हो । और अन्त मे, ब्लैक के कपड़े, चीनी और सीमेन्ट से लदी बैलगाड़ियों के नीचे उसका शरीर ही 'चित्थी-चित्थी' नहीं होता, स्वाधीनता को लेकर आम भारतीय द्वारा सजोए गए तमाम सपने भी चिन्दी-चिन्दी होकर बिखर जाते हैं । यह महज एक बावनदास की मृत्यु नही, मूल्यों, आदर्शों, सिद्धान्तों और स्वाधीन भारत को लेकर देखे गये सम्पूर्ण सपनों की मृत्यु है ।

देवेन्द्र सत्यार्थी के प्रसिद्ध उपन्यास 'ब्रम्हपुत्र' (1956) जिसे आलोचकों ने महाकाव्यात्मक उपन्यास की सज्ञा से नवाजा है, में पराधीनता के कोहरे से लेकर स्वाधीनोत्तर मोहभग तक की कथा पिरोई गई है । नायक देवकान्त पराधीनता के युग में रात-दिन अंग्रेजों से छुटकारा पाने की योजनाए बनाने में व्यस्त रहता है । भारत माता की गुलामी की बेड़ियॉं काटने में अपनी मॉं तक को भूल जाता है । स्वतंत्रता के प्रति उसकी यह निष्ठा सशस्त्र क्रांति के सिरमौर चन्द्रशेखर आजाद की याद दिला जाती है । एक दिन मिलने पर उसका मित्र अतुल उससे मॉं से मिलने का आग्रह करता है तो उसका जवाब होता है - ''मरना तो है एक-न-एक दिन, आगे या पीछे । मैं फॉंसी की रस्सी पर झूल जाऊँगा हँसते-हँसते, और मरने से पहले भारत माता की हथकड़ी और बेड़ी जितनी भी ढीली कर सकूँ, उतना ही अच्छा है ।''[62]

देवकान्त के साथ आई क्रांति की यह क्षीण धारा धीरे-धीरे ब्रम्हपुत्र सी विस्तीर्ण हो जाती है। प्रतिक्रियावादी ताकतें पराजित होती हैं । स्वाधीनता मिलती है परन्तु अन्त में स्वाधीनोत्तर यथार्थ का कड़वा अनुभव कथाकार को होता है । स्वराज्य के लिए उपन्यास में खून बहाने वाले

लोग देखते है कि जिस स्वराज्य की कामना मे उन्होने कुर्बानी दी थी, यह वह स्वराज्य नहीं है । पात्रो के साथ पाठको को भी अन्तत. चिन्ताग्रस्त मुद्रा मे लेखक खड़ा कर देता है ।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' अपनी चर्चित कविता 'लोहे का स्वाद' मे भोगे हुए यथार्थ और आरोपित सहानुभूति को अलगाते हुए लिखते है ''लोहे का स्वाद लोहार से मत पूछो उस घोड़े से पूछो जिसके मुँह मे लगाम है ।''[63]

घोड़ा और लोहार दोनों का वास्ता लोहे से होता है, किन्तु लोहा जो घोड़े के लिए है, वही लोहार के लिए नहीं । 'झूठा सच' (दो भाग) मे घोड़े के मुँह मे पड़ी हुई लगाम की तरह यशपाल की जिन्दगी की भोगी हुई पीड़ा ढलकर आती है । यह बृहदकाय उपन्यास दो खण्डो में विभाजित है । पहला भाग - 'वतन और देश' (1958) देश के एक दशक - सन् 46 से 56 - के इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज बनकर सामने आता है जिसमें विभाजन की पीड़ा और साम्प्रदायिक उन्माद के ज्वार का जीवन्त चित्रण हुआ है । 'वतन और देश' में वतन छूटने की कीमत पर देश मिलता है। वतन और देश के बीच विभाजक रेखा खींचने के लिए कौन जिम्मेदार है ? अंग्रेज या मतलबपरस्त तथाकथित देशभक्त ? राजनीतिक स्वार्थपरता की रोटियाँ सेंकने के लिए धर्मान्धता की जो आग जलाई गई उसकी रोमांचकारी कहानियाँ 'झूठा-सच' में दर्ज होती है और पाठक उपन्यास पढ़ते हुए निरन्तर एक आँच का अनुभव करता है ।

दूसरे भाग - 'देश का भविष्य' (1960) मे बड़ी निपुणता से देश में फैले भ्रष्टाचार को विश्वसनीय रूप में दिखाया गया है । पढ़ते समय यह कहीं से नहीं लगता कि हम कोई काल्पनिक कथा पढ़ रहे हैं प्रत्युत ऐसा भासता है मानों समकालीन भारत की जीती-जागती तस्वीरें देख रहे हों। भारत में शासन सत्ता का हाल देखकर मर्सी का प्रेमी कम्युनिस्ट मेहता कहता है - ''सब शासन पुराने आई.सी.एस. लोग चला रहे हैं । उन लोगों ने सेवा करना नहीं शासन करना सीखा है । उन्हें डेमोक्रेसी नहीं ब्यूरोक्रेसी की आदत है ।.......... रिवोल्यूशन में यह कभी नही होता कि पुराने ही शासक बने रहें । रिवोल्यूशन इज चेंज आफ रूलर्स, रिवोल्यूशन हुआ कहाँ, आप ही बताइए ।''[64] इस स्थिति को लेकर नर्स मर्सी को भी बहुत मलाल है वह अपना क्षोभ प्रकट करते हुए कहती है - ''क्या चेंज है ? और भी बुरा हाल है । पूँजीपतियों के हौसले बढ़ गए हैं । अब

तो उनके चन्दो से पलने वालो का राज है । ... लोगों को क्या मिला ?''[65] कितना ज्वलन्त प्रश्न है मर्सी का । आज हर आदमी की ऑखो मे यही प्रश्न झूल रहा प्रतीत होता है ।

यशपाल का सवेदनशील बुद्धिजीवी स्वाधीनोत्तर फैले, कुनबापरस्ती, नोच-खसोट और धॉधली से खिन्न है । समकालीन सत्य को शब्द देते हुए वे लिखते है - ''अग्रेजी सरकार के पुराने रायबहादुर और खैरख्वाह, अमन-सभाई और सरकारी अमलदारी से लाभ उठाने वाले लोग, काग्रेस के मेम्बर बनकर सफेद नोकीली टोपी पहनने लगे थे । अब काग्रेस का चन्दा चार-चार आने और रूपये-रूपये की रसीदो से इकट्ठा नहीं किया जाता था । चुनाव फण्ड मे चदा मिलों और कम्पनियो से बीस-चालीस हजार और लाख दो लाख रूपये के चेको से आता था । .... मत्रियो के मैट्रिक भी पास न कर सकने वाले सपूत सरकारी विभागो के अध्यक्ष बनकर हजार रूपये मासिक से भी असतुष्ट थे । मत्रियों के दामादो के लिए मैनेजिग डाइरेक्टर से कम कोई पद सोचा ही नहीं जा सकता था ।''[66]

राजनीतिज्ञो के इस नैतिक, चारित्रिक पतन तथा कुनबापरस्ती का परिणाम यह होता है कि ''लोग धारा सभा के सदस्यों {मेम्बर आफ लेजिस्लेटिव असेम्बली} को एम.एल.ए. न कह कर घृणा से 'मैले' लोग कहने लगे थे ।''[67] गौर करने की बात है कि सन् 1960 में ही छा गया इनका मैलापन उत्तरोत्तर बढता ही गया । आज ये सिर्फ 'मैले' नहीं, काले-चीकट हो रहे है और बदबूदार भी ।

सूद जैसे लोग जो निहायत ईमानदार छवि वाले नेता के रूप में जनता में ख्यात थे, भी स्वातत्र्योत्तर काल में पदासीन होते ही 'अपने लोगों' को पद-दुरूपयोग से उपकृत कर पाने का मौका नही छोड़ते । कोटा, परमिट की राजनीति चली तो पहुँच वाले लोगों की कमाई का जरिया बन गई और वास्तविक जरूरत मन्द किनारे फेंक दिए गये । उपन्यास के दो पात्रों आजाद और शकरलाल मठाबी के टिन के कोटे के प्रसंग में उपर्युक्त तथ्य को उद्घाटित किया गया है । सूद जी को सिन्धियों के वोट चाहिए थे । 'वोट बैंक' की राजनीति ने ही इस देश का बंटाढार कर दिया । यह कोई आज की राजनीति का ही काला पन्ना नहीं है बल्कि 'झूठा-सच' इस तथ्य का गवाह है

कि मौजूद राजनीति की तमाम विकृतियॉं, विद्रूपताए आजादी को प्रसूतिगृह से ही घेरकर बैठ गई थीं।

'अमृत और विष' {अमृत लाल नागर, 1966} का औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से दोहरी बुनावट वाला उपन्यास है । उपन्यास के भीतर के उपन्यासकार अरविन्द शकर उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते है जिसने आजादी की लड़ाई में सक्रिय भाग लेते हुए आजाद भारत के जाने कितने मधुर स्पप्न आँखों मे सजाये थे । आजाद देश मे उनकी तमाम पीड़ा मोहभग जनित पीड़ा है, जिसका वे सर्वत्र बयान करते हैं - ''जहन्नुम मे जाय ये बेपेंदी की सरकार और इसके कर्णधार। इन्होने चालीस करोड़ आदमियों को कुत्तों का सा जीवन बिताने के लिए मजबूर कर रखा है । इन्होंने व्यक्ति का आत्माभिमान नष्ट कर दिया है । अंग्रजी राज मे कम से कम हम तप तो लेते थे, उस गुलामी से जूझने के लिए हम अपने सिर तो तान लेते थे । मगर अब .... ? .... आज सब उलट गया । ईमानदार लोग मूर्ख माने जाते है । जो मोटरों पर न दौड़ सके, सरकारी परमिट न दिला सके वह भला देशसेवी कैसे कहा जाय ? ...... ये लोग अपने हलवे-मॉड़े की सुरक्षा के लिए स्वदेश को मूर्ख, कमजोर, कायर, निकम्मेपन से त्रस्त, प्रलापी पागलों का देश बनाए रखना चाहते है ।''[68]

1950 की 26 जनवरी को इस देश का सविधान लागू हुआ । कानून के राज्य की चारों ओर दुहाई फिर गई । इस कानून के राज्य का सच क्या है, उपन्यास के काग्रेसाध्यक्ष महोदय बताते है - ''अरविन्द जी, कानून चाक पर चढ़ी मिट्‌टी है, पैसे वाला उसे जैसा रूप देना चाहेगा, दे लेगा और आप कुछ न कर पायेंगे ।''[69]

आजादी के बाद स्वार्थलोलुप लोगों की एक लम्बी श्रृखला तो देश में तैयार होती ही है, गुलाम देश के आदर्शवादी नेतागण भी अपना रग बदल लेते हैं । 'झूठा-सच' के सूद को तो हमने देखा ही है । अरविन्द शंकर की जुबानी - ''सरकार में जाने के बाद हमारे बड़े-बड़े नेताओं में अब वह भावनिष्ठा और सिद्धान्तवादिता नहीं रह गई जो उनमें आजादी मिलने से पहले दिखाई देती थी । .... एक समय वह भी था जब कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में जाकर हमें आत्मसंतोष और जूझने की प्रेरणा मिलती थी, आज वहाँ जाने पर मुझे ऐसा लगता है जैसे कि जुएं के अड्डे मे

पहुँच गया होऊँ । .... जो इलेक्शन लड़ाने और परमिट दिलाने मे पटु हुए वे महत्वपूर्ण नेता बन गए । बुद्धि उस गलियारे मे जाकर भटक गई जहाँ पैसा भगवान और सत्ता जगदम्बा है ।''[70]

आजाद देश मे जीते हुए अरविन्द शकर को यही व्यथा बार-बार मथती है कि यह आजादी, जिसके लिए उन्होने और उनके जैसे अनेक लोगो ने अपनी जिन्दगी होम कर दी - 'क्या सुख पाया ?' वे कहते है - ''जो आजादी मिली भी वह मेरे काम की सिद्ध न हुई । मै उँगली उठाकर खुद अपनी गली, आस-पास के चार छ मुहल्लो और नगर के ऐसे कई लोगों को बतला सकता हूँ जो सन् उन्नीस सौ बयालीस तक आभ्यन्तर अंग्रेजभक्त या कायर दुमदब्बू थे । वे आज देशभक्त है और मुझे कम्युनिष्ट और नास्तिक तक कहने लायक गज भर की जबान रखते है । जमाना उनका है ।...... ....''[71]

'अमृत और विष' के अरविन्द शकर ही की तरह का दुःख 'आकाश की छत' {रामदरश मिश्र, 1979} के स्कूल शिक्षक दिनेश का है । उनका पुत्र यश बताता है - ''आजादी तो इन्ही सबो को मिली है । पिता जी बताते है कि वे भी कांग्रेसी थे और स्वाधीनता आन्दोलन में बड़ी तेजी से शरीक हुए थे । बड़े-बड़े नेताओं के साथ उन्होने काम किया था, घर द्वार छोड़कर अलख जगाते घूमे थे, लेकिन जब आजादी मिली तो उन्हें किसी ने नहीं पूँछा ।''[72]

ठीक यही दशा, दिनेश की सी दशा स्वातंत्र्योत्तर युग में 'अग्निबीज' {मार्कण्डेय} के साथो काका और 'काला जल' {शानी} के मोहसिन की भी होती है । मोहसिन कहता है - ''बताओ, क्या यह रोने का मुकाम नहीं है कि सचमुच त्याग और बलिदान के अवसर पर, जो नौकरी या प्रतिष्ठा की आड़ लिए सिर छिपाए बैठे थे, वे गाँधी टोपी ओढ़कर पाप धो बैठे और आज नेता, सरपरस्त तथा देशभक्त हैं और मिनटों में हम लोगों का भाग्य बना बिगाड़ सकते है ।''[73]

स्वतंत्रता प्राप्ति को लेकर सजाए गए मोहक सपनों के ताने-बाने से बुनी, आशाओं-आकांक्षाओं से भरी मानसिकता वाले पात्रों को लेकर पचास वर्षों में अनेक औपन्यासिक कृतियों का सर्जन हुआ है, जिनमें मोहभंग की पीड़ा की लड़ियाँ भी पिरोई हुई हैं । 1938-39 से शुरू हुई मोहभंग की इस प्रक्रिया में, आजादी के कारण भी किसी प्रकार का ठहराव न आ सका । स्वाधीनता मिलने पर नई आशाएं और आकाक्षाएं जरूर पैदा हुई थी परन्तु उसके साथ आए बंटवारे,

लाखो लोगों की बेघरबारी, भयानक हिसा, महात्मा गॉधी का त्रासद अन्त जैसी विभीषिकाओं ने जन-मानस मे कुठा भी भर दी थी । आजादी के तुरन्त बाद भारतीय जनता ने अनुभव करना शुरु कर दिया कि गौराग प्रभुओ के स्थान पर देशी प्रभुओ की जो सरकार आई है, वह तौर तरीको मे उससे कतई जुदा नहीं है । इसलिए भ्रष्ट, अनैतिक, सवेदनहीन, जड़ व्यवस्था के सामने बेवस, लाचार मनुष्य को निरन्तर बढ़ती हुई कमरतोड़ मॅहगाई, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, मुनाफाखोरी, रिश्वत, मतलबपरस्ती के मकड़जाल से छुटकारे की कोई उम्मीद नहीं दिखाई पड़ती थी । यही कारण है कि आजादी-हित लम्बे सघर्ष के बाद, अपने सपनो के लगातार खण्ड-खण्ड होकर बिखरते जाने के साथ-साथ भारतीय मन पहले से कहीं ज्यादा असतुष्ट, कुठित, अवसादग्रस्त और निराश होता चला जा रहा था । हिन्दी उपन्यासकार सहभोगी होने के साथ-साथ उसका तटस्थ आकलन भी निरन्तर करता रहा और इस मानसिकता की उपज के रुप मे नई-नई औपन्यासिक कृतियॉ सामने आती रहीं। जिनमें मुख्य रुप से 'लोक-परलोक' {उदयशकर भट्ट, 1958}, 'जमींदार का बेटा' {दयानाथ झा, 1959}, 'सत्ती मैया का चौरा' {भैरव प्रसाद गुप्त, 1959}, 'सूरज किरन की छॉव' {राजेन्द्र अवस्थी, 1959}, 'नदी फिर बह चली' {हिमाशु श्रीवास्तव, 1961}, 'अलग-अलग बैतरणी' {शिवप्रसाद सिह, 1967}, 'बबूल' {विवेकी रॉय, 1967}, 'माटी की महक' {सच्चिदानन्द धूमकेतु, 1967}, 'फिर से कहो' {मधुकर गगाधर, 1964}, 'जल टूटता हुआ' {रामदरश मिश्र, 1969}, 'अधेरे के विरूद्ध' {उदयराज सिह, 1970}, 'राग दरबारी' {1968}, 'पहला पड़ाव' {1987} और 'विश्रामपुर का सन्त' {2000} - {श्री लाल शुक्ल}, 'महाभोज' {मन्नू भडारी, 1979}, 'रीछ' {विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 1967}, 'सोनामाटी' {1995}, 'सात आसमान' {असगर वजाहत, 1996}, 'नमामि ग्रामम' {विवेकी रॉय, 1997}, 'कलिकथाः वाया बाइपास' {अलका सरावणी, 1998} और 'अल्मा कबूतरी' {मैत्रेयी पुष्पा, 2000} आदि के साथ-साथ इस श्रृंखला में और भी लड़ियॉ पिरोई जा सकती हैं ।

स्वतत्रता के बाद के भारत में 'अन्धायुग' का जो दौर शुरु होता है वह कहीं थमता नहीं वरन् उसका अँधेरा उत्तरोत्तर और गाढ़ा और भयावह और मारक होता चला जाता है, और युग के इस तम को हिन्दी उपन्यास ने 'मैला आँचल' {1954} में समेटने का जो क्रम शुरु किया वह अनेक 'पड़ाव' पार करते हुए अनवरत् यथार्थ की मंजिलें तय करता रहा । न युग का यह अंधकार कहीं छँटता दिखाई देता, और न साहित्यकार को इसे रचना में समग्र रुप से समेट लेने की जद्दोजहद ! यह कथा गॉव से नगर तक की यात्रा करती हुई कहीं सीधी-सपाट राहों पर चलती है तो कभी

'बाईपास' रास्तो से होकर गुजरती है । कुल मिलाकर कोई 'अन्त नहीं' इस अँधेरे का और न उसके जिद्दी किन्तु सजग चितेरे की जिद का ।

इन उपन्यासो में नगरीय परिवेश की कथा को सँजोने वाले उपन्यास भी है और ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित कथाकृतियॉ भी । स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश मे राजनीतिक विद्रूपता, सामाजिक विघटन-परिवर्तन, सास्कृतिक मूल्य-क्षरण और आर्थिक उठा-पटक जिस तरह नागर-मन को मथते है, कमोवेश उसी रूप मे ग्राम-जन को भी । बल्कि गॉव के लिए ये परिवर्तन अदृष्टपूर्व होने के कारण, उसके सहज-सरल मन को कुछ ज्यादा ही प्रभावित करते है और यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गाँव तक पहुँच चुकी-पहुँच रही, परिवर्तन की लहरे नगर रूपी सागर से ही उठती है । गॉव धीरे-धीरे इन लहरों में समाते जा रहे हैं ।

आगे के अध्यायो मे नगर से गॉवों तक पहुँचे तथा उपन्यासो में चित्रित इन प्रभावों का विचार-विश्लेषण शामिल है ।

सन्दर्भ

1 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना' - ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृष्ठ 25

2 'आठवें दशक की हिन्दी कहानी मे ग्रामीण जीवन' - गणेश प्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ 60

3 'सरोज स्मृति' - निराला

4 'नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति' - डॉ. देवीशकर अवस्थी (सम्पादक) पृष्ठ 211

5 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 66

6 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 403

7 'हिन्दी के आचलिक उपन्यासो में मूल्य सक्रमण' - वेद प्रकाश अमिताभ, पृष्ठ 116

8 'हिन्दी के आचलिक उपन्यासो में मूल्य सक्रमण' - वेद प्रकाश अमिताभ, पृष्ठ 116

9 धर्मयुग, 15 मार्च 1970, पृष्ठ 10, लेख - गौरीशकर भट्ट

10 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 16

11 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 16

12 धर्मयुग, 25 जनवरी 1970, पृष्ठ 45, लेख - 'गॉव की बदलती तस्वीर' - डॉ हरदयाल

13 'आधुनिक उपन्यास . विविध आयाम' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 84

14 धर्मयुग, 11 मार्च 1973, पृष्ठ 14, लेख - कुमार प्रशान्त

15 'राम की शक्ति पूजा' - निराला, सकलित - 'राग-विराग', पृष्ठ 94

16 इडिया टुडे - साहित्य वार्षिकी 2002, पृष्ठ 132, कविता - 'बेदखल' - निलय उपाध्याय

17 इंडिया टुडे - साहित्य वार्षिकी 2002, पृष्ठ 133, कविता - 'खेती नहीं करने वाला किसान' - निलय उपाध्याय

18 इडिया टुडे - साहित्य वार्षिकी 2002, पृष्ठ 132

19 'प्राचीन भारत' - एन.सी.ई.आर.टी., पृष्ठ 70, प्रथम संस्करण, मई 1990

20 'भारतीय समाज' - गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ 76

21 'प्राचीन भारत का इतिहास' - द्विजेन्द्र नारायण झा एव कृष्णमोहन श्रीमाली (सम्पादक), पृष्ठ 161

22 दैनिक जागरण (दैनिक पत्र), 24 अगस्त 2002, लेख - डॉ. देवर्षि शर्मा

23 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 125

24 'पहला पड़ाव' (उपन्यास) - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 68

25 'अधूरे साक्षात्कार' - नेमिचन्द जैन, पृष्ठ 33

26 ''साँप ! तुम सभ्य तो हुए नहीं,

नगर में बसना भी तुम्हे नहीं आया,

एक बात पूछूँ ? उत्तर दोगे ?

यह डसना कहाँ सीखा, विष कहाँ पाया ?''

- सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय'

27 हिन्दुस्तान (दैनिक पत्र), 5 अक्टूबर 2002

28 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 19

29 'नई कहानी की भूमिका' - कमलेश्वर, पृष्ठ 15

30 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 23

31 साक्षात्कार (मासिक), मार्च 2001, पृष्ठ 44 (मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा प्रकाशित पत्रिका)

32 साक्षात्कार (मासिक), मार्च 2001, पृष्ठ 44 (मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा प्रकाशित पत्रिका)

33 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 439

34 'त्रिवेणी' - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 1

35 अक्षरा (त्रैमासिक), अक्टूबर से दिसम्बर 2000, पृष्ठ 80, प्रधान सपादक - गोविन्द मिश्र

36 कथाक्रम (त्रैमासिक), अक्टूबर से दिसम्बर 2000, पृष्ठ 6

37 'हिन्दी उपन्यास . पहचान और परख' - इन्द्रनाथ महान (सम्पादक), पृष्ठ 34, लेख - उपन्यास और यथार्थ - मोहन राकेश

38 'परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए' - शिवदास सिह चौहान, पृष्ठ 71

39 'सुब्हे आजादी' - फैज अहमद फैज

40 'सुब्हे आजादी' - फैज अहमद फैज

41 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' - नामवर सिह, पृष्ठ 89

42 'अधा युग' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 10

43 'अधा युग' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 10

44 'अंधा युग' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 10

45 'अधा युग' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 11

46 'एक दुनिया समानान्तर' - राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 24

47 'अंधा युग' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 95

48 'अंधेरे में का महत्व' - प्रो. राजेन्द्र कुमार (सम्पादक), पृष्ठ 128

49 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (काव्य संग्रह), पृष्ठ 269 - मुक्ति बोध, कविता - अंधेरे में

50 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (काव्य संग्रह), पृष्ठ 279 - मुक्ति बोध, कविता - अंधेरे में

51 'आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास' - पुरूषोत्तम आसोपा, पृष्ठ 12

52 'गबन' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 175 - 176

53 'गबन' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 176 - 177

54 'गबन' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 177

55 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 164

56 'वरूण के बेटे' - नागार्जुन, पृष्ठ 31

57 'प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास' (पहला भाग) - डॉ. एस.गुलाटी, पृष्ठ 107

58 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' सम्पादक - भीष्म साहनी तथा अन्य, पृष्ठ 70, लेख - जब 'सूरज का सातवा घोड़ा' लिखा गया - धर्मवीर भारती

59 'सूरज का सातवा घोड़ा' - धर्मवीर भारती, पृष्ठ 58

60 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 128

61 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 128

62 'ब्रम्हपुत्र' - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ 66

63 'लोहे का स्वाद' - कविता - सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'

64 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 383

65 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 383

66 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 404

67 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 410

68 'अमृत और विष' - अमृतलाल नागर, पृष्ठ 45

69 'अमृत और विष' - अमृतलाल नागर, पृष्ठ 47

70 'अमृत और विष' - अमृतलाल नागर, पृष्ठ 49

71 'अमृत और विष' - अमृतलाल नागर, पृष्ठ 69

72 'आकाश की छत' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 36

73 'काला जल' - शानी, पृष्ठ 308

अध्याय - तृतीय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-नगर सम्बन्धः राजनीतिक आयाम

राजनीति और गाँव : स्वतंत्रता पूर्व

प्रायः ग्राम और राजनीति को दो अलग-अलग और परस्पर विरोधी छोरो पर स्थित सीमान्त माना जाता है । यह स्वतः सिद्ध तथ्य है कि राजनीति, आधुनिक राजनीति, सत्ता प्राप्त करने की एक परिष्कृत कला और माध्यम है, जो पूरी तरह से नगरीय चीज है । भारत के गॉवो का जिस राजनीति से पुराना परिचय था उसका इस 'पालिटिक्स' पर्याय वाली राजनीति से दूर-दूर तक का कोई नाता नही दिखता । सन् 1857 की क्राति के पूर्व भारत के नगरों मे भी राजनीति का कोई स्पष्ट व व्यापक रूप दिखाई नहीं देता । वास्तव मे अभी तक 'राष्ट्रवाद' जैसी भावना का ही कोई स्थिर स्वरूप स्थापित नहीं हो पाया था । शहर के लोग अपनी शैली मे जीवन जी रहे थे और गॉव के लोगों ने वर्तमान 'राजा' के रूप मे गोरे शासकों को स्वीकार सा कर रखा था ।

उन्नीसवी सदी मे आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और विचारधारा के प्रसार के फलस्वरुप बहुत बड़ी सख्या मे भारतीयो ने एक आधुनिक, बुद्धिसगत, धर्मरिपेक्ष, जनतात्रिक तथा राष्ट्रवादी, राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाया । वे यूरोपीय राष्ट्रों के समसामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलनों का अध्ययन, उसकी प्रशसा तथा अनुकरण करने के प्रयत्न भी करने लगे । रूसो, पेन, जान स्टुअर्ट मिल तथा दूसरे पाश्चात्य विचारक उनके राजनीतिक मार्गदर्शक बन गए और मैजिनी, गरीबाल्डी तथा आयरलैण्ड के राष्ट्रवादी नेता उनके राजनीतिक आदर्श हो गए ।

विदेशी दासता के अपमान की चुभन को सबसे पहले इन्हीं शिक्षित भारतीयों ने महसूस किया । विचारों से आधुनिक बनकर इन लोगों ने विदेशी शासन की बुराइयों के अध्ययन की योग्यता भी प्राप्त कर ली । इन्हें एक आधुनिक, मजबूत, समृद्ध और एकताबद्ध भारत की कल्पना से प्रेरणा प्राप्त होती रही । कालान्तर में इन्हीं लोगो में से निकलकर कुछ लोग राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता और सगठनकर्ता बने ।

आधुनिक शिक्षा के साथ प्रेस भी वह महत्वपूर्ण साधन था जिसके द्वारा राष्ट्रवादी भारतीयों ने देशभक्ति की भावनाओं का, आधुनिक, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक विचारों का प्रचार किया तथा एक अखिल भारतीय चेतना जगाई । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी

समाचार पत्र निकले, जिनमे सरकारी नीतियो की लगातार आलोचना होती थी, भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखा जाता था, लोगों को एकजुट होकर राष्ट्रीय कल्याण के काम करने के प्रति जागरूक किया जाता था तथा जनता के बीच स्वशासन, जनतत्र, औद्योगीकरण आदि के विचारो को लोकप्रिय बनाया जाता था । देश के विभिन्न भागो में रहने वाले राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं को भी परस्पर विचारों के आदान-प्रदान करने में प्रेस ने समर्थ बनाया । कुल मिलाकर निष्कर्ष रूप मे यदि कहे - ''नवजागरण से उत्पन्न नवीन विचारो के प्रचार-प्रसार मे रेल, डाक, तार, प्रेस एव पत्रकारिता की अहम् भूमिका रही ।''[1]

उक्त सक्षिप्त विवरण से यह बात भलीभाति जाहिर हो जाती है कि 'राजनीति' विशुद्ध शहरी चीज है तथा उसके आधुनिक रूप की सुगबुगाहट सर्वप्रथम शहरो में ही उभरती है और नए उपलब्ध वैज्ञानिक उपकरणो का सहारा लेकर गॉवों तक फैलती है । धीरे-धीरे ग्रामीण जन भी नवजागरूक, शिक्षित नगरीय राष्ट्रवादी नेताओं के विचरो को ग्रहण कर स्वतंत्रता सघर्ष मे शामिल हो जाता है । राष्ट्रीयता की इस भावना के जागरण का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए डॉ. निर्मला अग्रवाल लिखती है - ''बीसवी सदी तक आते-आते अग्रेजी नीतियों के प्रति घृणा की भावना जोर पकड़ती गई और तत्कालीन भारतीय मनीषा यह सोचने के लिए विवश हो गई कि एक जाति पर दूसरी जाति का यह अन्याय करने का अधिकार क्यो है ? फलस्वरूप सांस्कृतिक और सामाजिक जागरण की चेतना का उदय होता है । देशव्यापी सास्कृतिक आन्दोलनों का जन्म हुआ जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीयों को उनके वास्तविक स्वरुप से परिचित कराना था । कालान्तर में नवजागरण की इस चेतना का राष्ट्रीय भावना के रूप में विकास हुआ और देश को स्वाधीन देखने की ललक जाग उठी ।''[2]

'देश को स्वाधीन देख उठने की ललक जाग' उठने के बाद स्वाभाविक ही था कि उसके लिए देशवासियों के संघर्ष की शुरूवात होती । नगरों से शुरु होकर यह सघर्ष गाँवों तक पहुँचता है। इतिहास और साहित्य दोनों इस बात के साक्षी हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लम्बे संघर्ष में ग्रामीणो ने एक मुख्य भूमिका निभाई ।

हिन्दी उपन्यासों में गाँव तक राजनीति दो तरह से पहुँचती है । प्रथम, नगर का कोई पात्र गाँव तक इसी उद्देश्य से जाता है और वहाँ राजनीतिक चेतना जागृत कर, उत्तरोत्तर उसके विकास

की परिस्थितियॉ निर्मित करता है । द्वितीय कोई ग्रामवासी, शिक्षार्थ, रोजगारार्थ या किसी अन्य कार्यवश नगर पहुँचता है और वहॉ से राजनीतिक चेतना में दीक्षित होकर गॉव वापस लौटता है और ग्रामीण-मानस मे, प्राप्त चेतना के उभार मे प्रयत्नशील होता है । यह आवागमन हिन्दी उपन्यासो मे स्वाधीनता पूर्व युग से ही शुरु हो जाता है और इसके स्पष्ट दर्शन हमे मुशी जी के यहॉ से मिलने लगते है ।

प्रथम चरण

'रगभूमि' मे विनय जो स्वय एक राजा का लड़का है, नगर मे रहकर अपनी माता जाह्नवी देवी के प्रभाव से राष्ट्रभक्ति के रग में पूरी तरह रग जाता है, को उसकी मॉ राजस्थान के गॉवो मे भेजती है । वहॉ जाकर वह देखता है कि राजा और जागीरदार अग्रेज की कठपुतलियॉ है और वहॉ की प्रजा को दोहरा जुल्म सहना पड़ता है - एक तो अग्रेज का, दूसरा उसकी कठपुतली का । विनय और उसके साथ आये नागर मित्र, इन्द्रदत्त आदि ग्रामीणों की सेवा के साथ-साथ जन-जागरण का काम भी करते है । राष्ट्रभक्त युवकों का यही दल अपने शहर के बगल के गॉव 'पांड़ेपुर' के ग्रामीणों के हित में भी सघर्ष करता है और विनय तो अन्ततः पांड़ेपुर में ही पुलिस की गोली से प्राण त्यागकर गॉंव वालों के लिए एक मिसाल कायम करता है । रगभूमि को स्वय मुंशी जी एक राजनीतिक उपन्यास स्वीकार करते है । डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार - '' 'रगभूमि' सन् '20' और '30' के आन्दोलनों के बीच हिन्द प्रदेश की रंगभूमि है ।''[3]

'कर्मभूमि' (1931) हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास है । यह आन्दोलन जो नगर से शुरु होता है एक जबरदस्त सैलाब की तरह तमाम जनता को अपने अदर समेट लेता है । 'कर्मभूमि' हिन्दुस्तानी जनता के उन स्तरों को रंगमंच पर ला खड़ा करता है जिनके दर्शन पहले हिन्दी कथा-साहित्य में कम हुए थे, ये शहर और गॉवों के गरीब अछूत है ।

अमरकान्त अच्छे खाते-पीते परिवार का युवक है, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव से समाज-सेवा के कार्यों में भाग लेता है । विधार्थी जीवन में अमरकान्त अपने दोस्त सलीम के साथ

गॉवो की आर्थिक दशा का अध्ययन करने जाता है । उनकी गरीबी देखकर उसका हृदय द्रवित हो उठता है और उसके राष्ट्रीय विचार और दृढ होते है । आगे चलकर अमरकान्त पूर्णतया समाज-सेवारत हो जाता है, जिसका विरोध महाजन पिता द्वारा होने पर वह एक गॉव मे जाकर किसानो का सगठन करता है और उनके उत्थान के लिए अग्रेजी सरकार के स्थानीय पिट्ठुओ से लोहा लेते हुए इन बेवस-गरीब ग्रामीणों को स्वाधीनता-सघर्ष के लिए तैयार करता है ।

गोदान (1934) तक आते-आते ग्रामीण जनता स्वाधीनता-सघर्ष को पहचानने लगती है और उसके निमित्त संघर्ष करने वाले नेताओ को सम्मान देने लगती है । 'गोदान' के राय साहब का परिचय देते हुए मुशी जी लिखते है - ''पिछले सत्याग्रह सग्राम में राय साहब ने बड़ा यश कमाया था । कौसिल की मेबरी छोड़कर जेल गये थे । तबसे उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी ।''[4]

डॉ. वृन्दावनलाल वर्मा का 'अचल मेरा कोई..........' (1948) में राजनीतिक विचारधारा को गॉव तक पहुँचाने का काम नागर अचल द्वारा होता है । स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले मे जेल काट रहे अचल का परिचय दो ग्रामीणजनो, पचम और गिरधारी से होता है । पचम और गिरधारी जेल में रहकर स्वाधीनता-आन्दोलन से प्रभावित होते है तथा छूटकर अपने गॉव पहुँचने पर वे राजनीतिक क्रिया-कलापों में सलग्न हो जाते है । अचल द्वारा उन्हें पत्र-पत्रिकाएं उपलब्ध कराई जाती है जिससे गॉव में राजनीतिक सरगर्मी बढ़ने लगती है । उपन्यासकार का वर्णन है - ''पंचम साप्ताहिक पत्रों की चुनी हुई खबरे और राजनीतिक सम्मतियाँ सुनाया करता था । उसके समूह में विशेषकर, और गाँव में साधरणतया राजनीतिक सुरसुरी गरमी पर आनें लगी ।''[5] पंचम जैसे ग्रामीण राजनीति को समझने तो लगते है परन्तु राजनीतिक ज्ञान के लिए उन्हें यह आवश्यक लगता है कि अचल जैसे लागों के सम्पर्क में बने रहें और इसी आवश्यकता के चलते - ''पंचम ने अचल को अपने गाँव में कभी-कभी आने के लिए राजी कर लिया ।''[6]

अचल को ग्रामीणों की इस राजनीतिक जारुकता पर बड़ी प्रसन्नता होती है । वह कल्पना करता है - ''यदि प्रत्येक गाँव में ऐसे और इतने ही निर्भीक लोग पैदा हो जायें तो कितनी बड़ी सख्या में सिपाही न हो जायेंगे । कौन उनका मुकाबला कर सकेगा ?''[7] यह अचल की संगति का ही परिणाम है कि पंचम, गिरधारी जैसे ग्रामीण निरन्तर राजनीति की बारीकियों को समझने लायक

बनते जाते है । इस राजनीतिक जागरूकता का ही परिणाम होता है कि ये लोग समाचार पत्रों मे अथाह रुचि रखते है । पचम, अचल को हर्षमग्न होकर बताता है - ''अरे साहब, पत्र पर पत्र पढ़ते है हम लोग । प्रताप, सैनिक, अर्जुन—''[8]

इन ग्रामीणों को राजनीति के मार्ग पर चलने के लिए दिशा-निर्देश निरन्तर नगरवासी अचल द्वारा मिलते है । वह उन्हें मेम्बरों की सख्या बढ़ाने, राष्ट्रीयगीत गाने, परसेवा करने तथा अत्याचार के सामने सिर न झुकाकर निडर बनने की प्रेरणा देता है । सिर्फ पुरुष वर्ग को ही नही वह ग्रामीण स्त्रियों को भी स्वाधीनता आन्दोलन मे शामिल करना चाहता है । अचल पचम से कहता है - ''स्त्रियो को आजादी की सास लेने दो । उनका तो समाज ने कचूमर सा ही निकाल दिया है । अपने आन्दोलन में उनको भी शरीक करो ।''[9]

इस प्रकार अचल के प्रयासो के चलते गॉव में जो भी आन्दोलन हुआ उसकी गति-प्रगति निरन्तर तेज होती गई । राजनीतिक चेतना की ऑधी सी आई और यह आँधी न केवल पुलिस के थानों से जा टकराई बल्कि गॉवों को उसने समूल हिला दिया ।

उपन्यास में गाँवों तक जाकर आजादी की अलख जगाने वाला अकेला शहरी अचल ही नहीं है । शहर की एक भद्र महिला कुती भी गॉव तक जाती है और महिलाओं में जागृति का भाव उत्पन्न करने की भरसक चेष्टा करती है ।

द्वितीय चरण

जैसा कि पहले ही हम देख चुके हैं कि राजनीति की चिन्गारी की सुलगन स्वतंत्रता पूर्व युग में, शहर से प्रारम्भ होती है । धीरे-धीरे यह आग गाँवों तक फैलती है । गाँव तक राजनीतिक जागृति पहुँचने का दूसरा रूप जो उपन्यासों में चित्रित है, वह यह है कि गाँव का कोई व्यक्ति शहर जाता है और वहाँ से राजनीतिक विचार प्रभाव ग्रहण कर गाँव वापस लौटता है तथा राजनीतिक जागरण के काम में लग जाता है ।

नागार्जुन कृत 'बलचनमा' (1952) का बलचनमा अपनी 'मलिकाइन' के भतीजे फूलबाबू, जो पटना में पढ़ते थे, की सेवा टहल के लिए पटना जाता है ।[10] फूलबाबू के गाँधी जी से प्रभावित

हो जेल चले जाने पर बलचनमा को उनके मित्र महेन बाबू अपने घर ले जाते है ।[11] यहीं, महेन बाबू के घर मे बलचनमा राजनीति के 'ककहरे' से परिचित होता है । शुरू-शुरू में यह 'राजनीति' उसके समझ मे नहीं आती । वह बताता है - ' गॉंधी जी के हुकुम से बाबू लोग गिरफ्तार हो रहे थे । हमारे फूलबाबू को भी गॉंधी जी की हवा लगी थी । मगर मेरी समझ मे नहीं आता कि क्यो लोग नाहक अपने को पकड़वाते है । न मार-पीट न गाली गलौज, न झगड़ा न झझट । फिर क्यो किसी को पुलिस पकड़ कर ले जाती है । सरकार पगला तो नहीं गई है ? मैने एक दिन महेन बाबू से पूछा भी और उन्होंने जवाब मे वहुत सारी बाते बताई । मगर भैया मेरी समझ में कुछ नहीं आया ।''[12] समझ मे कुछ आया हो या न आया हो राजनीति का बीज-वपन तो हो ही चुका है । वह महेन बाबू से 'सोराज' का अर्थ पूछता है और उसे बताया जाता है कि 'सोराज' आने पर सबके दिन फिर जायेगे । सबके ![13]

पटना से वापस लौटकर बालचन्द्र उर्फ बलचनमा 'बरहमपूरा' कांग्रेस आश्रम के 'महत' राधा बाबू के पास रहने लगता है और वहीं राजनीति के अध्याय के अगले पन्ने पढता है – अक्षर-ज्ञान तो उसे पटना मे हो ही चुका था । बलचनमा के पूछने पर कि, यह असहयोग है क्या? उसे आश्रम मे जवाब मिलता है - ''गॉंधी महात्मा ने यह तरीका निकाला था कि दुश्मन अगर ताकतवर हो तो तुम लाठी से उसका मुकाबला नहीं कर सकते, हॉं उससे बोल-चाल बन्द कर दो, उसके किसी काम में मदद न पहुँचाओ । दुश्मन दच्छिन की ओर मुँह करके खड़ा रहे तो तुम पीठ फेरकर अपना मुँह उत्तर तरफ कर लो ।''[14]

आगे चलकर राधा बाबू सोसलिस्ट हो जाते है और बलचनमा भी उनका अनुगमन करता है । यहाँ आकर वह 'कामरेड' हो जाता है । पहली बार कामरेड बुलाये जाने पर का अनुभव सुनाते हुए वह बताता है - ''कामरेड ! - यह तो मैंने कभी सुना ही नहीं था । उस रोज तो इसका मतलब मैं मालूम नहीं कर सका लेकिन दो दिन बाद मालूम हो गया । कामरेड का मतलब है लड़ाई का साथी । एक ही मोर्चे के दो फौजी जवान एक दूसरे को कामरेड कह कर बुलाते हैं । अपने हक के लिए लड़ने वाले हम गरीबों के लिए कामरेड से जास्ती प्यारा कोई लबज है नहीं ।''[15] कामरेड होकर वह संघर्ष की नई विचारधारा से परिचित होता है - ''रहिमन चाक कुम्हार के माँगे दिया न देय बिल में डण्डा डाल के जो चाहे गढ़ि लेय ।''[16]

'अचल मेरा कोई..........' की ही भाति 'बलचनमा' मे राजनीति मे इन नवदीक्षित ग्रामीणो को शहर से निकलने वाले पत्र पढने को मिलते है । पटना से निकलने वाला साप्ताहिक 'क्राति' जो किसानो और मजदूरों के बारे मे खुलकर लिखता था और जिसकी 'पॉती-पॉती' से असन्तोष की चिन्गारी निकलती थी, के साथ और दो-एक अखबार गॉव मे आने लगते है ।

इस प्रकार पटना जाकर बलचनमा का राजनीति से पहला साक्षात्कार होता है और फिर यह परिचय उत्तरोत्तर और प्रगाढ़ होता चलता है । चिन्गारी से चिन्गारी फैलने के तर्ज पर उसके समवर्गी ग्रामीण उसके साथ जुड़ते चले जाते है और एक श्रखला बनती चली जाती है ।

स्वतत्रता पूर्व युग मे नगर से गॉव तक पहुँच रही राजनीति का अच्छा खासा विवरण फणीश्वर नाथ रेणु कृत 'मैला ऑचल' मे प्राप्त होता है । चन्ननपट्टी का निवासी ग्रामीण बालदेव शहर के राजनेताओं के सम्पर्क में आकर अॅग्रेज हाकिमों के जुल्म सहता है, जेल जाता है और फिर अपने केन्द्रीय नेताओं द्वारा मेरीगज गॉव मे राजनीति की अलख जगाने भेज दिया जाता है । मेरीगंजवासी अभी तक राजीनति के प्रभाव से एकदम अछूते हैं । वे बालदेव को सन्देह की दृष्टि से देखते है और उसके कामो में व्यवधान उत्पन्न करते है । बालदेव उन्हे समझाता है - ''पियारे भाइयो ! सेवा-वर्त जब हम लिया है तो इसको छोड़ नहीं सकते.......... । 'अधी होकर पुलिस चलावे पर डडों की परवाह नही !' आप लोग अपने गॉव में सेवा नहीं करने दीजिएगा, हम चन्ननपट्टी चले जायेंगे । वहाँ आसरम है, घर-घर चरखा-करघा चलता है ।''[17] गॉव वालों पर उसकी बात का प्रभाव पड़ता है- ''यह अपने गॉव का भाग है कि बालदेव जी जैसा हीरा आदमी यहॉ आकर रहते हैं । अपना गॉंव भी अब सुधर जायेगा । जरूर.......... ।''[18]

गॉंव का उत्साही, कसरती नौजवान कालीचरण बालदेव से प्रभावित होकर उसका 'चेला' बन जाता है । कालीचरन बुद्धिमान है और बहादुर भी । वह गॉंव के नौजवानों का संगठन बनाता है और मेरीगंज में ''गन्ही महातमा की जै !'' के नारे गूँजने लगते हैं ।

फिर एक दिन बालदेव की सदारत में गॉंव मेरीगंज के लोग जुलूस की शक्ल में शहर पुरैनिया जाते हैं । ''शहर के लोग भी अचरज से इस जुलूस को देख रहे हैं ।''[19] सिवनाथ चौधरी जी, गांगुली जी, शशांक जी, बाथबाबू सभी आश्चर्य से देखते हैं । चौधरी जी बालदेव से अत्यधिक प्रशन्न हैं । बाथबाबू अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहते हैं - ''ऐसे ही सभी वरकर अपने फील्ड

मे वर्क करे तब तो ? दो महीने में इतने गॉव को अकेले ही आरगेनाइज कर लिया है । चवन्निया मेम्बर कितना बनाया है ? पॉच सौ ? तब तो तुम...... आप जिला कमिटी के मेबर हो गए ।''[20]

परन्तु इसी दिन शहर मे एक घटना – राजनीतिक महत्व की - और घटती है और मेरीगज की राजनीति मे नई धाराए फूट पड़ती है । होता यह है कि गॉव से आये इस विशाल जुलूस से शहर की सोसलिस्ट पार्टी के नेतागण प्रभावित होते है और गॉव तक अपनी पहुँच बनाने के लिए बेताब हो उठते है । घटना का वर्णन करते हुए उपन्यासकार लिखता है - ''लेकिन कालीचरन और बासुदेव कहॉ रह गए ? भीड़ मे से किसी ने कहा - वे दोनों एक पैजामावाले सुराजी बाबू के साथ न जाने कहॉ जा रहे थे ।... पैजामावाला सुराजी बाबू ? लेकिन बिना पूछे क्यो गया ? सहरवाली बात है ।''[21]

ये पैजामावाले सुराजी बाबू लोग सोसलिस्ट पार्टी के लोग हैं, जो कालीचरन और बासुदेव को अपनी विचारधारा में शामिल कर लेते है और शहर से गॉंव लौटते समय दोनों के साथ होता है- पार्टी 'लिटरेचर', 'मेबरी की जिल्दे', 'लाल पताका' की एक कापी और 'लाल झडा' । गॉव से पुरैनिया गए कालीचरन और बासुदेव जब गॉंव वापस लौटते है तो कामरेड कालीचरन और कामरेड बासदेव के रुप मे । रास्ते में कालीचरन बासुदेव को समझाता है - ''यही पाटी असल पाटी है । गरम पाटी है । 'किराती दल' का नाम नहीं सुना था ? .... 'बम फोड़ दिया फटाक से मस्ताना भगत सिह', यह गाना नही सुने हो ? वही पाटी है । इसमें कोई लीडर नहीं । सभी साथी है, सभी लीडर है । सुना नहीं हिंसाबात तो बुरजुआ लोग बोलता है । बालदेव जी तो बुरजुआ है, पूॅजीवाद है ।...... इस किताब में सब कुछ लिखा हुआ है । बुरजुआ, पेटी बुरजुआ, पूँजीवाद, पूॅजीपति, जालिम जमींदार, कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हों ।....''[22] और ये नए कामरेड गा उठते है -

> ''उठ मेहनतकश अब होश में आ
> हाथ में झंडा लाल उठा,
> जुल्म का नामो निशान मिटा
> उठ होश में आ बेदार हो जा ।''[23]

'बलचनमा' के बलचनमा की भी काग्रेस से शुरू होने वाली राजनीतिक यात्रा का मार्ग आगे चलकर क्राति पार्टी का हो जाता है । कालीचरन की काग्रेसी धारा का पर्यवसान भी उसी मे। कदाचित यह दोनों उपन्यासकारो की राजनीतिक दृष्टि की समानता का परिचायक है ।

'वरुण के बेटे' (1966) के मलाही गॉव के नवयुवक मोहन मॉझी को भी राजीनतिक चेतना शहर से प्राप्त होती है और वह समाजवादी पार्टी का सदस्य हो जाता है । राजनीतिक स्वतत्रता के इस निर्भीक सिपाही के प्रयासो के परिणामस्वरूप गॉव के शोषित दलित लोगों के मन में स्वाधीनता की चिन्गारी भड़क उठती है और सारा गॉव ॲगड़ाई लेकर जूझने को तैयार हो उठता है । बलचनमा की भाति वरुण के बेटो को भी दोहरे स्तर पर अपनी लड़ाई लड़नी पड़ती है । एक तरफ अग्रेज सरकार से तो दूसरी तरफ उसके पिट्ठू स्थानीय जमीदार वर्ग से ।

देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रम्हपुत्र' (1956) का नायक देवकान्त का राजनीति से परिचय शहर की धरती मे होता है और वह कलकत्ता मे क्रातिकारियो के सम्पर्क मे आकर स्वतत्रता सघर्ष मे जुट जाता है । उसे एक ही धुन सवाह रहती है - येन-केन-प्रकारेण भारत माता की गुलामी की बेडियो को काटने की । इस धुन में वह अपनी माता तक को भुला बैठता है । अपने इस भागीरथ प्रयास में उसे अन्ततः अपने प्राण भले ही त्यागने पड़ते हैं किन्तु वह 'माझुली' गॉव में क्राति की ज्वाला धधका जाता है ।

आग फैलाने के लिए आग की एक चिन्गारी बहुत होती है । देवकान्त इसी चिन्गारी का काम करता है जिसके प्रभाव से आसाम के शांत, बेखबर गाँव राजनीतिक हलचल से भर उठते है । वे थाना फूँक देते हैं और ॲग्रेजों के ऑख की किरकिरी बन जाते हैं । राजनीतिक चेतना से युक्त होकर ये ग्रामवासी ब्रम्हपुत्र में बहकर आने वाली लकड़ी पर अपना हक जताते हैं और इसके लिए आन्दोलन करते हैं । राजनीतिक जागृति का परिणाम यह होता है कि अतुल के पिता अपना 'गाँव-बूढ़ा' का पद त्याग देते हैं और राखाल काका अपनी 'पेंशन' लेना छोड़ देते हैं । सारे गाँव का सोया आक्रोश जाग उठता है और वे एकजुट होकर सत्याग्रह का निर्णय लेते हैं ।

उदयराज सिंह कृत 'भूदानी सोनिया' (1957) के नवीन और डॉक्टर को नगरीय संपर्क के चलते ही तत्कालीन राजनीति प्रभावित करती है और वे स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाते

हुए विभिन्न स्थलो पर प्राणो की बाजी लगाकर राष्ट्रीय भावना का परिचय देते है । कॉलिज से जब पुलिस उनके पीछे लग जाती है तो रात के अँधेरे में ही वे स्टेशन पहुँचते है और गॉव के लिए रवाना हो जाते है । क्योकि गॉव की ताकत की उन्हे बखूबी पहचान है । डाक्टर शहर से गॉव आकर गॉव-गॉव मे राजनीतिक चेतना की अलख जगाता है । वह कहता है - ''हम लोग गॉंव-गॉव मे बिखर जाये । भारत की आत्मा को जाकर छुएँ उसे जगाए । मगर भारत एक जिन्दा देश है । उसकी जनता सोई न होगी, वह तो स्वतः जाग पड़ी होगी फिर हमे उनके बीच रहना चाहिए........ चलो नवीन, गुलगुल बिछौने को छोड़ दो । उन करोड़ों मे से एक तुम भी बनो.......... बनो......... ।''[24]

'पानी के प्राचीर' {रामदरश मिश्र, 1961}, की कथा भी स्वतत्रता युग-पूर्व की बात करती है । उपन्यासकार ने 'पॉड़ेपुरवा' गॉव के आजादी के आन्दोलन में भागीदारी के जीवन्त चित्र उरेहे है । मलिन्द जो इसी गॉव का युवक है, और शहर में रहकर एम.ए. में अध्ययनरत है, ग्रामीणों को राजनीतिक घटनाक्रम की जानकारियाँ देता है ।

उपन्यास मे उन दिनों का जिक्र है जब आजादी का आन्दोलन जोरों पर होता है । गॉधी, जवाहर के जय-जयकारों से गॉव-गॉव गूँज रहे थे । बरास्ते शहर आई राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप पाँडेपुर गाँव में भी कांग्रेस की जय बोलने वालों का एक झुण्ड[25] तैयार हो जाता है । इस झुण्ड मे जहाँ फेंकू हरिजन और दिनई और भगत जैसे हरिजन लोग शामिल थे वहीं गनपति पॉड़े भी । तात्पर्य यह है कि स्वाधीनता के सपनें देखने में लोगों ने जाति-पाँति का भेदभाव भुला दिया था । मलिन्द गनपति पाँड़े को खूब प्रोत्साहित करता है ।

उपन्यासकार पाँड़ेपुरवा गाँव की राजनीतिक जागृति को शब्दों में बाँधते हुए लिखता है- ''इन दिनों गाँधी, जवाहर का नाम बड़े जोरों पर था । ऐसा मालूम पड़ता था कि आजादी अब मिली तब मिली । इसलिए नेता गनपति अपने साथ बहुत से जवान और अधेड़ आदमियों को लेकर शाम को खाने-पीने के बाद गाँव का चक्कर काटते हुए नारे लगाते - ''भारत माता की जय, गाँधी बाबा की जय, जवाहर लाल नेहरू की जय,............. फेंकू, दिनई और भगत हरिजन भी अपने झुण्ड के साथ जुलूस में शामिल होते और हँस-हँसकर नारे लगाते । इस जुलूस में शामिल

होने वाले कुछ और प्रमुख व्यक्ति थे - निरबल तेली, भीखन गड़ेरी और दधिबल यादव । ये लोग अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि थे । गॉव की जनता इन्हे सुराजी कहती थी ।''[26]

तात्पर्य यह है कि पूरा गॉव आजादी के आन्दोलन के रग मे सराबोर था । 'मैला ऑचल' के 'मेरीगज' की तरह ।

'अलग-अलग वैतरणी' {1967} - शिवप्रसाद सिह, के गॉव 'करैता' का सुखदेव राम पारिवारिक वजहो के चलते गॉव से शहर भाग जाता है । गौरमतलब तथ्य यह है कि अभी करैता में स्वाधीनता आन्दोलन तो दूर स्वाधीनता के मायने तक लोग नहीं समझते ।

गॉव से भागा हुआ सुखराम गाजीपुर से बनारस तक के चक्कर लगाता है और इसी दौरान स्वाधीनता आन्दोलन के रग मे रगकर काग्रेसी हो जाता है ।[27] कॉगरेसी होकर तो जैसे सुखदेव राम का कायाकल्प हो गया - बिल्कुल 'खॉटी' खादी का उज्जर कुर्ता और लकलक साफ धोती, माथे पर 'गान्ही' टोपी जो देखे पहचान न सके ।[28] इन्ही सुखदेव राम से अचानक एक दिन काशी में गॉव के गोगई महाराज भेंटा जाते हैं ।29 सुखदेव राम उन्हें 'कागरेस के जिला-दफ्तर में ले गये। वहॉ देश के बड़े-बड़े नेताओं का चित्र देखकर गोगई महाराज की ऑखे भर-भर आई और भाव-गदगद गोगई महाराज कह उठे - ''धन्न हो । धन्न हो । सुखदेव राम जी............... उद्धार हो गया बेटा, जान लो कि हॉं । ऐसी बोलती मूरतें ऑंख से देख लीं । ई सब रतन है देस के । हम पतित लोगों को कहॉ दरसन मिलता है इनका ।''[29] ये 'बोलती मूरतें' कॉग्रेस के बड़े नेताओं की तस्वीरें हैं और यह सन् 42 का जमाना था ।

जब गोगई महाराज बनारस से करैता लौटते हैं तो ''उनके झोले में बाबा विश्वनाथ के 'परसाद' की जगह छोटा सा तिरंगा झंडा और दो चार गॉंधी टोपियॉं थी ।''[30]

सुखदेव राम की काशी से करैता वापसी एक छोटे से कॉंग्रेसी जलसे का रूप ले लेती है । 'सुराज' की भावना से भरे गोगई महाराज ने अपने प्रेरणास्रोत की वापसी पर ''सर पर गॉंधी टोपी लगाई और चिल्ला पड़े - 'इंकलाब जिन्दाबाद' ।''[31] गॉंव के जमींदार जैपाल सिंह तक इस जलसे में शिरकत करते हैं और यहीं से करैता में राजनीति का बीज-वपन होता है - ''अचानक सुराज के

प्रति भीड़ की 'सरधा' बढ गई । लोगों के होठ फरफराये और भारत माता तथा गॉधी जी की जै-जैकार से स्कूल का अहाता थरथराने लगा ।''[32]

किन्तु इतना आसान नहीं था करैता मे राजनीति के बीज का अकुरण । सुखदेव राम के साथ दिनभर गोगई महाराज राजनीति के प्रयोगार्थ जमीन तैयार करने की योजनाए बनाते, पर ''जमीन साली इतनी कड़ी थी कि कही से उन्हे रास्ता देने को तैयार न होती थी ।''[33]

दोनों करैताई देशभक्त - सुखदेव राम और गोगई महाराज क्रमशः पिता एव पत्नी की गालियॉ तथा उलाहने सहकर भी इस असाध्य साधन में लगे थे कि तभी - ''देश स्वतत्र हो गया। चुनावो का दौर हुआ ।''[34]

''स्वतत्रता प्राप्ति महज एक घटना नहीं होती । यह उस देश के लोगों की अदम्य मुक्ति-कामना, सघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है । स्वतत्रता के पीछे एक लम्बे सघर्ष का इतिहास रहता है और यह सघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आभास देता है ।''[35] भारत की स्वाधीनता प्राप्ति भी एक लम्बे राजनीतिक सघर्ष का परिणाम है । इस रानीतिक सघर्ष की शुरुवात यद्यपि नगरों से होती है किन्तु कालान्तर में सघर्ष की इस धारा का प्रवाह गॉवो तक भी पहुँचता है और गॉव आपाद-मस्तक इसके रग से सराबोर हो उठते है । शहर से गॉव तक पहुॅची इस स्वाधीनता पूर्व युग की राजनीतिक चेतना का चित्रण अन्य उपन्यासों में भी हुआ जिनमें से कुछ के नाम तथा उनके महत्वपूर्ण पात्र इस प्रकार हैं - 'मुक्तावली' (1958) - बलभद्र ठाकुर, में शैलेन्द्र और चन्द्रावत, 'लोक परलोक' (1958) - उदयशकर भट्ट, में पं. गगाधर, 'जमींदार का बेटा' (1959) - दयानाथ झा, में विनोद, 'सत्ती मैया का चौरा' (1959) - भैरव प्रसाद गुप्त, में मुन्नी और मन्ने, 'रीछ' (1967) - विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, में विमल और मोहन, 'बबूल' (1967) - विवेकी राय में मास्टर साहब, 'माटी की महक' (1969) - सच्चिदानन्द धूमकेतु में गौरी और मैनू काका आदि ।

स्वातंत्र्योत्तर

गाँवों में राजनीति की प्रभाव-व्याप्ति शहरों की भांति नहीं है । उनकी राजनीति की समझदारी एवं ज्ञान का स्रोत राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर घटने वाली विभिन्न राजनीतिक एवं

समसामयिक घटनाए है । भारतीय ग्राम-जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया है स्वातत्र्योत्तर युग की राजनीति एव तज्जनित विकास कार्यों ने ।

स्वातत्र्योत्तर ग्रामीण परिवेश मे स्वतत्रता प्राप्ति ही वस्तुतः वहॉ की राजनीतिक चेतना का मूल उत्स है । ग्रामीण क्षेत्र की विभिन्न प्रकार की गतिविधियॉ इसी की प्रभाव परिणतियाँ है । यही एक ऐसा गत्यात्मक सदर्भ बिन्दु है, जिसने ग्राम जीवन मे राजनीतिक चेतना को स्वर एव गति प्रदान की है । भारतीय ग्रामीण-जीवन मे जो द्रुतगति-परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं, जिन्होने हमारे साहित्यकारो को चिन्तन की नवीन दिशाए एव लेखन के लिए नवीन विषयवस्तु प्रदान की है, सब इसी की देन है ।

स्वतत्रता के बाद प्रजातांत्रिक नवता का साक्षात्कार भारतीय ग्रामो को तीन माध्यमों से हुआ- ग्राम पचायत, विकास कार्यक्रम और आम चुनाव । यद्यपि शासन सत्ता द्वारा एक लम्बी उपेक्षा सहते-सहते ग्राम पूर्णतः चुक गये थे फिर भी उनका एक दुर्बल रूप अवशिष्ट था और वह इस नवपरिवर्तित स्थितियों के धक्के से टूटकर बिखर गया । पराधीनता के आर्थिक शोषण के युग ने ग्रामीणों को उतनी पीड़ा नही पहुँचाई जितनी स्वाधीनता के राजनैतिक शोषण ने । स्वातत्र्योत्तर विकास एव राजनीति का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए हरिशकर परसाई लिखते हैं - ''इस देश के सिद्धान्तहीन, अवसरवादी, बेईमान, भ्रष्ट राजनेताओं ने देश की दुर्गति कर डाली है । इन्हीं की छाया में भ्रष्ट नौकरशाही, विकास योजनाओं का आधा पैसा खा जाती है । इन अवसरवादी राजनेताओ में अधिकतर अहंकारी, गवार और असंस्कृत होते हैं ।''[36] आजादी के बाद की राजनीति की मूल्य विहीनता, मतलबपरस्ती एव सत्ता प्राप्ति के लिए किसी भी सीमा तक इनके पतन को प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय 'भारतीय समाज' (1994) में उद्घाटित करते हैं ।[37]

स्वाधीनोत्तर भारत के ग्रामवासियों को चुनाव के दो रूप देखने को मिलते हैं – स्थानीय चुनाव, जिनमें ग्राम पंचायत, स्थानीय समितियों एवं जिला परिषद के चुनाव शामिल हैं । प्रान्तीय चुनाव – जिसके अन्तर्गत विधान सभा एव लोकसभा के चुनावों को परिगणित किया जा सकता है। किन्तु गाँव का मुख्य संबंध स्थानीय चुनाव और विशेषतया ग्राम पंचायत के चुनाव से ही होता है क्योंकि इसमें उसकी सीधी भागीदारी होती है । केन्द्रीय राजनीति की ग्राम सन्दर्भों में चर्चा करने वाले उपन्यासों में - मैला आँचल (रेणु, 1954), 'सागर लहरें और मनुष्य' (1956 - उदयशंकर भट्ट),

'नदी फिर बह चली' {1961 - हिमाशु श्रीवास्तव}, 'झूठा सच', दूसरा भाग {1960 - यशपाल}, 'जुलूस' {1965 - रेणु}, 'आधा गॉव' {1966 - राही मासूम रजा}, 'वरुण के बेटे' {1966 - नागार्जुन}, 'महाभोज' {1979 - मन्नू भडारी}, 'सोना माटी' {1983 - विवेकी रॉय}, 'डूब' {1991 - वीरेन्द्र जैन}, 'विश्रामपुर का सत' {1998 - श्री लाल शुक्ल} और 'अल्मा कबूतरी' {2000 - मैत्रेयी पुष्पा} आदि उल्लेख्य है ।

पंचायती राज

भारत के प्राचीन इतिहास पर निगाह डाले तो पचायत ग्रामीण समाज के लिए कोई नई कल्पना नहीं है । लेकिन वर्तमान काल मे ग्राम-जीवन मे जिस लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण की भावना के साथ यह व्यवस्था अग्रसर हुई है, उसमे लोकसभा से ग्राम सभा तक और उच्चतम न्यायालय से पचायत तक प्रजातत्र की यात्रा समाहित है । पचायती राज का उद्देश्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण है, जिसके मूल मे यह भावना निहित है कि गॉव का प्रत्येक व्यक्ति सत्ता मे साझीदार हो सके, उसकी रीति-नीति मे, उसकी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन मे जागरूकता के साथ भाग ले सके । सरकारी स्तर पर पचायती राज का उद्देश्य प्रजातत्र के कार्य में देश के प्रत्येक नागरिक को शामिल करके उसे सफल बनाना है । इस प्रणाली में स्थानीय प्रशासन का समस्त कार्य ग्राम पचायत द्वारा नियत्रित एव सम्पादित होता है । बरास्ते ग्राम पंचायत आने वाली विकास योजनाओं ने ग्रामीण परिवेश मे नई हलचलो को जन्म दिया है । सामुदायिक योजनाओं में सलग्न विकास कार्यकर्ताओं का कार्य यह सुनिश्चित किया गया है कि वे ग्राम-जीवन को प्रजातंत्र की सार्थकता का बोध कराते हुए गॉवों को लोकसभा से जोड़ें । हिन्दी उपन्यासकारों ने ग्राम पचायत की वर्तमान अवधारणा और तज्जनित स्थितियो का मनोयोगपूर्वक अकन किया है । हिन्दी उपन्यासकार ने देखा है कि पचायतें वस्तुतः मृत सामन्तवाद का अखाड़ा बन, टूटे हुए जमींदारों की कुत्सित स्वार्थी चालों का शिकार होकर रह गई । गाँव के पुराने सामन्त ही प्रायः प्रजातात्रिक प्रणाली के अगुआ बन गये । इस अगुआ बनें उखड़े हुए जमींदार ने गाँव की आत्मा को बुरी तरह झकझोर कर रख दिया है ।

फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'परती : परिकथा' {1957} अनेक राजनीतिक दलों का अखाड़ा है । इन राजनीतिक दलों द्वारा अनेकों प्रस्ताव रोज पास होते हैं । लुत्तो 'परानपुर' का लंगीबाज

राजनीतिज्ञ है, जो कांग्रेस की राजनीतिक नकाब ओढे हुए है । उसकी गतिविधियो मे प्रतिक्रियावादी तत्वो के साथ विद्वेष, स्वार्थपरता, बेईमानी आदि सम्मिलित है । पचायत का निर्माण उसकी कलाबाजियो का खेल है । लुत्तो गरूड़धुज झा से साठ-गाठ करके मुखिया और सरपची के उम्मीदवारो को पैसे से तोड़ता है । मुखियागीरी के लिए रोशन विस्वा को अपनी तिजोरी का मुँह खोल देना पड़ता है और उसी के बल पर वह सुचितलाल मड़र जैसे उम्मीदवारो को बैठा सकने मे सफल हो जाता है । इस उपलक्ष्य मे किसी को साड़ी तो किसी को ईंटों की प्राप्ति होती है । लुत्तो अपनी लगीबाजी चाल झा को समझाते हुए कहता है - ''दोनों कैण्डेट समझिए कि मेरी मुट्ठी मे है । मैने लगी लगा दी है, एक को सरपची का लोभ दिया है दूसरा कुछ रूपया चाहता है ।''[38] सभी को तरह-तरह के प्रलोभन दिए जाते है । किसानो को मुकदमे मे हारी जमीन पुनः दिला देने का लासा डाला जाता है ।

ग्राम-जीवन के अभावो की परती तोड़ने मे नगर से लौटा सच्चरित युवक जितेन्द्र यहाँ पूरी ईमानदारी से क्रियाशील है । परन्तु गाँव के अशिक्षित जनो को, लुत्तो जैसे कांग्रेसी, रामनिहोरा, जयदेव जैसे समाजवादी और सुचित लाल मड़र जैसे कम्युनिस्ट नेता अपने षड़यन्त्र के जाल में फँसाते रहते है । जितेन्द्र को पत्थर तक सहने पड़ते है । परानपुर के इन्हीं लंगीबाजों द्वारा जितेन्द्र और ताजमनी को लेकर तरह-तरह की हवा फैलाकर दोनों के चरित्र हनन् का ओछा कार्य भी होता है । ग्राम-जीवन के विकास कार्यो की यही दुर्भाग्यपूर्ण नियति है । कही जमींदार तो कही तथाकथित राजनीतिज्ञ विकास की इस राह के रोड़े सिद्ध हो रहे है । ग्राम पचायत एक स्वायत्त शासन की नाममात्र इकाई बनकर रह गई है ।

शिवप्रसाद सिंह कृत 'अलग-अलग वैतरिणी' (1967) में आरम्भ के अनेक पृष्ठ जमींदारी उन्मूलन के बाद ग्राम-पंचायत-चुनाव सघर्ष की गाथा सुनाते है । ग्राम पचायत ने करैता में पारस्परिक वैमनस्य, मूल्य-विघटन, तनाव एव विभिन्न सघर्षो को जन्म दिया है । इस सघर्ष से उत्पन्न विघटन-वैमनस्य ही कथा की पृष्ठभूमि बन जाता है । ग्रामीण संरचना में अँग्रेजी राज ने जो-जो दोष उत्पन्न किए थे सभी इस अभिनव पंचायती राज से और विशाल आकार ग्रहण करके सामने आते हैं । करैता गाँव के जमींदार जैपाल सिंह जिन्होंने जमींदारी टूटने के साथ ही कसम खा ली थी कि अब वे जीते जी फिर कभी गाँव में पाँव नहीं रखेंगे,[39] गाँव में पचायत निर्माण की बात सुनकर करैतावासियों को विस्मित करते हुए फिर करैता लौटते हैं । बुल्लू पंडित उनके

प्रत्यावर्तन पर सोचता है - ''लगता है बुड्ढा चुनाव की वजह से आ रहा है । सुना होगा कि करैता गॉव मे सभापति के आसन पर पियाऊ का लड़का सुरजू बैठने जा रहा है । बुढ़ऊ को मै खूब जानता हूँ । ऊ सब सह सकते है, मगर मेघन के प्रानियों को करैता का सरगना बनते नहीं देख सकते ।''[40] बिल्कुल सटीक सोंच है बुल्लू पडित की । और उधर पिछले तीन चार साल मे करैता क्या से क्या हो गया है । अब यह वही करैता नहीं है । सुरजू का परिचय प्रस्तुत करते हुए उपन्यास बताता है – ''सुरजू भी अब वे ही सुरजू नहीं है । उन्होने अपनी अलग 'पाल्टी' बना ली । उनकी पाल्टी मे एक से एक बदमाश और नगे-लुच्चे भर गये है । हरिया, सिरिया, छबिलवा, शशधर और क्या नाम है उसका कल्लू सिह के लड़के का, हॉ सूरत । ई साले सबके सब एक से एक हरामी है ।''[41]

गॉव मे एक तीसरी 'पाल्टी' भी है - सुखदेव राम की जिसमें पूरी 'जादव पाल्टी', गोंड, कहार, दुसाध, कोइरी-काछी शामिल हैं । जैपाल सिह अपनी हार को जीत में बदलने के लिए एक चाल चलता है और ये सब हथकण्डे उसने शहर से सीखें हैं । वह अपने वोट सुखदेव राम को दिला देता है, और इस प्रकार दोनों के सम्मिलित वोटों के चलते अपनी जीत को सहज-साध्य माने बैठा सुरजू सिह हार जाता है । यहॉ दृष्टव्य यह है कि यह जीत तिकड़मी चाल शहरबास कर चुके बाबू जैपाल सिंह द्वारा चली जाती है । फिर सुखराम तो मात्र नाम का सभापति होता है मूलतः शासन जैपाल सिह के हाथों ही चलता है । इसके उपरान्त गॉव की जिन्दगी भयानक दरारों से भर जाती है । सुखदेव राम और जैपाल सिह विकास धन की धारा को पूरी तरह अपने घरों कीओर मोड़ लेते है ।

ॲंग्रेजी राज के सभी दुर्गुण करैता में पचायत की खिड़की से प्रवेश पा जाते हैं । गुटबन्दी गॉव के जीवन को टुकड़ों-टुकड़ों में बॉंट कर रख देती है । एक-दूसरे के चरित्र पर कीचड़ उछालना, षड़यन्त्र में फॅंसाना करैता के नए सामाजिक सत्य बनकर उभरते हैं - ठीक 'परती : परिकथा' के परानपुर की तरह । सुखदेव राम जैसे लोग जो आजादी की लड़ाई में गॉंधी जी को आदर्श बनाकर लड़े थे, पंचायती राज आ जाने पर जैपाल सिंह जैसे टूटे जमींदारों से हाथ मिलाकर सभापति बन जाते हैं और पुलिस के साथ सॉंठ-गॉंठ करके गॉंव वालों को लूटते हैं । करैता की जिन्दगी पूर्णतया नारकीय हो जाती है । गुण्डे-गुण्डई के खिलाफ जुलूस निकाल कर 'गुण्डागर्दी नहीं चलेगी' के नारे लगाते हैं । शशिकान्त जैसा व्यक्ति जो शहर से इस ग्रामीण इलाके में सेवाधर्म अपना कर अपनी

पोस्टिग करवाता है, को अन्ततः गॉव छोड़कर भागना पड़ता है । खलील मियॉ जैसा राष्ट्रभक्त, जिसने कभी पाकिस्तान जाकर बस गये अपने बेटे को लिखा था - ''तुम्हारे पाकिस्तान पर मै लानत भेजता हूँ । साले तू दोगला है । काफिरो के बीच अपना दर्जनों पुश्त गल गया । आज तक ऊपर खुदा गवाह है बेटे, मैने कभी हिन्दू और मुसलमान में फर्क नहीं किया ।'' अन्ततः गॉव मे अपनी इज्जत सुरक्षित नही पाता । विपिन जमींदार का बेटा होकर भी इस परिवेश मे रह नही पाता और मजबूरन गॉव छोड़ देता है ।

राजनीति मे दूसरी प्रकार की 'चाल' 'रागदरबारी' मे दिखती है । इस उपन्यास मे दिखाया गया हैकि किस प्रकार ग्राम पचायतों पर गलत लोग काबिज हो जाते है । पुराने उखड़े हुए जमींदार इस नयी सत्ता प्राप्ति के द्वारा तो पुन· स्थापित होना ही चाहते है, गॉव का नया धनिक वर्ग भी अपने हाथ-पैर मार रहा है । 'राग दरबारी' (1969 - श्री लाल शुक्ल) के वैद्य जी एक सत्ता लोलुप व्यक्ति है । वैद्य जी महाशय 'महाभोज' (मन्नू भडारी), के मुख्यमत्री दा साहब की भाति गॉधीवादी है परन्तु 'धोती के नीचे नगे' । वैद्यगीरी के पेशे के साथ-साथ वे स्कूल के प्रबन्धक है और गॉव की सहकारी समिति के प्रबन्ध-निदेशक भी । शिवपालगज के पचायत चुनाव मे वे अपने भॉगघोटू चेला शनिचरा को चुनाव लड़वाते है । ताकि यहॉ भी उनका अधिकार रहे, बकौल शनिचरा - ''अरे भाई, हम तो नाम भर के प्रधान होंगे । असली प्रधान तो तुम वैद्य महाराज को समझो । बस, यही जानकर चलो कि तुम अपना वोट वैद्य जी को दे रहे हो ।''[42] पचायते इन पद लोलुप, मूल्यविहीन घाघों के हाथ का खिलौना बनकर रह जाती है । 'रागदरबारी' के लेखक के लिए यद्यपि चुनावी भ्रष्टता उजागर करने के लिए 'शिवपालगंज' जैसा माध्यम था किन्तु उपन्यासकार की दृष्टि यहाँ विशेष रमती नही दिखाई पड़ती ।

पचायती राज की घोषणा होने के बाद ग्राम पचायतों को लेकर ग्रामीणों में गहरी आशावादिता दृष्टिगोचर होती है और गाँव अभूतपूर्व जागृति की हलचल से भर जाते है । रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ' (1969) में इस शुरुवाती उल्लास का बड़ा ही जीवन्त चित्रण मिलता है । तिवारीपुर का सतीश इस पंचायत राज की स्थापना का उद्देश्य सभी ग्रामीणों को बताते हुए कहता है - ''यह पंचायत राज पिछली पंचायतों से भिन्न होगा । यह सरकारी राज्य होगा, इसमें पंचों को सरकार की ओर से मजिस्ट्रेट के अधिकार दिए जायेंगे । इसलिए जो अब तक ब्रिटिश सरकार के पिट्ठू, जमींदार, मुखिया और दलाल रहे हैं वे इस बहती गंगा में हाथ धोना चाहते हैं, वे आज

देशभक्त हो गये है । वे पच-सरपच बनकर अपना उल्लू सीधा करने को और लोगों से बदला लेने की सोच रहे है । पच बनने के लिए तरह-तरह की बुरी चालें चलते है, कहीं किसी का खेत कटवा रहे है, कही किसी को व्यभिचार मे फॅसा रहे है.. .... इसलिए आप सोच-समझकर वोट दे । पच चुने और आपको जो अपना भाग्य बनाने का अवसर मिला है उसका अच्छा उपयोग करें ।''[43] सतीश के इस वक्तव्य से पचायती राज के दुरुपयोग की आशकाओ का पता चलता है और यह देखकर हृदय-विदारक पीड़ा होती है कि उसकी चेतावनी व्यर्थ सिद्ध होती है और आशकाए सच्चाई मे बदल जाती है ।

सतीश का गॉव तिवारीपुर पचायती चुनाव के अखाड़े मे तब्दील हो जाता है । टूटे जमींदारों के कुठित नखदत सत्ता-स्वाद की सभावना-ललक में पुनः एक बार घिसकर पैने किये जाते है । गॉव पारस्परिक वैमनस्य की दलदल में आकण्ठ डूब जाता है । पारम्परिक सबधों मे अनेक दरारे पड़ जाती है, विघटन की बाढ़ आ जाती है जिसमें विकास का सारा जल टूटकर बिखर जाता है । ग्रामोत्थान की कल्पना करके आई पंचायतें गॉव के सत्यानाश का कारण होकर अर्थहीन हो जाती है। 'जल टूटता हुआ' की सतीश की ही भाति 'दुखमोचन' {1957- नागार्जुन} का दुखमोचन और 'रीछ' {1967 - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय} का विमल भी पचायत राज की दलदल मे बुरी तरह फॅसे दिखाई देते है । तीनों आदर्शवादी पात्र है और तीनो को पचायत चुनाव तोड़ देता है।

कुछ इसी प्रकार पचायत चुनाव के मकड़जाल में फँसे हुए मध्यप्रदेश के एक गॉव 'लड़ैई' की कहानी वीरेन्द्र जैन के उपन्यास 'डूब' {1991} मे कही गई है । उपन्यास का प्रारम्भ ही पचायत चुनाव की भूमिका से होता है । अहीरों के मुखिया माते मोती साव को सरपंची के लिए नामजद करा आये थे । माते ने बाकायदा वोटों का गणित जोड़ा था - ''बीस घर बानियों के, पचपन घर अहीरों के, तीन घर काछियों के, पॉच घर ठाकुरों के, दो घर गड़रियों के, बारह घर चमारों के, एक घर बंसोर का, एक घर ढीमर का, चार बामनों के, तीन घर लुहारों के, एक सुनार का, एक चौकीदार का, दो घर सलैयों के, एक धोबी का, तीन घर खवासों के, एक घर बढ़ई का - कुल 115 घर । वोट देने के हक्दार सात सौ आदमी ।''[44] माते को गॉव के सभी घरों का ब्योरा जुबान पर रटा हुआ था ।

इस चुनाव ने ग्राम-जन की आत्मा का रस किस प्रकार सोखा है कि जब माते को पता चलता है कि रघु साव अपने दोनों बेटों के साथ सदैव के लिए यह गॉव छोड़कर शहर चले जा रहे है तो वे द्रुत गति से उन्हे रोकने के लिए क्रियाशील हो उठते है । यहॉ माते की चिन्ता का सबध अपने एक ग्रामीण भाई की बिछुड़न से नहीं है बल्कि उन्हे फिक्र है तीन वोटों की जो इन बाप बेटों के रूप मे चले जा रहे है । चुनाव ने आदमी को वोट मे तब्दील कर दिया । चुनावी बेहयाई की हद तो तब दिखाई पड़ती है जब माते को, देश-विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिक विद्वेष के चलते मारे गए सात मुसलमानो का दुःख आज सालता है जो गॉव की हिन्दू आबादी द्वारा मार कर 'पथरा' के नीचे दफ्न कर दिए गये थे । आज माते को उन बेगुनाहो की मौत {हत्या} का अफसोस होता है, क्योकि ''अब वे सोचते थे कि - काश ये 'मुसलमानी पथरा' न गड़े होते तो गॉव मे तेरह वोट और थे ।''[45]

माते द्वारा घोषित उम्मीदवार मोती साव के मुकाबले गॉव के हतश्री ठाकुर देवी सिह चुनावी अखाड़े में उतरते है । उनके रहते एक बनिया गॉव का सरपच हो जाय, यह उन्हें अपनी शान के खिलाफ लगता है और फिर शुरु होती है गॉव मे वोट की राजनीति । पंचायत चुनाव की इस बिसात पर जोड़-तोड़, जाति-पाँति से लेकर डकैती तक की चाले चली जाती है और अन्ततः मोती साव को अपना सब कुछ बेच-भाँच कर गॉव छोड़, शहर की शरण लेनी पड़ती है । ठाकुर देवी सिह लडैई के निर्विरोध सरपच हो जाते है ।

गौरतलब बात यह है कि जहॉ माते, मोतीसाव और ठाकुर देवी सिह मे राजनीतिक चेतना 'शहर के चक्करों' से उपजती है वहीं गॉव छोड़ने पर मोती साव को ठिकाना भी शहर में ही तलाशना पड़ता है, यानि यह राजनीतिक यात्रा शहर से शुरु होकर शहर में ही खत्म होती है ।

शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रकाशित मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' {1997}, पंचायती राज चुनाव के चाक में पिसते हुए गाँव अतरपुर की कहानी है । 'चाक' में स्थानीय चुनाव सारे घटिया दॉव-पेंचों के साथ मौजूद है । मौजूदा प्रधान फत्ते सिह है जो उल्टे-सीधे सारे काम करके अपना उल्लू सीधा कर रहा है । गाँव का शिक्षित, जागरूक नवयुवक भँवर उसके विकास कार्यों की असलियत जाहिर करता हुआ रंजीत से कहता है - ''भइया विकास कार्यों में पइसा फूँक रहे हो, विकास साला धुँआ होकर रह जाता है । अच्छा हो विनाश कार्यों में लगा दो । पोखर

खुदवाओं नहीं, पुरवा दो, नालियॉ पुरवा दो । गलियॉ खुदवा दो । ग्राम समाज की जमीन पर मधुशाला ! प्रधान जी का प्लान ऐसा ही है ।''[46] चुनाव का मद भरा आकर्षण ऐसा है कि शहर से एम.एस.सी. (एजी.) की डिग्री लेकर ग्राम-सुधार की भावना से गॉव लौटा आदर्शवादी रजीत पूरी तरह उसके व्यामोह मे फॅसकर रह जाता है और फत्ते सिह प्रधान की 'शिकारी' चालो का शिकार हो जाता है । उधर चुनाव की घोषणा होते ही भवानीदास, अपने पुत्र-नगरवासी - हरिनिवास की पत्नी सीमा जो गॉव 'तीन बार गिनकर आई है पूरे पॉच वर्ष मे',[47] को प्रधान पद के सशक्त उम्मीदवार के रूप मे पेश करने के लिए गॉव बुलाते है । 'अलग-अलग वैतरिणी' की ही भॉति यहॉ भी एक तीसरा उम्मीदवार है - हरिजन नेता, कलेक्टर का भाई, कुॅवरपाल । जो फत्ते सिह के लासे मे फॅसकर बेगुनाह मास्टर श्रीधर पर जानलेवा हमला करके जेल चला जाता है । जेल जाने को ही वह अपनी उम्मीदवारी का सबसे सशक्त दावा मानता है - ''मालूम न हो तो दरियाफ्त कर लो, चुनाव मे उम्मीदवारी की लिस्ट मे सबसे पहले वह आता है, जो जेल हो आया होता है ।''[48]

अतरपुर का चुनावी करैला, नीम चढ़ा तब हो जाता है जब रजीत की पत्नी सारंग स्वय उम्मीदवारी का पर्चा दाखिल करने तहसील जा पहुँचती है । यहॉ तक पहुँचने से पहले उसे स्वय से लम्बी जद्दोजहद करनी पड़ती है । सारग को ''पर्चा भरने के साथ ही रंजीत का ध्यान आता है । पति की तरह नहीं प्रत्याशी की तरह ।''[49] यह पचायत चुनाव की ही माया है जो पति-पत्नी के विश्वास भरे रिश्ते के बीच चौड़ी खाई बनकर खड़ा हो गया और वे प्रतिद्वन्दी बन गए ।

तहसील मे मेले का सा दृश्य उपस्थित हो गया है लेकिन लोगों के चेहरे पर मेले की सी रौनक नहीं है । सबके अन्दर इस चुनाव ने एक आशका, एक भय, एक अविश्वास सा भर दिया है। फत्ते सिह जैसे मतलबपरस्त को भी लगता है - ''भइया, कोई किसी का सगा नहीं ।......... राजनीति भी साली रडी-बेसा से कम नहीं, जिसका दॉव पड़ता है, वही दबोच लेता है ।''[50]

तो यह है गॉव की राजनीति और गॉधी जी द्वारा देखे गए 'गॉव-गॉव में स्वराज' के सपने का हश्र । राजनीति का चाक अपनी तेजगति से चल रहा है । गाँव पिस रहे हैं । विश्वास दरक रहे है । मर्यादा टूट रही है और यह टूटी हुई मर्यादा - 'कुचले हुए अजगर सी गुजलिका में गॉव को लपेट कर, सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी ।'[51]

ग्राम जीवन के सदर्भ में हम जब इस पूरी चुनाव प्रणाली पर नजर डालते है, तो पाते है कि निश्चित रूप से यह ग्राम के अन्दर राजनीतिक चेतना जगाने एव उसे अधिकर-बोध-सम्पन्न कराने का प्रबल माध्यम है । सविधान में यह व्यवस्था करने वालों ने कभी कल्पना भी न की रही होगी कि यह पूरी प्रक्रिया इस प्राकर विसगतियो के मकड़जाल मे उलझ कर स्वय तो अपना अर्थ खोयेगी ही अपने साथ गॉव को भी तोड़ देगी । स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति की ग्राम-सन्दर्भो मे चर्चा करते हुए सियाराम तिवारी लिखते है - ''स्वाधीनता के बाद भारत के ग्राम-जीवन को उन्नत करने के जो प्रयत्न हुए, उन्होने उल्टे उसको तोड़ दिया । सबसे अधिकर तोड़ा चुनाव ने, चाहे वह लोकसभा, विधानसभा का चुनाव हो या ग्राम पचायत का चुनाव हो । जहॉ-जहॉ प्रजातात्रिक पद्धति का प्रवेश हुआ, वहॉ-वहॉ उसने विष-बीज बोया । फलस्वरूप राजनीति के दॉव-पेच ने गॉव के जीवन मे घुसकर उसे विषाक्त बना दिया ।''[52] स्वाधीनोत्तर हिन्दी उपन्यासकार ने चुनाव की इन विसगतियो को शिद्दत से महसूस किया है । उसने कभी बहैसियत तटस्थ दृष्टा और कभी भोक्ता होकर इस पीड़ा को महसूस किया है । यो होने को तो हिन्दी उपन्यास मे, प्रान्तीय चुनावो एव राष्ट्रीय चुनावो का भी चित्रण हुआ है, परन्तु वर्णन की जो गहराई स्थानीय चुनावो की उपलब्ध होती है वह अन्य दोनों की नहीं । कदाचित प्रान्तीय और राष्ट्रीय चुनावो का ग्राम-पचायत चुनाव के सापेक्ष उतना विषाक्त न होना इसका कारण रहा हो । सिद्धान्त रूप मे अत्यधिक प्रभावशाली लगने वाले पचायत राज की स्थिति - 'विष रस भरा कनक घट जैसे' वाली होकर रह गई है ।

विश्लेष्य उपन्यासों के अतिरिक्त स्थानीय चुनाव का वर्णन निम्नाकित उपन्यासों में भी उपलब्ध होता है - 'जमींदार का बेटा' (1959 - दयानाथ झा), 'सूरज किरन की छॉव' (1959- राजेन्द्र अवस्थी), 'सती मैया का चौरा' (1959 - भैरव प्रसाद गुप्त), 'नदी फिर बह चली' (1961 - हिमाशु श्रीवास्तव), 'चिट्ठी रसैन' (1961 - शैलेश मटियानी), 'माटी की महक' (1969- सच्चिदानन्द धूमकेतु), 'अँधेरे के विरुद्ध' (1970 - उदयराज सिह), 'हिरना सॉवरी' (1962 - मनहर चौहान) और 'बहता पानी रमता जोगी' (1969 - ओम प्रकाश निर्मल) आदि ।

दलगत राजनीति : शहर से गॉव तक

राजनीतिक दल के सिद्धान्तों, कार्यों के प्रति अटूट आस्था दलीय प्रतिबद्धता है । इस दलीय प्रतिबद्धता के साथ व्यक्ति और दल के अपने-अपने स्वार्थ होते हैं जो उन्हें एक दूसरे से जोड़ते हैं ।

दलगत राजनीति का चित्रण नागार्जुन के अन्य उपन्यासो यथा - 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे', 'नई पौध' और 'रतिनाथ की चाची' मे भी हुआ है ।

रेणुकृत 'मैला ऑचल' मे दलीय प्रतिबद्धता का सशलिष्ट रूप दृष्टिगत होता है । मेरीगज मे बालदेव से राजनीति का ककहरा सीखने वाला कालीचरण शहरी राजनीति के प्रभाव से सोसलिस्ट हो जाता है । गॉव के नवयुवक उसके अनुगामी हो जाते है । लक्ष्मी कोठारिन इस राजनीतिक फैलाव पर व्यग करते हुए बालदेव से कहती है – ''गॉव मे तो रोज नया सटर खुल रहा है - मलरिया - सटर, काली-टोपी सटर, लाल झडा सटर और अब यह चरखा सटर !''[55] मेरीगज मे शहर से आने वाली राजनीति ने तेज हलचल भर दी है । अपने-अपने हितो की रक्षा के लिए गॉव के लोग विशिष्ट दलों की ओर आशा भरी निगाह से देखते हुए तेजी से उससे जुड़ते जाते है और उनके नारो को स्वर देते है । तहसीलदार साहब जैसे लोग कांग्रेस की शरण मे अपनी त्राण देखते है, तो युग-युग से उपेक्षित, दलित वर्ग कालीचरन की ओर उम्मीदभरी निगाह से देखता हुआ लाल झण्डे की छाया मे आ एकत्र होता है । शहर से मेरीगज आये सोसलिस्ट नेता सैनिक जी गॉव की सभा मे भाषण दे रहे है – ''......... यह जो लाल झडा है आपका झंडा है, अवाम का झडा है । इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है, यह खुद आफताब है । इसकी लाली, इसका लाल रग क्या है ?......... रग नहीं यह गरीबों, महरूमों, मजलूमो, मजबूरो, मजदूरो के खून में रगा हुआ झडा है !''[56] दलित वर्ग इस लाल झडे को हाथो हाथ उठा लेता है और नारे लगाता है –

> ''किसान राज कायम हो !
> मजदूर राज कायम हो !
> गरीबों की पार्टी, सोसलिस्ट पाटी,
> सोसलिस्ट पाटी जिदाबाद !''[57]

कॉंग्रेस की खिलाफत करते हुए मेरीगज की सोसलिस्ट पार्टी का 'छोटा नेता' बासुदेव लोगो को समझाता है - ''भाई आदमी को एक ही रग में रहना चाहिए । यह तीन रग का झंडा......... थोड़ा सादा, थोड़ा लाल और पीला............ यह तो खिचड़ी पाटी का झंडा है । कॉंग्रेस तो खिचड़ी पाटी है । इसमें जमींदार हैं, सेठ लोग हैं और पासंग मारने के लिए थोड़ा किसान -

मजदूरो को भी मेबर बना लिया जाता है । गरीबो को एक ही रग के झडे वाली पार्टी मे रहना चाहिए ।''[58]

यहाँ ध्यान देने की बात है कि 52 मे प्रकाशित 'बलचनमा' के सोसलिस्ट भी यही बात कहते है ।[59] और सन् 2002 में भी सभी पार्टियो के निशाने पर काग्रेस ही है । स्वाधीनोत्तर पूर्व युग से जारी विरोध के बावजूद काग्रेस का महत्व इधन फिर बढा है । आज की तारीख मे 17 राज्यो मे कॉग्रेस का शासन है ।

मेरीगज मे एक तीसरी पार्टी भी है जिसे गॉव के 'सिह' लोग अपने वर्गीय हितो की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझते है — यह जनसघ है जिसकी ट्रेनिग देने के लिए शहर से सयोजक जी बुलाए जाते है । इस प्रकार मेरीगज मे कुल मिलाकर - ''चरखा-कर्घा, लाठी-भाला और बम-पेस्तौल ! तीन टरेनि !''[60] सारा मेरीगज विभिन्न पार्टियो के सक्रिय कार्यक्रम का स्थल सा बन गया है । गॉव के लोग जातीय आधार के साथ राजनीतिक दलों के आधार पर विभक्त हो रहे है।

'परती : परकथा' {1957 - फणीश्वरनाथ रेणु} के परानपुर गॉंव की भी संस्कृति और सामूहिकता को इसी दलीय राजनीति ने तोड़कर रख दिया है । जीवन के अनेक वर्ष शहर मे बिताकर परानपुर लौटा जितेन्द्र, राजनीतिक कारणो के चलते टूटे हुए गॉव तथा लोगो का लोगों से कटाव-बिखराव देखकर मार्मिक व्यथा का अनुभव करता है ।[61] वह गॉव के तथाकथित पार्टी नेताओं से प्रार्थना करता है - ''राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ताओ से मै कहूँगा । जनता की सरलता का दुरुपयोग अपने स्वार्थ के लिए न करे ।''[62] परानपुर के इन पार्टी नेताओं को दिशा-निर्देश शहर से प्राप्त होते है । ये निरन्तर शहर की ओर सकेत के लिए ताक्ते है ।[63]

जितेन्द्र की पीड़ा वास्तविक है । गॉव, जो अपनी आत्मीयता, सरलता-सहजता आदि के लिए जाने जाते थे, आज इन विशेषताओं से कोसों दूर हो चुके हैं । ग्रामीण जन राजनीति-प्रेरित स्वार्थ की वैतरिणी में ऊभ-चूभ कर रहे है । 'परती : परिकथा' के परानपुर मे अनेकों पार्टियॉ हैं । जितेन्द्र प्रगतिशीलता से प्रतिबद्ध है, जयदेव सिंह और रामनिहोरा सोसलिज्म से, मकबूल, सुचितलाल मड़र कम्युनिज्म से एवं लुत्तो, मीर समसुद्दीन, रोशन बिस्वा आदि कांग्रेस से । सबके अपने-अपने दल है और उसी के आधार पर अपने-अपने हिसाब से सब गॉंव को बॉंटने में कटिबद्ध है । ऐसे

लोग भी है जो इस दलगतता को नापसन्द करते है परन्तु उनकी आवाज इस भीड़ में खो जाती है। इस दलीय राजनीति पर रगलाल गुरु जी अपनी राय देते हुए कहते है - ''मै बुद्धिहीन दलबद्धता को पाशविक वृत्ति समझता हूँ ।''[64]

उपन्यास के लगभग आरम्भिक पृष्ठो मे ही लेखक परानपुर गॉव की राजनीतिक स्थिति स्पष्ट करते हुए बता देता है – ''बहुत उन्नत गॉव है परानपुर । सात-आठ हजार की आबादी है । प्रत्येक राजनीतिक पार्टी की शाखा है यहॉ । धार्मिक सस्थाओं के कई धुरधर धर्म-ध्वजी इस गॉव में बिराजते है......... पिछले आम चुनाव मे सॉलिड वोट काग्रेस को नहीं मिला, इसलिए इस बार सॉलिड वोट प्राप्त करने के लिए हर पार्टी की शाखा प्रत्येक मास अपनी बैठक में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती है ।[65]

राजनीतिक पार्टियों का गॉव की ओर झुकाव प्रायः दो कारणो के चलते होता है । एक तो बसत की दृष्टि से देश की बहुसख्यक आबादी ग्रामीण है, जिसके वोट ही देश की राजनीति की दिशा तय करते है । दूसरे शहरियों की तुलना मे भोले-भाले ग्रामीणो को वादों के भुलावे मे डाल देना कहीं आसान होता है । अशिक्षा एव अज्ञान की धुध मे खोई ग्रामीण जनता अपने मताधिकार का सही उपयोग जानती ही नहीं और राजनीतिज्ञ मौका पड़ने पर आकर्षक वादों के सब्जबाग दिखाकर उसके राजनीतिक अधिकार को ठग लेते है ।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के 'रीछ' (1967) मे स्वार्थों पर आधारित दलीय प्रतिबद्धता का ग्राम-स्तर पर सफलतापूर्वक चित्रण किया गया है । राष्ट्रीय-स्तर की राजनीति का चलन बन चुकी 'दल-बदल' की प्रवृत्ति का बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है । शहर से इस प्रवृत्ति के कीटाणु गाँव-गाँव पहुँच रहे हैं और दलीय प्रतिबद्धता में टूटन आने लगी है । अपने स्वार्थ-साधन हेतु लोग एक पार्टी पकड़ते है और फिर वहॉ काम सधते न देख तत्परता और बेहयाई से पार्टी बदल लेते है । आज से लगभग 30-35 वर्ष पूर्व 'रीछ' उपन्यास में 'दल-बदल' के पीछे जो मानसिकता छिपी हुई रहती है उसका बड़ा ही सजीव चित्रण उपन्यास के एक पात्र प्राणचन्द तिवारी के निम्न शब्दों में हुआ है - ''तुम बताओ सो करें और चाचा तो किसान सभाई हैं ही । सारा घर क्या एक ही पार्टी में रहेगा । आप जब जो काम पड़े मुझे बता भर देना । लोहिया-पोइया से हमें क्या लेना देना है । केसरी ने कहा तो लाल टोपी पहन ली । तुम कहोगे तो गेहूँ की बाल और

हॅसिया वाला झण्डा उठा लेगे । हमे केसरी और तुमसे मतलब निकालना है । टोपियो के रग से मन का रग बदलता है ? लाल, पीली, सफेद टोपी तो फैशन है । एक रंग से मन अब भर जाता है । हमे तो सभी रग अच्छे लगते है ।''[66] शहरी सभ्यता एव राजनीति मे 'दल-बदल' के रूप मे लगा नैतिक घुन 'हवा पर सवार होकर'[67] गॉव तक पहुँच रहा है ।

'अँधेरे के विरूद्ध' (1970 - उदयराज सिह) के गॉव वसन्तपुर की राजनीतिक स्थिति का परिचय बी.डी.ओ. नरेन्द्र गाड़ी में बैठा-बैठा ही पा लेता है । नबी मियॉ की दुकान पर हॅसिया-हथौड़ा देखने के बाद जब वह गौर करता है तो पाता है कि - ''सुग्गी के मकान पर तिरगा झण्डा फहरा रहा है, आगे रामप्रसाद की दुकान पर जनसंघी पताका लटक रही है, फिर रमन की दुकान पर एस.एस.पी. का लाल झडा और बाजार छोड़ते-छोड़ते कहीं प्रसोपा का झडा नजर आ गया।''[68]

'महाभोज' (मन्नू भडारी, 1979) का गॉव सरोहा भी दो पार्टियों के चुनावी दगल का अखाड़ा बना दिखाई देता है । एक है मुख्यमत्री दा साहब की पार्टी जो बात-बात पर गीता और गॉधी की दुहाई देते है, सभवतः काग्रेसी है और दूसरे विपक्षी नेता, निवर्तमान मुख्यमंत्री सुकुल बाबू की पार्टी है । दोनो पार्टियॉं सरोहा-चुनाव की बिसात पर अपनी-अपनी गोटे चलती है और किसी भी कीमत पर चुनाव जीतना चाहती है । दा साहब की प्रतिष्ठा और सुकुल बाबू का राजनीतिक कैरियर दॉव पर लगा हुआ है । दोनों पार्टी-नेता बेशर्मी और क्रूरता की तमाम हदें पार करते हुए उपन्यास में चित्रित है । सारा सरोहा गॉंव इस चुनावी ऑंधी की धूल में डूब जाता है और दीवारें पोस्टरो से भर जाती है । दोनों नेताओं की अमानवीयता का आलम यह है कि दोनो के दोनों बिसू-बिसेसर – जो गॉव का जागरूक हरिजन युवक है, की हत्या को राजनीति का मोहरा बना कर अपनी-अपनी चालें चलते है । बिसू की हत्या की खबर से सुकुल बाबू का मन उसके प्रति कृतज्ञता से भर जाता है,[69] कि वाह भाई अच्छे मौके से मरे । लेखिका ने दा साहब और सुकुल के बहाने देश की राजनीति – सत्ता पक्ष और प्रतिपक्ष–का चेहरा बेनकाब कर दिया है ।

विवेकी रॉय कृत 'सोना माटी' (1983) में कांग्रेस और जनता पार्टी की चुनावी टक्कर की गूँज सुनाई पड़ती है । सारा गॉंव जीपों के पहिए की उठी धूल से भर उठता है । परन्तु जीत होती है अन्ततः करइल-पुत्र भुवनेश्वर उर्फ मगन चोला की । चुनाव में धॉंधली, तोड़-फोड़, पारस्परिक

वैमनस्य, बूथ कैपचरिग जैसे सारे दॉव-पेंच आजमाए जाते हैं । मगन चोला जो इलाहाबाद विश्वविघालय का 'छात्रनेता' है अपने प्रचारार्थ विश्वविघालय की छात्राओ को गॉव लाता है जो गॉव आकर स्वय एक 'प्रचार' बन जाती है ।[70] गॉव के सभ्य एव शिक्षित व्यक्ति रामरूप को लगता है कि ये ''सब लोकतत्र के रक्षक अथवा उसके सभ्य सैनिक नही, गन्दी राजनीति के बदबूदार निशाचर है ।''[71]

गॉव के चुनाव की एक झॉकी रामरूप की निगाह से इस प्रकार देखी जा सकती है - ''.... उसकी पट्टी मालिकान से लगी सोनार टोली के दो सौ से ऊपर वोट को दीन दयाल और गजिन्दर सहित हनुमान प्रसाद के गुण्डों ने घरो से बाहर निकलने ही नहीं दिया और पोलिग बूथ पर कब्जा कर सारा मत जो विरोध मे जाता एक तरफ गिरवा लिया ।....... भाइयो, यदि आप हमे वोट दे रहे है तो आपको तकलीफ करने की जरूरत नहीं । हमने मान लिया कि वह मिल गया । आप लोग अपने-अपने घरो मे रहे । कोई देखने भी न जाय । आप लोगो से यही प्रार्थना है, यही हथजोरी है ।......... मामला हथजोरी की आड़ मे सिर तोड़ाई का है । निकले तो सोनार टोली का कोई वोटर घर से बाहर ?........ मतदान केन्द्र पर लोकतत्र की लाश निकल गई । किसका वोट कौन दे रहा है ? कितनी बार दे रहा है ?''[72]

यह झॉकी महज सोना माटी के करइल क्षेत्र की ही नहीं है वरन् सारे देश का सच है । दबगों द्वारा बन्दूक की नोक पर कमजोर तबके के ग्रामीणों के वोट स्वय डाल लिए जाते हैं और उन्हे मतदान केन्द्र तक जाने की जहमत नहीं उठाने दी जाती, वह चुनाव क्षेत्र चाहे गॉव का हो या शहर का । हॉ, यह जरूर है कि यह है निश्चित रूप से 'पटनिया रोग' (शहर से आया हुआ), 'महाभोज' में यही काम सरोहा का जोगिन्दर सिह करता हुआ चित्रित किया गया है ।

वीरेन्द्र जैन के 'डूब' (1991) का लड़ैई गॉव 1857 के गदर से लेकर स्वाधीन भारत मे पण्डित नेहरू से राजीव गॉधी तक की राजनीति का साक्षी है । स्थानीय स्तर पर वहॉ सिर्फ कांग्रेस पार्टी का अस्तित्व है किन्तु प्रसगात् चर्चा लोकतंत्र से लोभतत्र तक की चलती रहती है ।[73] महारानी साहिबा जो लोकसभा का अपना सफर कांग्रेस के टिकट से शुरू करती हैं, आगे चलकर पार्टी बदल देती हैं और बदले हुए चुनाव चिन्ह पर वोट मॉंगने ग्रामीणों के पास पहुँचती है । बेचारे सरलमना

ग्रामीण बहुत जोर लगाकर भी यह बात नहीं समझ पाते कि आखिर ऐसा कैसे हो जाता है । उन्हे क्या मालूम कि यह राजनीति है इसमे और भी जाने क्या-क्या होता है ।

आजकल एक पार्टी के नेता दूसरी पार्टी या उसके नेताओ के व्यक्तिगत चरित्र-हनन या प्राणघात मे कोई कोर-कसर उठा नहीं रखते । विधान सभा या लोक सभा के भीतर अमर्यादित, अससदीय आचरण जैसी अशोभनीय बात, आज 'साधारण' बात सी हो चुकी है । दलीय राजनीति की, घृणित रूप मे आई यह राजनीतिक कुरूपता ठीक आज की ही चीज नहीं है । यह दौर स्वतत्रता के बाद से ही शुरु हो जाता है । आज से लगभग पॉच दशक पूर्व लिखे गये 'आधा गॉव' (1966 - राही मासूम रजा) के क्षेत्रीय विधायक काग्रेसी परसुराम द्वारा जनसघी पाण्डेय जी के बारे मे यह प्रचारित किया जाता है कि ''एक छटे हुए बगुला भगत है । डकैतों के गोलदार है।''[146]

दलीय राजनीति और जातीयता

भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था पर विचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है – ''समूचे भारतीय जन-समूह के इतने स्तर भेद है कि उन सबका हिसाब रखना बड़े से बड़े धैर्यशाली केलिए भी कठिन कार्य है ।''[74] भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था को देखकर एक विदेशी नृतत्ववेत्ता ने हैरान होकर कहा कि भारतवर्ष मे एक भी ऐसी जाति न मिलेगी जो किसी न किसी दूसरी जाति की अपेक्षा स्वयं को बड़ी न मानती हो । हमारा भारतीय समाज अनेक जातियो का समुच्चय है और प्राचीन भारतीय समाज में ''सजाति समुदायों का महत्व, जाति-व्यवस्था के उत्कर्ष के युग मे अत्यधिक था । अराजक या प्रायः अराजक स्थिति में सामाजिक सुरक्षा के संयोजन मे इनका बड़ा हाथ भी था । 1947 के बाद जनतात्रिक स्वदेशी सरकार के सत्ता में आने के बाद इनका महत्व घटना चाहिए था किन्तु राजनीतिक अथवा अर्ध राजनीतिक इकाइयों के रूप में जाति-विरादरी का महत्व अक्षत है ।''[75]

भारत की जाति-व्यवस्था का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना भारतीय सस्कृति का । प्राचीन भारतीय मनीषा ने चार वर्णो पर आधारित समाज की व्यवस्था की थी । आरम्भ मे इस वर्ण विभाजन का आधार जन्म नहीं वरन् गुण-कर्म निर्धारित थे । योगेश्वर कृष्ण ने गीता मे

भी यही कहा है ।[76] बाद मे वर्ण का आधार जन्म बन गया और कई सामाजिक कारणो के चलते नई-नई जातियॉ अस्तित्व मे आती रहीं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी किसी जाति की उत्पत्ति के लिए पॉच कारणो को उत्तरदायी ठहराते है ।[77] इन्हीं पॉच कारणो के चलते इस देश मे नित नई जातियॉ बनती रही है ।

स्वातन्त्र्योत्तर युग की भारतीय राजनीति मे व्याप्त जाति का विष-बीज-वपन पूर्व स्वाधीनता युग मे ही अग्रेजी की कूटनीतिक चाल के चलते तभी हो गया था जब जाति-आधारित चुनाव की व्यवस्था उनके द्वारा की गई थी । गाँधी जी ने इसका प्रबल विरोध किया था किन्तु क्षुद्र स्वार्थी राजनीति के चलते उनकी नहीं चली और स्वाधीनता पूर्व युग मे ही राजनीति की धरती पर बो दिया गया जाति और साम्प्रदायिकता का यह बीज आज एक बड़े पौधे का रूप ले चुका है । राजनीतिक दल जाति के शिखण्डी को सामने कर भारतीयता रूपी भीष्म को पीड़ा के बाणो की शैया पर सोने के लिए मजबूर करते हुए अपना स्वार्थ-साधन कर रहे है ।

भारतीय राजनीति मे जाति के प्रवेश पर विचार करते हुए कृष्णनाथ लिखते है - ''जाति भारतीय सामाजिक सरचना की एक बुनियादी सस्था है । इसलिए सामाजिक, आर्थिक व्यवहार की तरह राजनीतिक व्यवहार मे भी इस सस्था का प्रभाव पड़ता है । जाति आज की राजनीति का सबसे बड़ा अकेला कारक है ।''[78] स्वतत्र भारत मे जाति की सक्रियता निरन्तर बढती जा रही है । जाति सबधी वैधानिक आरक्षण की खाद पाकर यह और पनपना उठी है ।[79] एम.एन.श्रीनिवास अपनी पुस्तक 'कास्ट इन माडर्न इण्डिया' मे राजनीति के इस जातिवादी चेहरे को बेनकाब करते हुए कुछ ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं ।[80]

शहर का आदमी अपने हितो के प्रति ग्रामीण की तुलना में अधिक सचेत होता है । गॉव आज भी अशिक्षा-अज्ञानता के अंधकार में डूबे है, जिसके कारण राजनेताओं के लिए, जाति का चुग्गा डालकर शहरियों की बनिस्बत इन ग्रामीणों को फँसाना कहीं अधिक सहज होता है । हिन्दी उपन्यासकार ने जाति के इस राजनीतिक रूपान्तरण को पूरी सूक्ष्मता में पकड़ा है और अपनी कथा का वर्ण्य-विषय बनाया है ।

उदयराज सिह कृत 'भूदानी सोनिया' {1957} के दो पात्र नवीन और रामू भगत जो क्रमश· आधुनिक शिक्षा प्राप्त एव अशिक्षित ग्रामीण है, आजादी के बाद राजनीतिक क्षेत्र के भ्रष्टाचारी पक मे डूब जाते हैं । अधिकार-लालसा और पद मोह दोनों को नचाता है और शहर से आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर लौटा नवीन अपने स्वार्थ-साधन के लिए जातिवाद को भड़काने में लग जाता है । प्रोफेसर गोकुलदास को जब यह मालूम होता है तो वे दुखी होकर विपिन से कहते है - ''आज सुना है इस इलाके मे चुनाव के चलते तुमने जातीयता की आग भड़का दी है, इसीलिए तो आज उसी की लहर है । तुम और भगत, दोनो ने सीट के लिए कोशिश की और जब तुम्हें सीट मिल गई तो भगत भीतर ही भीतर तुम्हें हराने की साजिश कर रहा है, इधर तुम भी जब किसी ओर से सहायता की उम्मीद नहीं पा रहे हो तो अब जातिवाद का नारा लगाकर वोट बटोरना चाहते हो ।........ यदि आजादी के बाद यही सब होना था जो आज इस अभागे मुल्क मे हर तरफ हो रहा है तो भई, उस परतत्रता मे ही ज्यादा आनन्द था, इस स्वतत्रता में नहीं ।''[81]

'सती मैया का चौरा' {भैरव प्रसाद गुप्त, 1959} का पिअरी गॉव राजनीति के चलते जातीयता एवं साम्प्रदायिकता का अखाड़ा बन जाता है । गॉव की राजनीति, चाहे कम्युनिस्ट हो, चाहे जनसघी, काग्रेसी हो या समाजवादी, सब के सब शहर में बैठे बड़े नेताओं के रिमोट से कट्रोल होते है । यह तब की भी राजनीतिक सचाई थी और 40-45 वर्ष बीत जाने के बाद आज की भी । उपन्यास का जनसघी पात्र कैलाश चुनाव हार जाने पर गॉव मे साम्प्रदायिकता की आग भड़काता है । धर्म और जाति दोनों राजनीति के हथियार के रूप में प्रयुक्त होते है । कैलाश की कुत्सित राजनीतिक विचारधारा से उपजे दलदल में पूरा गॉव फँसा हुआ दिखाई देता है । मन्ने उसकी तथाकथित धार्मिकता की पहचान कराते हुए कहता है - ''सती मैया के चौरे के बहाने गँवारो को भड़काकर हमारे खिलाफ करना चाहता है । जनता की अधी धार्मिक भावनाओ को छेड़कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है ।''[82]

'मैला आँचल' मे आया जातिवादी उभार भी राजनीति के कंधे पर सवार होकर शहर से ही आता है । बावनदास इस आयातित राजनीति के चेहरे को खूब पहचानते हुए बालदेव से कहता है– ''नहीं बालदेव छोटन बाबू जैसे छोटे लोगों की बात जाने दो । यह पटनियाँ रोग है !....... अब तो और धूमधाम से फैलेगा । भूमिहार, राजपूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं ।.......... अगले

चुनाव मे तिगुना मेले चुने जायेगे । किसका आदमी ज्यादे चुना जाए, इसी की लडाई है । यदि रजपूत पाटी के लोग ज्यादा चुने गए तो सबसे बड़ा मतरी भी राजपूत होगा ।''[83]

चुनाव नेता नही जातियॉ लड़ रही है । जिला काग्रेस के सभापति का चुनाव होने वाला है । मुकाबला दो मनुष्यों के बीच नहीं राजपूत और भूमिहार के बीच है । बावनदास सोचता है – ''अब लोगो को चाहिए कि अपनी-अपनी टोपी पर लिखवा ले – भूमिहार, राजपूत, कायस्थ, यादव, हरिजन !.......''[84] राजनीति के इस अध. पतन को देखकर बावनदास का मन कराह उठता है– ''सब चौपट हो गया ......''[85]

यह सन् 52 का जमाना है जब जाति राजनीति का सबसे बड़ा कारक तत्व बनकर छा जाती है । आज तो स्थिति हृदय-विदारक हद तक बिगड़ चुकी है । सन् 52 मे ही यह आलम था कि सभी राजनीतिक पार्टियों के फैसले जाति को आधार बनाकर हो रहे थे । 'मैला ऑचल' इस हकीकत का साक्षी है । सोसलिस्ट पार्टी के एक बड़े नेता शहर पुरैनिया मे कालीचरन से पहली मुलाकात में पहला प्रश्न यही पूछते है - ''आपके गॉव मे सबसे ज्यादे किस जाति के लोग है ?''[86] और फिर, मेरीगज मे चूॅकि सबसे ज्यादे यादवो की सख्या है इसलिए वहॉ आर्गेनाइज करने के लिए यादव जाति का ही सोसलिस्ट नेता गगा प्रसाद सिह यादव को भेजा जाता है । योग्यता का आधार क्षमता नहीं जाति बन जाती है- ''मेरीगज में सबसे ज्यादा यादवो की आबादी है । वहॉ आपका जाना ही ठीक होगा । वहॉ आर्गेनाइज करने में कोई दिक्कत नहीं होगी ।''[87] क्योकि आप भी यादव है । क्या खूब आकलन है !

रागेय राघव के अन्तिम उपन्यास 'आखिरी आवाज' {1962} के डूँगरपुर मे युग की राजनीति एवं उसके दॉव-पेंच में आने वाली जनता का अत्यन्त मार्मिक रूप मे चित्रण हुआ है ।

राजनीतिक सन्दर्भों में जातिवाद की समस्या पर उपन्यासकार ने अच्छा प्रकाश डाला है । उपन्यास मे चित्रित राजनीति का पौधा जाति की खाद के भरोसे खूब फल फूल रहा है । सरपच से श्योपाल का कथन गॉंव की जातिवादी राजनीति की कलई खोलने के लिए पूरी तरह पर्याप्त है - ''.......... जब नीचे से लेकर ऊपर तक जवाहर सिंह, चंचल सिंह, कजौरी सिंह, बहादुर सिंह – सब ठाकुर ही ठाकुरों का गठबन्धन हो, तो ऐसे में बामनों में भी एक सिंह पैदा हुआ है – राम

सिह, तो उसको क्या हार जाने दिया जायेगा ?.. . . . उस पचायत मे यह चर्चा छिड़ी थी । तो एक ने कहा भाई बामन पचायत मे यह चर्चा छिडी थी । तो एक ने कहा भाई बामन खडा हुआ है तो बामन के जाये को तो बामन तरफ जाना चाहिए, क्योकि उटना पेड़ की तरफ मुड़ता है ।''[88]

'नदी फिर बह चली' {1961 - हिमाशु श्रीवास्तव} का गॉव चूरामनपुर भी चुनाव के चलते जातीय-जहर से ग्रस्त हो जाता है । विधायक जनार्दन राय ग्राम-स्तर पर भी अपना दबदबा कायम रखने के लिए अपने मैट्रिक फेल भतीजे को ग्राम पचायत चुनाव मे खड़ा कर देते है । उधर गॉव की राजपूत टोली अपना उम्मीदवार तेगा सिह को बनाती है । दोनो दल चुनाव को जाति के चश्मे से देखते है । राजपूतों का सोचना है कि - ''यदि हम लोगो ने जनार्दन राय के भतीजे को मुखिया चुन लिया, तो राजपूतो का हाल कुत्तो का हाल हो जायेगा । अगर जात और मूॅछ की लाज रखनी है, तो राजपूत को मुखिया बनाओ ।''[89] यह स्थिति सिर्फ चूरामनपुर की ही नहीं बल्कि प्रत्येक गॉव इस 'पटनिया रोग' {मैला ऑचल} की चपेट मे है । हनुमान लाल परबतिया से ठीक ही कहता है - ''जाति-पॉति का झगड़ा सिर्फ हमारे गॉव मे ही नही, जो लोग सरकार बनाए हुए है, उनके बीच भी है ।''[90]

गॉव से लेकर प्रान्तीय राजधानी और दिल्ली तक की राजनीति 'जाति' के गन्दे ढ़ेर पर बैठी है । ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि जो लोग ऊपर से जातिवाद की भर्त्सना करते है भीतर ही भीतर वे ही इसके प्रबल समर्थक है । विख्यात समाजविद् एम.एन.श्रीनिवास मानते हैं कि वे राजनेता जो इसको छिन्न-भिन्न करने की बात करते है मन में साथ ही साथ इसे 'वोट' प्राप्त करने का बढिया एवं भावुक माध्यम भी समझते है ।[91]

जातिवाद और ग्राम-जीवन में उसकी व्याप्ति से 'परती : परिकथा' का लेखक {फणीश्वरनाथ रेणु} भी 'दामन बचाकर' निकल नहीं सका है । परानपुर के एकमात्र शिक्षा केन्द्र जिसका भिम्मलीय नाम - दि ब्राहमण एच.ई.स्कूल है, में जाति और पंचायत के झगड़े के चलते पिछले पाँच वर्षो से कोई हेडमास्टर नहीं टिक पाया ।[92] गाँव के लोगों ने जाति को 'मेजरौटी' मे तब्दील कर दिया है और जब मेजरौटी है तो फिर क्या भय ! जो जी में आये करो ।[93] परानपुर के जातिगत संगठन पर टिप्पणी करते हुए रेणु लिखते हैं – पिछले आठ-दस वर्षों से जातिवाद ने काफी जोर

पकड़ा है । राजनीतिक पार्टियॉ भी जातिवाद की सहायता से सगठन करना जायज समझती है । राजनीति के दगल मे सब कुछ माफ है ।[94]

'अँधेरे के विरुद्ध' मे उदय राज सिह ने डोमन के शब्दो ग्रामीण राजनीति के जातिवादी चेहरे पर प्रकाश डाला है । वह कहता है - "जाति की तरफ पल्ला झुकना शुरु हो गया है । ब्राहमण का वोट ब्राहमण को राजपूत का राजपूत को और सारा हरिजन महाल एक साथ ।"[95] यह तो ग्रामीण डोमन का आकलन था । गॉव का शिक्षित युवक बी.डी.ओ. नरेन्द्र भी राजनीति के इस जातिगत दश को समाज के शरीर पर महसूस कर रहा है । वह डाक्टर से कहता है - "पाटा पाटी से शुरु होकर वोट जाति के नाम पर आकर टिक गया है ।"[96]

निरक्षर ग्रामीण जन से लेकर गॉव का शिक्षित तबका समाज की नसो मे निरन्तर फैलते जा रहे इस जातिवादी जहर को देख रहा है । किन्तु वह मजबूर है । राजनीति के अलम्बरदारो के आगे उसकी एक नहीं चलती । वे सब 'मैला ऑचल' के बावनदास की तरह सिर्फ कराह सकते है, कर कुछ नहीं सकते ।

भारतीय राजनीति की विद्रूपता का महाभाष्य लिखने वाली मन्नू भडारी के 'महाभोज' का नेतृवर्ग नरभक्षी गिद्ध है जिसकी लबी पैनी राजनीति की चोचे जनता को नोचने के लिए लालायित रहती है - हमेशा । अबकी इन गिद्धों की ऑखे जमी हैं सरोहा के ग्रामीणो पर । सुकुल बाबू जो अभी तक हरिजनों के बूते पर ही चुनाव जीतते आये थे । पिछले चुनाव मे हरिजनो के खिलाफ हो जाने से गच्चा खा गये । अबकी फिर इस जाति विशेष को पटाने के लिए अपनी गोटियॉ बिछा रहे है ।[97] उधर दा साहब की निगाहे भी इसी जाति पर जमी है । जहॉ सुकुल बाबू हरिजनो के सुर के सहारे अपनी जिन्दगी मे फिर से सुगम संगीत बजाने के ख्वाहिशमन्द है,[98] वही दा साहब भी कोई कसर उठा नही रखना चाहते । बिसू का बाप हीरा हरिजन तो आजकल समधी बना हुआ है, नेताओं के लिए, जिसे देखिए वही धोती की लॉग उठाये चला जा रहा है उसके पास ।[99]

विवेकी रॉय कृत 'सोनामाटी' में भी चुनाव की वैतरणी पार करने के लिए जातिवादी गाय की पूँछ का सहारा लिया जाता है । लोग बाकायदा वोट का जातिवादी चार्ट बनाकर चलते हैं ।[100]

धनेसर यादव के चार्ट मे गॉव का पूरा जातिवादी ऑकड़ा दर्ज है - ''इस गॉव की वोटर लिस्ट मे कुल 1246 वोटर है । .... 91 व्यक्ति बाहर है । डोम, नाई, बारी, लोहार, मुसलमान, कहार, अतीथ, हरिजन और ब्राहमणों के मिलकर कुल 386 वोट ठोस अपने........... अहीर टोली के 128 वोट मे लगभग कुल 76 अपने......... भूमिहारो के कुल 205 वोट मे दीनदयाता से प्रभावित सिर्फ 28 वोट अपने........ क्षत्रिय का वोट अपने को कम मिल रहा है ।.... . इस तरह कुल लगभग 565 वोट ठोस अपने.......... और 541 वोट जनता के.......... अब सोनार टोली जिसे चाहे जिता दे ।''[101] गॉव का आदर्शवादी शिक्षक रामरूप राजनीति मे घुस आई इस जाति से अत्यधिक खिन्न है । वह सोचता है– ''चुनाव के मुख्य मुद्दे ऐसे हो गये है कि, किस जाति का प्रधानमत्री ? राजनीतिक वाद नहीं असली तथ्य जातिवाद । राजनीतिक समझौते या गठबन्धन नहीं जातिवादी समझौते और गठबन्धन । अपढ-गॅवारो के क्षेत्र मे मशगूल है लोग कि ठाकुर विरादरी किसके साथ ? ब्राहमण किसके साथ ? तुम अमुक पार्टी में अपना वर्चस्व और राष्ट्रीय विकल्प खोजो, तुम अमुक दल मे अपनी शक्तिशाली राजनीतिक धारा को खोजो.......... खोजो अपने अस्तित्व की समूची छवियो को विशेष जातियों के ही इर्द गिर्द । क्षेत्रीय विरादरी को राष्ट्रीय विरादरी बाद मे परिणत हो जाने दो । जाति विशेष के लीडर की कल्पना ही राष्ट्रीय लीडर के रूप मे करो । गरीबो के ग्रामाचल में इस जातिवादी रग को निखरने दो ताकि आर्थिक स्तर वाली जीवन सघर्ष की कठिन मार भूली रहे............. दो-ढ़ाई दशक के भारतीय लोकतत्र की यही उपलब्धि है, जातिवादी गन्दगी?''[102]

'सोनामाटी' के धनेसर यादव की ही तरह का चुनावी गणित 'डूब' - वीरेन्द्र जैन, के मोती साव भी फैलाते है - ''कितना क्या छोड़ना होगा ? कम से कम और किसको छोड़ने से वोट बटोरे जा सकते है ? अहीरों में तो खैर माते है ही, और सबसे ज्यादा वोट अहीरो के ही हैं ।.......... और बानिया ? उनका क्या सोच-विचार करना । भला विरादरी बाहर के आदमी को सरपंच बनते देखकर उनकी अपनी भी नाक नही कटेगी क्या ? मोती साव उनके लिए मोती साव थोड़ेई है, वे तो विरादरी की नाक हैं । बानियों की तो समझो नाक खड़ी है चुनाव मे ।''[103]

कहते है पूत के पाँव पालने मे दिखाई दे जाते हैं । भारतीय राजनीति में जाति का जो दानव अपने पूरे हाहाकारी रूप में आज दिखाई दे रहा है उसका भ्रूण आजाद भारत की सघः राजनीति की कोख में ही पलता हुआ दिखाई देता है । 'झूठा सच' (दूसरा भाग - यशपाल) के

मत्री सूद जी जो कभी निहायत ईमानदार छवि वाले नेता के रूप मे ख्यात थे 'पोलिटिकल सफरर' आजाद के नाम का एक टन टीन का कोटा कटवाकर शकर लाल मठानी के नाम तीन टन का करवा देते है ।[147] इस परिवर्तन पर कनक बौखला कर पुरी से कहती है – ''आजाद पोलिटिकल सफ्टर है, मठानी ने देश के लिए क्या किया है ?''[148] पुरी सूद की राजनीतिक मजबूरी बताते हुए कहता है – ''मठानी का सिधियो पर बहुत प्रभाव है ।''[149]

'वोट बैक' की राजनीति कोई आज की राजनीति का ही काला पन्ना नहीं है । आजादी के सघर्ष मे पूरा जीवन होम कर देने वाला 'आजाद' {झूठा सच, दूसरा भाग}, आजाद देश मे रोजी-रोटी का कोई प्रबन्ध नहीं कर पाता और पराश्रित होकर कुछ दिन जीने के बाद असहाय मर जाता है ।

स्वाधीनोत्तर हिन्दी उपन्यासो मे 'अलग-अलग वैतरणी' {शिवप्रसाद सिह}, 'राग दरबारी' {श्री लाल शुक्ल}, 'माटी की महक' {सच्चिदानन्द 'धूमकेतु'}, 'बहता पानी जमता रोगी' {ओम प्रकाश निर्मल}, 'चाक' और 'अल्मा कबूतरी' {मैत्रेयी पुष्पा} आदि उपन्यासो मे भी राजनीति मे घुसे हुए जातीयता के कीड़े की पहचान की गई है ।

2000 के दशक मे खासकर 'मण्डल आयोग' की सिफारिशे लागू होने के बाद केन्द्र से लेकर गॉव तक की राजनीति में जातिवादी उभार ज्वार की तरह आया है, जिससे व्यक्ति की निजता छीज गई है और वह किसी जाति विशेष का एक हिस्सा मात्र होकर रह गया है । व्यक्ति के इस विघटन पर टिप्पणी करते हुए रामदरश मिश्र लिखते है - ''स्वाधीन भारत बहुत तेजी से विघटित हुआ है । इस विघटन में व्यक्ति, व्यक्ति रह गया है, या छोटे-छोटे दल रह गये है । इन व्यक्ति इकाइयो और छोटे-छोटे दलों के सामने देश और समाज नगण्य हो गए हैं ।''[104] कुल मिलाकर डब्ल्यू. एच. मोरिस जोन्स का कथन एकदम सटीक प्रतीत होता है ।[105]

चुनाव और ग्राम-जीवन मूल्य

चुनाव ग्राम-जीवन की मानसिकता में परिवर्तन तथा उसकी मूल्यवत्ता के क्षरण मे सहायक होने वाला गतिशील सन्दर्भ है । इस चुनाव में राजनीतिक साझीदारी पाकर ग्रामीणों ने युग-युग से

सचित अपने प्राचीन मूल्यो, विश्वासो, आस्थाओ एव परम्पराओ के धन को गॅवाया ही है । ग्राम-जीवन की सश्लिष्टता को रेखाकित करते हुए हिन्दी उपन्यासकारो ने चुनाव के विशेष सन्दर्भ मे उसके टूटते-बनते मूल्यों को बड़ी सजीदगी से विश्लेषित किया है । आज देश की राजनीति का यह हाल है कि उसके नेताओ में चरित्र की ऊँचाई ढूँढना चील के घोसले मे मॉस या भूसे के ढेर मे सुई खोजने जैसा प्रयास होगा । जीवन के हर क्षेत्र मे राजनीति का हस्तक्षेप घुस आया है, टूटे हुए बॉध के पानी की तरह । राजनीतिक दल-बदल, जन-प्रतिनिधियो की खरीद-फरोख्त, आये दिन सरकारो का बनना-गिरना । मुख्यमत्री से लेकर बाबू वर्ग और चपरासी तक मची लूट-खसोट, चारो ओर आपा-धापी का माहौल व्याप्त है । व्यक्ति पूरी तरह कुचला जा रहा है ।

देश के गॉव भी इस प्रभाव से अछूते नही है । वहॉ भी बजरिए शहर ये हवा प्रवेश कर चुकी है । स्थानीय पचायतों के चुनाव गॉव के जीवन में दलबन्दी, भ्रष्टाचार, मूल्य-विघटन एव विभिन्न सबध-तनाव लेकर उपस्थित हुए है । गॉव की इस त्रासद स्थिति पर विचार करते हुए गोपाल रॉय लिखते हैं - ''आजादी मिलने के इतने वर्ष बाद भी उत्तर प्रदेश और बिहार के गॉव सभी दृष्टियो से पिछड़े है और अविकसित तो रहे ही, उनके सामूहिक और सास्कृतिक जीवन मे मूल्यो की ऐसी गिरावट आई जो त्रासद कही जा सकती है......... राजनीति की गन्दगी गॉवों में भी पहुँच गई.......... चोरी, डकैती, शोहदागीरी, गबन, भ्रष्टाचार आदि के मामलों मे गॉव शहरों से होड़ लेने लगे ।''[106] आज भारत के गॉव ऐसे बन गए हैं कि भले आदमी का वहॉ गुजारा नहीं हो सकता । राजनीति के तूफानी घोड़े पर सवार होकर आने वाली शहरी आबोहवा ने वहॉ के जीवन को इतना विषाक्त कर दिया है कि सरलमना व्यक्ति का तो खैर वहॉ गुजारा हो ही नहीं सकता, अच्छे-अच्छो को तालमेल बैठाना भारी पड़ रहा है । 'मैला ऑचल' मे राजनीति के चलते गरीब सथाल बेरहमी से कत्ल होते है और पाट के खेतों में सरेआम सथालिनों के अस्मत की धज्जियाँ उड़ाई जाती है, 'परती : परिकथा' का जितेन्द्र, जो गाँव के नव-निर्माण के सपने देखता है चरित्रहीन करार दिया जाता है और पत्थर खाता है । 'अलग-अलग वैतरणी' के विपिन को अन्ततः गॉव छोड़कर भागना ही पड़ता है । ठीक विपिन का ही हाल 'डूब' के मोती साव का भी होता है । राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' भी राजनीति की आँच में झुलस कर रह जाता है और 'चाक' का अतरपुर राजनीति की चक्की में पिसता हुआ दर्द सहने को अभिसप्त है । 'अँधेरे के विरुद्ध' का नरेन्द्र गाँव की इस दशा को देखकर हतप्रभ है ।[107]

विवेकी रॉय के 'नमामि ग्रामम' {1957} मे गॉव स्वय अपनी पीड़ा को शब्द देते हुए कहता है- ''राजनीतिक रगमच पर कूटनीतिज्ञ, शातिभक्षी और नर-पिशाचो के अवतरण के साथ ही गॉवो का सुदूर एकातिक वातावरण भी धनघोर स्वार्थजन्य छीना-झपटी के घुटनशील राजनीतिक वायुमण्डल से आच्छादित हो गया । राजनीतिक वातावरण की सहारकारिणी मनोवृत्ति की काली छाया किसान के स्पप्न-जगत पर पड़ गई । अवस्था इस हद तक बिगड़ी कि प्रत्येक गॉव मे उपरफट्टूजन उछलने लगे । ये दूसरे के मड़वे मे नाचने वाले, ये बहती दरिया मे हाथ धोने वाले, ये कपा लेकर, लासा लेकर वन-वन घूमने वाले, धोखाधड़ी और मिथ्याचार जिनकी जीविका है, असत्य-सफेद झूठ और सब्जबाग ही जिनका धर्म है, क्षितिज के एक छोर को दूसरे छोर से बॉधने लगे, धराशायी शव पर पैशाचिक अट्टहास जिनका मनोरजन है, आमोद-प्रमोद है, युद्ध जिनकी क्रीड़ा-स्थली और सहार जिनका प्रिय व्यसन है, ऐसे निशाचर बड़ी-बड़ी बातें बनाने लगे । भोले-भाले मेरे बेटे किसानो की दुनिया को ये लोग विषाक्त कर रहे है ।''[108]

विवेकी रॉय के 'नमामि ग्रामम्' {1997} से तीन दशक पूर्व 1968 में ग्रामीण मूल्य ध्वस को आधार बनाकर श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' की रचना कर चुके थे जिसे मूल्य-विघटन के प्रतीकात्मक अकन के रूप मे देखा जा सकता है । यद्यपि कुछ आलोचकों को इसमे ग्राम-पीड़ा से उपन्यासकार की गहरी असम्पृक्ति प्रतीत होती है । गोपाल रॉय जी को 'रागदरबारी के व्यग में करूणा का अभाव और हास्य मे फूहड़पन' दिखाई देता है । गोपाल रॉय प्रभृति विद्वानों से क्षमा-याचना सहित कहा जा सकता है कि 'राग दरबारी' फूहड़ता की कहानी नहीं पीड़ा की महा गाथा है । दर्द असह्य हो जाने पर कभी-कभी आदमी ठहाका भी लगा पड़ता है । याद करे 'मैला ऑचल' के बावनदास को ''हा – हा - हा - हा ! .... सभापति - मतरी......... हो राम ! राम मिलाए जोड़ी............ हा - हा ! चले दोनों........... हा - हा ! भसम लाने........... हा - हा ! देस को भसम कर देगे ये लोग ! भस्मासुर !''[109] बावनदास के ये ठहाके हृदय के स्पर्श-कातर स्थल को छू जाते है । इसी तरह से याद किया जा सकता है मुंशी जी के घीसू और माधव को[110] क्या घर मे पड़ी लाश के कफ़न के पैसों की दारु पी जाना उनकी अमानवीयता है ? नील गायों द्वारा सारी फसल नष्ट कर देने के बाद हलकू का मुक्ति की साँस लेना क्या वाकई सन्तुष्टि प्रदर्शन है ?[111] नहीं ! 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना ।'

अमृतराय 'कलम का सिपाही' मे मुशी जी की एक नोटबुक का जिक्र करते है, जिस पर लिखा है - ''टेल्स आफ मिजरी टोल्ड इन ज्वायफुल स्टाइल' - गम की कहानी मजा ले लेकर ...। क्या इसके बाद भी राग दरबारी के विषय मे कुछ कहने के लिए शेष रह जाता है ? बहरहाल ।

ग्राम जीवन मे राजनीति के द्वारा आई मूल्य-स्खलन की स्थिति, बिखराव, टूटन, वैमनस्य, आदि को अनेक हिन्दी उपन्यासो मे वर्ण्य विषय बनाकर प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम में अन्य उल्लेखनीय उपन्यासो के नाम इस प्रकार है - 'भूदानी सोनिया' - उदयराज सिह, 'लोक परलोक' - उदयशंकर भट्ट, 'जमींदार का बेटा' - दयानाथ झा, 'सूरज किरन की छाँव' - राजेन्द्र अवस्थी, 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, 'जुलूस' - फणीश्वरनाथ रेणु, 'रीछ' - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र इत्यादि ।

मतदान के प्रति उदासीनता : शहर से गाँव तक

स्वाधीनतापूर्व युग की आदर्शोन्मुखी राजनीति, स्वतत्रता मिलते ही भ्रष्टाचार, मूल्यविहीनता और अपराध जैसे संड़ाध भरे दलदल में उतरती चली जाती है । राजनीति के कर्ता-धर्ता नेतागण लूट-खसोट और अनैतिकता के जीते-जागते नमूने बनकर सामने आ खड़े होते है । जाने कितने बीहड़वासी खद्दर की वर्दी धारण करके जगल से विधान सभा या ससद तक की असभव सी यात्रा पूरी कर लेते है, देश के लगभग सभी राजनीतिक दल इन पूर्व दस्युओं की अगवानी मे बाहे फैलाकर खड़े हो जाते है । 1954 में 'मैला ऑचल' का चलित्तर कर्मकार नेता हो जाने की राह मे कदम रख देता है तो सन् 2000 आते-आते 'चाक' का डाकू श्रीराम, श्रीराम शास्त्री होकर प्रदेश के मत्रिपद पर आसीन हो जाता है ।

नियमानुसार प्रत्येक पॉच वर्ष में और सरकारें गिरने पर अकसर बीच में ही, जनता देखती है कि सफेद, झक खादी वस्त्रों में लिपटे नेतागण अपने कभी-न पूरे करने वाले वादो के साथ उसके सामने हाजिर हैं । भोली जनता ने कितनी बार उसके झूठे वादों पर यकीन किया, किनती बार उसका यह भरोसा टूटा, इसका कोई हिसाब तो उसके पास नहीं है लेकिन इन टूटते वादों ने अपने साथ राजनीति पर उसका विश्वास भी तोड़ दिया ।

गॉव मे बसने वाले अशिक्षित जन तो 'कोउ नृप होइ हमहि का हानी' कहकर इस वर्तमान दौर की राजनीति से अपनी उदासीनता प्रकट करते ही है, शहर मे बसने वाला शिक्षित और बुद्धिजीवी तबका भी मतदान के प्रति बहुत आग्रही नही दिखाई दे रहा है । जनता को पूरे तौर पर यह यकीन हो गया है कि इस राजनीति मे सिर्फ चेहरे बदलते है, नीतियॉ बिल्कुल वही.......... जनविरोधी । अब तो ऐसा लगता है कि चेहरे भी नहीं बदलते सिर्फ ऊपर के मुखौटे बदल जाते है, भीतर सब कुछ वही ।

ऐसे मे शहर से लेकर गॉव तक के आदमी का राजनीति और राजनीतिक तमाशे मतदान से मोहभग होना बिल्कुल स्वाभाविक ही है । हिन्दी उपन्यासकारो ने राजनीति को उसके इस बेनकाब चेहरे के साथ अपनी लेखनी के कैमरे से कैद किया है ।

'मैला ऑचल' (रेणु), का डॉ. प्रशान्त जेल से छूटने के बाद कहॉ जाये, इस प्रश्न पर विचार-क्रम मे राजनीति के सन्दर्भ मे सोचता है कि उसमें तो वह कतई नहीं जायेगा । क्योंकि उसमे वह काबिलियत नहीं है जो उसके लिए अपेक्षित है । डॉ. प्रशान्त से बातचीत मे उसकी सहपाठिनी पटना वासिनी ममता राजनीति की तुलना डाइन से कहती है ।

राजेन्द्र अवस्थी कृत 'सूरज किरन की छॉव' की मिसेज बजो पति के आदेश के बाजजूद, जब वोट डालने जाती है तो अपना मत पत्र पेटी के ऊपर ही छोड़कर चली आती है । वह सोचती है - ''अन्दर डालने मे ही क्या धरा है ? पैरों मे आज जो बेड़ी पड़ी है कल भी पड़ी रहेगी - चाहे कोई जीते कोई हारे । नेहरु राज हो या पादरी की हुकूमत, मेरे लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मेरी हालत यही बनी रहेगी, उसे सिर्फ मेरा भाग बदल सकता है, यदि वह जीत जाय - पर वह तो चुनाव में खड़ा ही नही हुआ ।''[112]

पार्टीगत चुनाव से अदासीनता का ऐसा ही भाव 'अलग-अलग वैतरणी' - शिव प्रसाद सिह, के जग्गन मिसिर के इस कथन से ध्वनित होता है - ''पाल्टी नही लड़ती, जुलुम के खिलाफ, आदमी लड़ता है । आदमी अगर खुद स्वार्थी, बदमाश और लुच्चा होगा तो वह राम की ओर से भी लड़े तो उन्हें भी रावण बनाकर दम लेगा ।''[113]

इस उदासीनता का सबसे चटक रग 'राग दरबारी' - श्री लाल शुक्ल, के पचायत चुनाव के वक्त उभर कर आता है । वैद महाराज का भगघोटू चेला सनीचरा वैद जी द्वारा प्रधान पद का उम्मीदवार नामित होने पर अपने लिए वोट मॉगने निकलता है तो गॉव के दो इक्केवालों से उसकी बातचीत इस प्रकार होती है -

''शनीचर ने कहा, 'बोलो भाई, क्या कहते हो ?' ''

'' 'कहना क्या है ?' दूसरे ने जवाब दिया, जब वैद जी वोट की भीख मॉग रहे है तो मना कौन कर सकता है ! हमें कौन वोट का अचार डालना है ? ले जाये वैद जी ही ले जायें ।''

''पहले इक्केवाले ने उत्साह से कहा, 'वोट साला कौन छप्पन टके की चीज है ! कोई भी ले जाय ।''[114]

इक्केवाले के इस **'कोई भी ले जाय'** से लोकतत्र और मतदान की सारी सच्चाई बेनकाब होकर सामने आ जाती है - नगी, कुरुप, भदेस !

वर्तमान दौर की राजनीति एव चुनावी व्यवस्था से ऊब के स्वर विवेकी राय कृत 'सोना माटी' मे भी मुखरित हुए है । उपन्यास का आदर्शवादी पात्र इस चुनावी ढ्कोसले से पूरी तरह ऊब जाता है और उसके मन को यह प्रश्न बार-बार मथता है कि आखिर - **'क्या मिला गॉव को चुनाव से ?'**[115]

राजनीति : शहर से गॉंव तक : शुभावह पक्ष

मुशी प्रेमचन्द एक स्थान पर लिखते हैं कि बुरा से बुरा व्यक्ति भी एकदम बुरा नहीं होता । इसी तर्ज पर कह सकते हैं कि बुरी से बुरी चीज भी एकदम बुरी नहीं होती उसमें कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है । राजनीति को इसी कोटि में रखा जा सकता है । शहर से चलकर गॉव

तक पहुँची राजनीति की गदगी ने गॉव के शात, सुखद वातावरण को दमघोटू बना दिया, जाति-व्यवस्था की जकड़बन्दी की गॉठ इसने और मजबूत की, इसके ही चलते गॉव का परस्परिक सौहार्द, वैमनस्य मे बदल गया । गॉव के पारम्परिक रिश्तो को इसने दरारो ही दरारो से भर दिया। इसने कत्ल, डाके, आगजनी जैसी घटनाए करवाई और भी बहुत कुछ.......... । परन्तु अनेक बुराइयो की जड़ होकर भी राजनीति मे कुछ ऐसा भी है, जो शुभ है, कल्याणकारी है, सकारात्मक है । इसके इस हितावह पक्ष को निम्न प्रकार से रेखाकित किया जा सकता है ।

{क} वर्ण व्यवस्था गत रूढ़ियों में शिथिलता

इतिहास साक्षी है कि इस देश मे वर्ण का निर्धारण कर्म के आधार पर होना निश्चित किया गया । कालान्तर मे जाने कब और कैसे कर्म के स्थान पर जन्म ने वर्ण का आधार ग्रहण कर लिया और फिर तो एक के बाद दूसरी बुराइयॉ इसमे प्रवेश पाती गई । सबसे निचले पायदान पर स्थित जाति पर ऊपर वालों की सेवा का बोझ लादकर उसे सामाजिक वर्जनाओ की घेरेबन्दी मे, अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया गया । ऊपर बैठे तथा कथित धर्माचार्यों ने अपनी सुविधा एव इसके शोषण के निमित्त कठोर सामाजिक नियम बनाए एव उन पर धर्म की मोहर लगाकर इन कथित शूद्रो के शोषण का अचूक हथियार बना लिया । इन नियामको में से एक महाराज मनु व्यवस्था देते हुए कहते है - ''पतितोडपि द्विजः श्रेष्ठो, न च शूद्रो जितेन्द्रियः'' तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी मे भक्ति-आन्दोलन इस जकड़बन्दी को चुनौती देता हुआ सा दिखाई पड़ता है । 'जाति-पॉति पूछै नहि कोई' की घोषणा के साथ संत कवि बड़े तल्ख स्वर मे जातिगत श्रेष्ठता को ललकारता है -

'जौ तू बाभन-बभनी जाया
आन बाट होइ काहे न आया'[116]

किन्तु बाद के वर्षों में ये स्वर फिर मन्द हो जाते है और भक्ति के सचालन सूत्र पुनः ऊँची कही जाने वाली जातियो के हाथ में पहुँच जाते हैं - राम काव्य के अन्तर्गत एक भी असवर्ण भक्त कवि दिखाई नहीं पड़ता और तुलसीदास मनु की स्थापना का हिन्दी तर्जुमा करते हुए लिखते हैं—

'पूजिय विप्र ज्ञान-गुन हीना,
शूद्र न जप-तप, ज्ञान प्रवीना ।'

सहस्त्राब्दियों पूर्व-स्थापित यह व्यवस्था आगे की शताब्दियो तक बदस्तूर कायम रहती है, छिट-पुट स्थानीय विरोधी स्वरो के साथ ।

स्वाधीनता पूर्व-युग मे अखिल भारतीय स्तर पर गाँधी इन जातिग्रस्त रूढियों एव छुआ-छूत का विरोध करते हुए इस चौथे वर्ण को 'हरिजन' कह कर सम्मान देने का प्रयास करते है किन्तु अपेक्षित परिणाम मिलता दिखाई नहीं देता । एक देहाती कहावत है कि 'अपने मरने पर ही स्वर्ग मिलता है' सो जब तक इन जातियो मे स्वतः आत्मगौरव का भाव नहीं जगता तब तक ऊपर से लादी गई चेतना भी दया जैसी तुच्छ चीज होकर रह जाती है और आत्म गौरव का बोध इन जातियो को कराया है राजनीतिक दलो ने । भले ही वोट की राजनीति के चलते यह काम हुआ हो, लेकिन हुआ, और खूब हुआ ।

राजनीति के चलते ऊँच-नीच, छुआ-छूत और खान-पान सम्बन्धी सामाजिक वर्जनाओ को जो चुनौती मिली उसे हिन्दी उपन्यासकार ने शिद्दत से महसूस किया और अपनी औपन्यासिक कृतियो मे उसके जीवन्त चित्र उरेहे है । 'मैला ऑचल' का कालीचरन चमार टोली में भात खा लेता है ।[117] किसी अहीर का चमार के घर पका भात खा लेना मेरीगज जैसे पिछड़े, अशिक्षित और रूढ़िग्रस्त गॉव के लिए कोई छोटी घटना नहीं है । इस असभव को सभव किया है राजनीति ने ही। कालीचरन गॉव के दलित वर्ग को समझाता है - ''जात क्या है ! जात दो ही, एक गरीब और दूसरी अमीर ।..... अमीर-गरीब !''[118] रात के अँधेरे में जात-पॉत को न मानने वाले एक सहदेव मिसिर भी हैं जो फुलिया चमारिन के साथ एक ही पुआ को बारी-बारी से दॉत से काटकर खाते है और भॉग के नशे में धुत होकर फुलिया को ही अपना 'जात-धरम' सब कुछ स्वीकार करते है ।[119] किन्तु सूरज की रोशनी में सरेआम ऐसा साहस कालीचरन ही कर पाता है – साहस के मूल मे होती है राजनीति ।

'परती परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, के परानपुर मे कम्युनिस्ट पार्टी की लता पटने से लाकर लगाई जाती है[120] जिसका सक्रिय कार्यकर्ता है, मकबूल । जिसने पैतृक नाम पीताम्बर झा को 'अनक-फर्म्ड' करवाकर नया नाम रखा है - मकबूल ![121] नुकीले नाम और नुकीली फेंचकट दाढ़ी ने उसके ब्राहमणत्व को खींचकर मीलों भगा दिया है । यह राजनीति का ही करिश्मा है कि

एक ब्राहमण, म्लेच्छ कहे-समझे जाने वाले मुसलमानो के घर, कौलीन्य गर्व को धता बताते हुए मुरगी का अडा खाकर दिखला देता है, बधना से पानी ढालकर पीता है और उनके घर की बनी हुई रोटी भी खा लेता है ।[122] उपन्यासकार के शब्दो मे - ''बड़ा क्रान्तिकारी काम किया है मकबूल ने !''[123] इसका परिणाम यह होता है कि परानपुर के सभी मुसलमान गाड़ीवानो को पूरा ऐतवार हो जाता है पीताम्बर झा उर्फ कामरेड मकबूल पर ।

जो काम राम-रहीम की एकता बताने वाली सतो की पवित्र वाणी नहीं कर सकी, उसे पूरा कर दिखाया राजनीति ने । जहॉ राजनीति की पहचान जाति का जहर फैलाने एव साम्प्रदायिक आग भड़काने वाले कारक तत्व के रूप मे होती है वहीं यह उसका एक शुभावह पक्ष है कि एक हिन्दू, वह भी ब्राहमण को, मुसलमान के घर की रोटी खिला देती है ।

राजनीति के ऐसे ही रूप के दर्शन 'जल टूटता हुआ' के तिवारीपुर की ग्राम पचायत चुनाव के वक्त होते है जब प्रधान पद के उम्मीदवार दलसिगार हरिजनों से भी हाथ जोड़कर मिलते है ।[124] भले ही यह हाथ जोड़ना स्वार्थवश हो रहा हो, लेकिन कम से कम यह तो हुआ कि ऊँची कहे जाने वाली जातियो ने इनके अस्तित्व को स्वीकारा, वोट के रूप मे ही सही, इन्हे भी इसान माना।

{ख} जन - चेतना

वयस्क मताधिकार ने गाँवों में छोटी व निम्न जातियों के स्वत्व को जगाते हुए उन्हे अपने अधिकारों के प्रति सजग किया । सदियो से पददलित इन जातियों के मन में भी आत्म गौरव का भाव पैदा हुआ । कुत्ते और सुअर से भी बद मानी जाने वाली जातियों को चुनावी प्रक्रिया ने यह अहसास कराया कि वे भी मनुष्य है तथा उनके मत का भी वही मूल्य है जो किसी अभिजात वर्गीय व्यक्ति के मत का । इस स्तर पर उसमे समानता का भाव पैदा हुआ । इस तथ्य को शब्द रूप प्रदान करते हुए विख्यात समाजशास्त्री एम.एन.श्रीनिवास लिखते है - ''स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से बालिग मताधिकार और पचायती राज के प्रारम्भ से 'नीच' जातियों विशेषकर हरिजनों में जिनके लिए गाँव से लगाकर संघीय संसद तक सभी निर्वाचित संस्थाओं में स्थान सुरक्षित हैं; आत्म

सम्मान और शक्ति का नया भाव पैदा हुआ है ।''[125] जन-जीवन मे आये इस जागरण को हिन्दी के अनेक उपन्यासो मे विषय बनाया गया है ।

प्रजातात्रिक शासन प्रणाली के देय के रूप मे गॉवों का दलित वर्ग समाजवादी चेतना से सम्पन्न हो गया है । नागार्जुन का बलचनमा समाजवादी-चेतना से जागृत एक ऐसा ही पात्र है जिसे समाजवादी पार्टी के नेताओं द्वारा सघर्ष की प्रेरणा मिलती है । उन्हे बताया जाता है – ''किसान भाइयो, मॉगने से कुछ नहीं मिलेगा । अपनी ताकत से ही अपना हक आप पा सकते है।''[126] परिणाम यह होता है कि बचपन से शोषण और अत्याचार की कटीली छाया में पला बलचनमा कह उठता है – ''ठीक तो कहते है सोसलिस्ट भाई, जिसका हर-फार उसकी धरती ! जिसकी हुनर और जिसका हाथ उसी का कल कारखाना !''[127] अधिकार लड़कर हासिल किए जाते है मॉगकर नहीं, इस तथ्य को फिराक साहब अपनी एक गजल मे कुछ यो बयान करते है –

''बन्दगी से कभी नहीं मिलती
इस तरह जिन्दगी नहीं मिलती ।
लेने से ताजो-तख्त मिलता है
मॉगे से भीख भी नही मिलती ।''[128]

ठीक 'बलचनमा' की भॉति रेणु ने 'मैला ऑचल' मे राजनीति के माध्यम से जन-जागरण के स्वर को पर्याप्त प्रतिष्ठा दी है । शहर पुरैनियॉ से लौटने के बाद कालीचरन गॉव के शोषित तबके को, उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने मे जी जान से जुट जाता है । वह उन्हे समझाता है – कि जमीन पर असली हक उसका है जो उसे जोतता है - ''जो जोतेगा वह बोयेगा, जो बोयेगा वह काटेगा । कमाने वाला खायेगा ।''[129] कालीचरन के सम्पर्क में आकर युगो से उपेक्षा व शोषण का दंश भोगते सथाल तत्कालीन समाजवादी पार्टी की सदस्यता ग्रहण करते है । युगों से पीड़ित, दलित और उपेक्षित लोगों को कालीचरन की बाते बड़ी अच्छी लगती है । ऐसा लगता है कि कोई घाव पर ठढा लेप कर रहा हो । कालीचरन कहता है - ''मै आप लोगों के दिल मे आग लगाना चाहता हूँ । सोए हुए को जगाना चाहता हूँ । सोसलिस्ट पाटी आपकी पाटी है, गरीबों की, मजदूरों की पाटी है । सोसलिस्ट पाटी चाहती है कि आप अपने हकों को पहचानें । आप भी आदमी हैं, आपको आदमी का सभी हक मिलना चाहिए ।''[130] इस प्रयास का

परिणाम शुभ निकलता है । नाई, धोबी, चमार सभी मे आत्मचेतना के भाव का उदय होता है । सबने काम बन्द कर दिया । अब वे पुरानी शर्तों पर, पुराने तरीके से काम करने के लिए तैयार नही । रामरिपाल सिह के गुहाल मे गाय मरी पड़ी है तो पड़ी रहे, चमार नही उठायेगे । राजपूत टोले के लोगों की दाढ़ी बहुत बड़ी-बड़ी हो गई है तो होती रहे, नाई नहीं बनाएगे । अब ये अपनी शर्तों पर काम करेगे ।[131]

क्रूरताए, दैन्य और प्रताणनाए सहने वाली ये सर्वहारा जातियॉ राजनीति का बल एव वयस्क मताधिकार पाकर आत्म-सजग हो गयी । उन्हें भी अपने मान-सम्मान का भलीप्रकार बोध हो गया है । 'लोक परलोक' - उदयशकर भट्ट, मे बोहरे मगनीराम की पत्नी जब मेहतरानी को डॉट देती है, तो वह पूर्व की भॉति सब सह नही लेती वरन् काम छोड़कर चली जाती है मजबूर मगनीराम जब भगियो के मुहल्ले मे उसे बुलाने पहुँचते है तो भगी कहता है - ''पहले की बात पहले गई । अब जि नाये होयगी साब तुमारे की, कै हमारी वइमर - बानिन कूँ कछु बोलि जाय । अब हमेंऊ गाँधी ने बड़ौ करि दयौ है । हमारेऊ वोट हैं ।''[132]

'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, मे भी इस चेतना का अकन बड़े ही जीवन्त रूप में हुआ है । लवंगी जो एक चमार की युवा पुत्री है अपने भाई हॅसिया को 'पारवती' के साथ आशनाई प्रकरण मे पिटते देखती है तो आक्रोश से भर उठती है । वह न्याय और समता की मॉग करते हुए हरिजन नेता जग्गू से कहती है - ''हरिजनो के नेता मै तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओ से जाकर कहो कि हमारा खून खून नहीं है, हमारी इज्जत इज्जत नहीं है तो हमारा वोट ही वोट क्यो है ?''[133] लवगी के ये शब्द उसके उस अधिकार बोध के घोतक हैं जो उसे चुनाव की राजनीति ने कराया है ।

उदयशकर सिंह कृत 'अॅधेरे के विरूद्ध' में भी स्थानीय चुनाव के अवसर पर दलित वर्ग के टोलों मे राजनीतिक चेतना की सुगबुगाहट दिखाई देती है । इस चुनावी मौके पर बसतपुर जाग पड़ा । सदियों से सामतशाही और नौकरशाही यत्र मे पिसी हुई जनता आज पहले-पहल अपना हक पहचानने जा रही है । चमार टोली, दुसाध टोली, मुसहर टोली,....... सभी जगह सरगर्मी है ।''[134]

यह राजनीति की ही देन है कि 'परती परिकथा' {रेणु}, का दलित वर्ग, जमींदार पुत्र जितेन्द्र मिश्र के सामने सघर्ष की मुद्रा मे उठ खड़ा हो जाता है ।[135] भले ही यह चेतना लुत्तो की 'लगीवाजी' के चलते आती हो, लेकिन आती है और 'मैला ऑचल' की ही भॉति सभी छोटी कही जाने वाली जातियॉ - धोबी, चमार, नाई, बढई, खवास, काम करना बन्द कर देती है ।[136] लुत्तो उन्हे समझाता है - ''नौकरी करने मे हर्ज नहीं ! करो नौकरी, लेकिन शान से करो । रविवार को काम करने मत जाओ । गाली दे तो पहले चेता दो । दूसरी बार गाली दे तो कहो कि गाली का जवाब गाली से देगे । जो गाली सहेगा, उसको जुरमाना देना होगा !.....''[137]

राजनीति ने किस प्रकार दलित वर्ग को आत्म सजग बनया है इसके सटीक प्रमाण शिवप्रसाद सिह कृत 'अलग-अलग वैतरणी' मे उपलब्ध होते है । जिस गॉव मे यादववशी चारपाई पर नहीं बैठ पाते थे वहॉ एक यादव 'मसलद' पर तो बैठता ही है,[138] राजनीति की शुभ देन के रूप मे, गाली की तरह इस्तेमाल होने वाली जाति 'चमार' जाति की आत्मगौरव की जागृत भावना को उपन्यास मे देखा जा सकता है । सुरजू सिह डोमन चमार की पुत्री सुगनी के साथ रगे हाथ चमारो द्वारा पकड़ लिए जाते है तब बारह गॉवों के चमारो की 'बटोर' मे यह निर्णय लिया जाता है कि सुरजू सिह सुगनी को पत्नी स्वीकार करके स्वय आकर चमरौटी से ले जाय अन्यथा चमार लोग सुगनी को तो जाकर उनके घर बैठा आयेंगे ।[139] इस मौके पर गाजीपुर शहर से आये चमारो के नेता कॉग्रेसी लच्छीराम का भाषण दृष्टव्य है - ''भाइयो, ... यह सारी कौम की इज्जत का सवाल है ।........ अब वह जमाना गया कि हम बड़े लोगों की जूती चाटने को ही अपना धर्म मानते थे । सारा मामला आप लोगों के सामने है । अब इसका जवाब आप लोगों को सोचना है।''[140] लच्छीराम का भाषण सुनकर चमारो का 'रोंवा भरभराने' लगता है और अगले दिन गोलबन्द होकर वे सुगनी के साथ ठाकुर सुरजू सिंह के दरवाजे जा पहुँचते है । चमारों की ऐसी ही बटोर इस घटना से लगभग 30-35 वर्ष पूर्व करैता में ठाकुर जैपाल सिंह के जमाने मे भी हुई थी, ठाकुर के लठैतों द्वारा चमारों को स्त्रियो-बच्चो समेत पीटने के जुल्म के खिलाफ, किन्तु तब चमारो के सभी मुखिया जाकर जैपाल सिंह के पैर पकड़ लेते हैं । क्योकि तब राजनीति का प्रकाश करैता तक नहीं पहुंचा था ।[141]

राजनीति प्रेरित जन-जागरण का स्वर 'आधा गाँव' {1966 - राही मासूम रजा} के हरिजनो मे भी सुनाई पड़ता है और कौलीन्य गर्व से भरे गंगोली के सैयदों को बड़ी तकलीफ होती है -

''खुदा गारत करे ई मट्टी मिले कॉगरेसिन को जिन्होने चमारो और भगियो का रूतबा बढा दिया है । ऊ सब अब अछूत ना है... .. हरिजन हो गये है......... उन्होने मुर्दाखाना भी छोड़ दिया है और कोई महीना भर पहले चमारो का एक गोल परूसरमवा की लीडरी मे पडिताने के कुएँ पर चढ गया और पानी भर लाया ।''[150]

'नीच जाति' मे आया यह गौरव बोध सैयदजादी आसिया की भॉति सैयद अशरफुल्लाह खॉ के भी दिल मे कसकता है वे भी कॉग्रेस को कोसते हुए कहते है - ''इन कॉग्रेस वालो ने नाक मे दम कर दिया है । अब नीच जात वाले भी ऑख उठाकर बात करना चाहते है ।''[151]

'अलग-अलग वैतरणी' के सुखराम को अगर अहीर होने के बावजूद ठाकुर लोगो की बराबरी मे बैठने का हक राजनीति दिला देती है तो 'आधा गॉव' के 'चमार' परसुराम भी इसी राजनीति के प्रभाव के चलते गगोली के मियॉ लोगों की कुर्सी पर बैठने का अधिकार पा जाते है । उनके बिरादरी के लोगों के लिए यह बहुत बड़ी तस्कीन की बात है ।[152] शहर से आकर गाँव के सर्वहारा वर्ग में आत्म-चेतना के प्रसार का काम 'आकाश की छत' - रामदरश मिश्र, में कामरेड जगत द्वारा भी किया जाता है ।

{ग} राजनीति और नारी-जागरण

भारतीय सन्दर्भों में जब दलित कीबात चलती है तो दृष्टि सबसे पहले नारी जाति पर जाकर ठहरती है । इस देश मे मानवीयता और दलितोद्धार का सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था और नारी पराधीनता से रहा है । ये दोनो अन्योन्याश्रित रुप मे परस्पर सम्बद्ध हैं । इसलिए भारत मे जब-जब कोई मानवीय विचारधारा लोकप्रिय और व्यापक आन्दोलन को जन्म देती है, तब-तब उससे प्रेरित साहित्य, वर्ण व्यवस्था और नारी-पराधीनता पर प्रहार करता है । इन आन्दोलनो से प्रेरणा लेकर अवर्ण जातियाँ एव नारियाँ समाज मे अपनी उल्लेखनीय भूमिका अदा करते हैं ।[142] मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन इस तथ्य का पुख्ता प्रमाण है, जहाँ पुरुषों के साथ नारियॉ बराबरी मे खड़ी दिखाई देती है वह चाहे सहजोंबाई हों, अदाल हों या कि फिर मीरा । आधुनिक काल मे राजीनति आन्दोलन बनकर नारी-जागरण में सहायक होती है । हिन्दी उपन्यासों ने ऐसे अनेक नारी पात्र

सृजे जो राजनीतिक प्रभाव के चलते आत्म सजग होकर पुरूषो के मुकाबले खड़े हो पाने का साहस करते है । या फिर राजनीति जहाँ उन्हे सजग बनाने का पवित्र कार्य करते हुए दिखाई देती है ।

'मैला आँचल' {रेणु}, मे कॉंग्रेसी राजनीति के चलते मेरीगज मे सिर्फ चरखा-कर्घा ही नहीं आते वरन् बूढे लोगो को रात मे पढाया भी जाता है । इन पढने वालो मे गॉव की औरते भी शामिल है जिन्हे मगला पढाती है ।[143] यह राजनीति का सबसे पवित्र का था जो आगे चलकर राह भटक गया और कागजो तक सिमट कर रह गया ।

स्वाधीनता पूर्व युग मे ही ऐसे अनेक नारी पात्र हिन्दी उपन्यास मे चित्रित है जो पुरूषो के कधे से कधा मिलाकार आजादी के लिए सघर्ष करते है । चाहे 'मैला ऑचल' मे गॉधीवादी तरीके से सघर्ष करते हुए पुलिस के डण्डे सहने वाली आभारानी हो, पुलिस की यातना, क्रातिकारी देवकान्त को सरक्षण देने में, सहने वाली 'ब्रम्हपुत्र' की आरती हो या फिर अँग्रेजो से लोहा लेने के लिए स्वय बन्दूक थाम लेने वाली 'टेढ़े मेढे रास्ते' की वीणा हो । सबकी सब आत्मोत्सर्ग मे कहीं से भी पुरूषो से कमतर नहीं दिखाई पड़ती ।

स्वातत्र्योत्तर युग की चुनाव की राजनीति ने शहर से लेकर गॉव तक की नारी को आत्म चेतन बनाया है । 'सूरज किरन की छॉव' {राजेन्द्र अवस्थी}, मे बजारी से मिसेज बैजो बन चुकी आदिवासी महिला को आदिवासियो का मुखिया बताता है - ''वह तुम्हारा पादरी है, चाहो तो उसे ही वोट डाल सकती हो, पर तुम्हें कोई दबा नहीं सकता, तुम्हारा पति भी नहीं । तुम आजाद देश की नागरिक हो जिसे चाहो वोट दे सकती हो ....''[144]

राजनीति की ताकत पाकर अपने अधिकारो के लिए 'चाक' {मैत्रेयी पुष्पा}, की सारंग भी सघर्ष करती है और अन्ततः सफल भी होती है ।

नट जनजाति की चदा अधूरे किले की मालकिन बनने का ख्वाब देखते-देखते कभी न टूटने वाली नीद में सो जाती है और उसकी माँ प्यारी तमाम उम्र सिपाही-दारोगा से लेकर जमींदार तक की अकशायिनी बनने को मजबूर होती है परन्तु अल्मा {'अल्मा कबूतरी'- मैत्रेयी पुष्पा} के साथ ऐसा नहीं होता क्योंकि उसे राजनीति का प्रश्रय मिल जाता है और देह की कीमत पर ही सही

अन्तत वह श्रीराम शर्मा की विधवा के रूप मे राजनीति की रपटीली डगर पर अपने पॉव मजबूती से जमा देती है ।[145]

राजनीति द्वारा जन-जागरण का चित्रण हिन्दी के निम्नाकित उपन्यासो मे भी दृष्टव्य है- 'नई पौध', 'वरुण के बेटे' - नागार्जुन, 'सागर लहरे और मनुष्य' - उदयशकर भट्ट, 'मुक्तावती'- बालभद्र ठाकुर, 'जमींदार का बेटा' - दयानाथ झा, 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, 'नदी फिर बह चली' - हिमाशु श्रीवास्तव, 'रीछ' - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल और 'माटी की महक' - सच्चिदानन्द 'धूमकेतु' इत्यादि ।

सन्दर्भ

1 ‘खड़ी बोली काव्य · ऐतिहासिक सदर्भ और मूल्याकन’ - डॉ निर्मला अग्रवाल, पृष्ठ 80

2 ‘खड़ी बोली काव्य . ऐतिहासिक सदर्भ और मूल्याकन’ - डॉ. निर्मला अग्रवाल, पृष्ठ 77

3 ‘प्रेमचन्द और उनका युग’ - डॉ. रामविलाश शर्मा, पृष्ठ 79

4 ‘गोदान’ - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 12

5 ‘अचल मेरा कोई . .’ - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 68

6 ‘अचल मेरा कोई. .... ’ - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 69

7 ‘अचल मेरा कोई .. ’ - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 70

8 ‘अचल मेरा कोई . ...’ - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 71

9 ‘अचल मेरा कोई . . ’ - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 73

10 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 40

11 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 58

12 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 62

13 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 94

14 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 101

15 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 173

16 ‘बलचनमा’ - नागार्जुन, पृष्ठ 177

17 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 30

18 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 31

19 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 87

20 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 88

21 ‘मैला आँचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 88

22 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 90

23 ‘मैला ऑचल’ - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 90

24 ‘भूदानी सोनिया’ - उदयराज सिह, पृष्ठ 16

25 ‘पानी के प्राचीर’ - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 78

26 ‘पानी के प्राचीर’ - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 79

27 ‘अलग-अलग वैतरणी’ - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 43

28 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 43*

29 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 44*

30 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 45*

31 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 45*

32 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 45*

33 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 46*

34 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 47*

35 *'आजकल' {मासिक}, अगस्त 1972, - डॉ नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 14*

36 *'तुलसीदास चदन घिसै' - हरिशंकर परसाई, पृष्ठ 21*

37 *'भारतीय समाज' - गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ 91*

''आजादी के बाद के ये कानून, नीतियॉ और सुझाव, कहॉ तक राष्ट्र के लिए हितावह है और कहॉ तक मतदाताओ को बहकाने के लिए नारे हैं, इस प्रश्न पर यहॉ विचार करना आवश्यक है । किन्तु यह निश्चित है कि सत्तालोलुप राजनीति को न समाज-सुधारक माना जा सकता है न नये सास्कृतिक युग का मसीहा । इस राजनीति के स्तर पर चुनौती देने वाले परिवर्तनों की चर्चा किसी गभीर, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक बोध पर आधारित है ऐसा नहीं प्रतीत होता। अपने-अपने सकीर्ण तथा तात्कालिक स्वार्थों को नारो का जामा पहनाकर उनको सत्य और न्याय के रूप में प्रस्तुत करना जनतात्रिक राजनीति के अखाड़े में, राजनीतिक दलों की सत्ता के लिए एक सुविदित चाल है । उनके द्वारा परिवर्तन का नारा, सत्ता हथियाने के प्रयास से कुछ अधिक है, यह मानना कठिन है ।''

38 *'परती : परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 422*

39 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 35*

40 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 35*

41 *'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 35-36*

42 *'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 196*

43 *'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 301*

44 *'डूब' - वीरेन्द्र जैन, पृष्ठ 13*

45 *'डूब' - वीरेन्द्र जैन, पृष्ठ 13*

46 *'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 199*

47 *'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 371*

48 *'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 379*

49 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 402

50 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 406

51 'अन्धा युग' - धर्मवीर भारती, 16

52 'नई धारा' (मासिक), दिसम्बर-जनवरी 1973, पृष्ठ 73, लेख - सियाराम तिवारी

53 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 176

54 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 176

55 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 116

56 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 102-103

57 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 102

58 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 119

59 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 176

60 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 121

61 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु

''गॉव समाज में, मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क घनिष्ठ था । किन्तु वह अब नहीं रहा । एक आदमी के लिए उसके गॉव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़ और कुछ नहीं ।..... कहॉ है आज का कोई उपयोगी उत्सव, अनुष्ठान, जहॉ आदमी एक दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके ? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राण का योगसूत्र नहीं ।''

62 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 482

63 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 462

''मकबूल और जयदेव सिह ने अपनी-अपनी पार्टी के लीडरो को खबर भेजी है - इस परिस्थिति में क्या किया जाए ? जल्दी आदेश दें !''

64 'परती : परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 474

65 'परती : परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 27

66 'रीछ' - विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृष्ठ 719

67 'बीच की कड़ी' (कहानी) - डॉ. निर्मला अग्रवाल, सरिता (मासिक) अक 353, दिसम्बर 1968 मे प्रकाशित

68 'अँधेरे के विरुद्ध' - उदयराज सिह, पृष्ठ 9-10

69 'महाभोज' - मन्नू भंडारी, पृष्ठ 30

70 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 303

71 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 298

72 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 312

73 'डूब' - वीरेन्द्र जैन, पृष्ठ 95

74 'अशोक के फूल' (निबन्ध सग्रह) - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 20, निबन्ध - 'प्रायश्चित की घड़ी'

75 'भारतीय समाज' - गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ 75

76 'चतुर्वण मया सृष्ट गुण कर्म विभागश. ' - कृष्ण-उवाच - श्रीमद्भगवद् गीता 4/13

77 'कबीर' - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 16

(1) वर्णों के अनुलोम विवाह से

(2) वर्णों के प्रतिलोम विवाह से

(3) वर्णों की सस्कार भ्रष्टता के कारण

(4) वर्णों से बहिष्कृत समुदाय से

(5) भिन्न शकर जातियों के अन्तर्विवाह से

78 'धर्मयुग' - 20 जुलाई 1969, लेख - 'उत्तर भारत मे जाति और राजनीति' - कृष्णनाथ

79 'धर्मयुग' - 6 जुलाई 1969, लेख - 'देश के बदलते परिवेश में जाति की स्थिति' - डॉ. लालिता प्रसाद विघार्थी

80 'Caste in Modern India' Page 15 – M.N.Srinivas

"The manner in which the British transferred political power to the Indians enabled caste to assume political functions. In independent India, the provision of constitutional safeguards to the backward sections, especially the scheduled castes and tribes, has given a new lease of life to caste. It is hardly necesary to add that this contracts with the aim of bringing about a caste less society which most political parties, including the Indian National Congress profess."

81 'भूदानी सोनिया' - उदयराज सिह, पृष्ठ 213

82 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ 291

83 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 290

84 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 171

85 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 289

86 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 89

87 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 89

88 'आखिरी आवाज' - रागेय राघव, पृष्ठ 382-383

89 'नदी फिर बह चली' - हिमाशु श्रीवास्तव, पृष्ठ 298

90 'नदी फिर बह चली' - हिमाशु श्रीवास्तव, पृष्ठ 300

91 'Caste in Modern India', Page 41 – M.N.Srinivas

"Caste is so tactly and so completely accepted by all, including those who are most vocal in condemning it, that it is everywhere the unit of social action."

92 'परती परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 25

93 'परती परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 26

94 'परती परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 27

95 'अँधेरे के विरुद्ध' - उदयराज सिह, पृष्ठ 190

96 'अँधेरे के विरुद्ध' - उदयराज सिह, पृष्ठ 227

97 'महाभोज' - मन्नू भडारी, पृष्ठ 30

98 'महाभोज' - मन्नू भडारी, पृष्ठ 30

''और हरिजनों का सुर मिल गया तो फिर से सुगम सगीत बजने लगेगा - कम से कम उनकी अपनी जिन्दगी में तो ।''

99 'महाभोज' - पृष्ठ 132

100 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 302

101 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 305

102 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 314

103 'डूब' - वीरेन्द्र जैन, पृष्ठ 18-19

104 'आजकल' {मासिक} 1972, पृष्ठ 11, लेख - 'स्वतत्रता परवर्ती उपन्यास' - रामदरश मिश्र

105 'The Government and politics of India', Page 65 – W.H.Morris Jones

"The tob leaders may proclain the goal of a casteless society, but the newly enfranchised rural masses know only the language turns about caste. Non does caste keep out side the city limits. Although the long-run effects of urbon and industrial life may be to weak on caste loyalty, the immediate effects are opposite."

106 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' - गोपाल रॉय, पृष्ठ 261

107 'अँधेरे के विरुद्ध' - उदयराज सिह, पृष्ठ 159

''यहॉ तो भाई पालिटिक्स - पालिटिक्स । हर जर्रे में रह गया है । क्या बताऊँ, जिधर जाओ उधर ही राजनीति । सोचा था - इस गॉव मे कुछ राहत मिलेगी । पुराना घर, अपने लोग-बाग मगर हाय राम ! सब जगह वही लीला । पुराना शात वातावरण तो अब कहीं मिलता नहीं - हर टोले मे तनाव, हर कोने में दॉव-पेंच ।

108 'नमामि ग्रामम्' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 79

109 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 290

110 'कफन' - मुशी प्रेमचन्द

111 'पूस की रात' - मुशी प्रेमचन्द

112 'सूरज किरन की छॉव' - राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 156

113 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 86

114 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल

115 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 314

116 कबीर ग्रन्थावली

117 'मैला ऑँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 169

118 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 169-170

119 'मैला ऑँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 123

120 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 159

121 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 160

122 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 163

123 'परती : परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 163

124 'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 308

125 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' - एम.एन.श्रीनिवास, पृष्ठ 26

126 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 176

127 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 164

128 'हिन्दुस्तानी' {त्रैमासिक}, जनवरी-मार्च 1997 से उद्धृत

129 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 100

130 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 148

131 'मैला आँचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 170

132 'लोक परलोक' - उदयशकर भट्ट, पृष्ठ 110

133 'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 354

134 'अँधेरे के विरुद्ध' - उदयराज सिह, पृष्ठ 219

135 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 66

136 'परती . परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 100

137 'परती · परिकथा' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 162

138 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 235

139 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 431

140 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 426

141 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 425-426

142 'मीरा का काव्य' - विश्वनाथ त्रिपाठी, भूमिका

143 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 137

144 'सूरज किरन की छॉव' - राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 147

145 'अल्मा कबूतरी' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 390

146 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 349

147 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 410

148 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 404

149 'झूठा सच' (दूसरा भाग) - यशपाल, पृष्ठ 410

150 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 113

151 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 135-136

152 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 346

अध्याय - चतुर्थ

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-नगर सम्बन्धः आर्थिक आयाम

ग्राम व्यवसाय : कृषि और किसान

यह सर्वविदित तथ्य है कि भारत की बहुसख्यक आवादी का निवास गॉवो मे है और गॉव का मुख्य पेशा खेती-किसानी है । आर्यों ने भ्रमणशील जीवनशैली के बाद जब कृषि का जीवन का आधार बनाया तब से लेकर अनेक सहस्त्राब्दियॉ गुजर जाने के बाद भी आज कृषि ही देश की अर्थ व्यवस्था का मेरूदण्ड बनी हुई है । ऐसा नहीं कि आजादी के बाद के वर्षों में उद्योगों का विकास न हुआ हो परन्तु विश्व-उद्योग के सामने आज भी हमारे उद्योग 'घुटुरूवन' चलने की ही जैसी दशा मे है और बात घूम फिर कर वहीं, कृषि पर आ ठहरती है ।

स्वतत्रतापूर्व के किसान का जीवन, अग्रेज-बनियो की आर्थिक औपनिवेशिकता के दुश्चक्र मे पिसते घोर दारिद्र्य और उत्पीड़न की एक करूण गाथा है । यद्यपि गॉव का किसान हमेंशा से शासक वर्ग के लिए 'नरम चारा' रहा है परन्तु अँग्रेजों ने बिचौलिए के रूप मे जमींदारों की व्यवस्था करके तो मानो कोढ़ में खाज ही पैदा कर दी । इस अँग्रेजी राज की छत्रछाया में सुरक्षित जमींदार और महाजन तो किसान को जोंक की तरह चूसते ही रहे, मुखिया, पटवारी, नम्बरदार से लेकर चौकीदार, सिपाही, थानेदार और अमीन, कानूनगो, तहसीलदार से लेकर डिप्टी तथा कलेक्टर तक शोषकों और उत्पीड़कों की एक लम्बी सुरसामुखी श्रखला है जिनके पैने नख-दन्तों ने किसान को कभी चैन नहीं लेने दिया । उसके एक ओर बाढ़, सूखा, अकाल, अवर्षण जैसी दैवी आपदाएँ थीं तो दूसरी ओर इन शोषकों का पूरा एक तन्त्र, और इन दो पाटनों के बीच पिसते किसान के सारे जीवन की सच्चाई अति सक्षेप में कुछ इस प्रकार व्यक्त हो सकती है -

'जब ते माई जनमिया, कदा न पाया सुक्ख ।
डारी-डारी मै फिर्या, पाताँ-पाताँ दुक्ख ।।'

हिन्दी के अनेक उपन्यासों में भारतीय किसान की शोषण में पिसती जिन्दगी की करूण झॉकियॉ प्रस्तुत की गई हैं ।

कृषि और नगर प्रभाव

स्वतंत्रतापूर्व युग में ग्रामीण कृषक का संबंध नगरों से कदाचित इतना ही था कि उसका जमींदार बहुधा नगरवासी होता था । फसल के समय कारिन्दा आकर लगान वसूल ले जाता था या

यदा-कदा तफरीह के चलते जमींदार भी गॉव मे आकर डेरा डाल देता था । ये दिन किसान के लिए अत्यन्त कष्ट के दिन होते थे । अपने काम के बोझ से लदे हुए किसान पर बेगार के रूप मे एक और बोझ आ पड़ता था ।

सामान्य दिनो में उसका नगर से कोई नाता रहता रहा हो इसकी कोई सभावना नही दिखाई देती । स्वाधीनोत्तर काल मे नगरीय सम्पर्क ने किसान के जीवन को कई तरह से प्रभावित करना प्रारम्भ किया ।

{क} नीतिगत प्रभाव

देश हित नीतियो का निर्धारण जिस शासन व्यवस्था के जरिए होता है वह पूरी तरह नगरवासिनी होती है अत. इन नीतियों द्वारा होने वाले सम्पूर्ण ग्राम या कृषि क्षेत्र के परिवर्तनो का रेखाकन नगर प्रभाव के रूप में ही अपेक्षित है ।

पचवर्षीय योजनाएं

सन् 1928 के पश्चात सर्वप्रथम रूस में कार्यान्वित पचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के विश्वव्यापी प्रभाव से राष्ट्रीय समाजवादी लक्ष्यों की आपूर्ति, सर्वांगीण विकास और पूँजीवादी दोषों के मार्जन का उत्साह सम्पूर्ण विश्व में फैल गया और विकसित, अर्धविकसित तथा अविकसित अनेक राष्ट्रों ने आर्थिक नियोजन को अपनाया ।

वस्तुतः अर्धविकसित या अविकसित राष्ट्रों के नियोजन में कृषि और ग्रामीण उद्योगों की प्रमुखता होनी ही चाहिए क्योंकि ऐसे राष्ट्रों की जनसख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा इसी से जुड़ा होता है । ऐसी ही कृषि विकास आधारित, ग्रामोद्योग प्रधान 3500 करोड़ की 'गाँधीवादी योजना' सन् 1944 में श्रीमन्नारायण द्वारा प्रस्तुत की गई । परन्तु स्वतंत्रता के बाद का अर्थिक नियोजन विदेशी दबाव या कहा जाय प्रधानमंत्री नेहरु की अव्योहारिक सोच के चलते बहक गया ।

पॉचवीं योजना {1974-1979} अपना पॉच वर्ष का जीवन पूरा नही कर सकी और इसे 31 मार्च 1978 को ही समाप्त कर दिया गया । इस योजना में कृषि विकास मे प्रतिवर्ष 3.94 प्रतिशत की वृद्धि के लक्ष्य के साथ गॉवो में चिकित्सा के प्रबन्ध, पौष्टिक आहार, भूमिहीन श्रमिकों को मकान बनवाने के लिए जमीन, देहाती इलाको मे सड़कें, गरीबी उन्मूलन, और गाँवो मे बिजली पहुँचाने की व्यवस्था जैसे ग्राम हित के लक्ष्य निर्धारित किए गए परन्तु अपनी पूर्ववर्ती योजनाओं की ही भॉति इस योजना से भी गॉव का कोई भला नही हो सका ।

छठी योजना {1 अप्रैल 1980 से 31 मार्च 1985} में कृषि क्षेत्र के लिए कुल व्यय के 5.8 प्रतिशत का ही निर्धारण हुआ और डघोग क्षेत्र के लिए इसका लगभग तीन गुना । कृषि क्षेत्र के साथ ऐसा ही सौतेला व्यवहार 1 अप्रैल 1985 में लागू होने वाली सातवीं पचवर्षीय योजना में भी कायम रहा ।

आठवीं पंचवर्षीय योजना {1 अप्रैल 1992 से 31 मार्च 1997} मे कृषि मे कुल व्यय का 5.2 प्रतिशत खर्च किए जाने का लक्ष्य रखा गया । उघोग यहॉ फिर बाजी मार ले गया और उसका व्यय कुल व्यय का 10.8 प्रतिशत निर्धारित किया गया ।

लगभग ऐसी ही स्थिति 1 अप्रैल 1997 से 31 मार्च 2002 तक चलने वाली नौवीं पंचवर्षीय योजना मे भी रही जिसमे कृषि एव सबंधित क्षेत्र के लिए प्रस्तावित व्यय कुल व्यय का 4.4 प्रतिशत और उघोग क्षेत्र का 8.1 प्रतिशत रहा ।

1 अप्रैल 2002 से 31 मार्च 2002 तक की अवधि वाली दसवी पंचवर्षीय योजना में भी कृषि क्षेत्र के इस असन्तुलन को दूर करने का कोई विशेष उत्साह दृशिटगत नहीं होता ।

पचवर्षीय योजनाओं की इस अति संक्षिप्त चर्चा से यह तथ्य भलीभांति उजागर हो जाता है कि 'कृषि-प्रधान' योजना के नाम से प्रचारित होने वाली 1952 की पहली योजना से लेकर 2002 तक की नौवीं पंचवर्षीय योजना के साथ बीत जाने वाले पूरे पचास वर्षों में कृषक और कृषि क्षेत्र

का कोई विशेष भला नहीं हुआ और उद्योग की तुलना मे इसके साथ सौतेला व्यवहार ही होता रहा।

कृषि क्रातियाँ हुई जरूर लेकिन उन्ही के खेतो में जो इस क्रांति का मूल्य अदा कर पाने की क्षमता रखते थे । इन परिस्थितियों का गभीर विवेचन करें तो इसके तह में एक ही कारण नजर आयेगा - गदी राजनीति । अधिकाश सरकारी निर्णय चाहे वे राजनीतिक हो या आर्थिक राजनीति से परिचालित होते रहे है । राष्ट्र के आर्थिक हित गन्दी राजनीति के भार से दबे हुए है । कृषि एव कृषक क्षेत्र का कोई भला उन लोगों द्वारा होना कतई सभव नही है जिन्होंने कभी गरीबी देखी ही नहीं । धूल-धक्कड़ से भरे ग्राम-जीवन के हित का कोई काम वातानुकूलित मकानों मे रहने वाले हृदयहीन राजनेताओं और उनकी अन्धी-बहरी भ्रष्ट नौकरशाही के द्वारा भला कैसे सभव हो सकता है। गॉव की उस कहावत के अनुसार – 'जाके पैर न फटी बिवांई सो का जानै पीर पराई' ।

ग्राम संबंधी अन्य आर्थिक योजनाएं

ग्राम विकास का सबध सिर्फ कृषि विकास से जोड़कर देखना उसका एकागी दर्शन होगा । जैसा कि चैस्टर बोल्स कहते है - ''ग्राम विकास से मेरा अभिप्राय केवल कृषि सबधी विस्तार से नही, अपितु लघु उद्योगों, विद्यालयों, प्रशिक्षण केन्द्रों, उन्नत सचार-साधनों, ग्रामों में बिजली लगाने, सार्वजनिक स्वास्थ्य, जनसख्या नियमन केन्द्रों की वृद्धि से और यहॉ तक की ग्रामीण सॉस्कृतिक चेतना को जगाने से भी है ।''[2]

ग्राम विकास का अवलोकन इसी दृष्टि से करते हुए भारत सरकार ने सामुदायिक विकास योजनाए, भूमि-सुधार कार्यक्रम, सिंचाई व्यवस्था संबधी परियोजनाएं और अन्य नवीन प्रविधियों के कार्यान्वयन की व्यवस्था की । यह अलग बात है कि भ्रष्टाचार, ग्रामीणों की अशिक्षा, जनसख्या के दबाव आदि के चलते इनके बहुत अधिक शुभ परिणाम नहीं निकले ।

स्वाधीनोत्तर युग में हिन्दी उपन्यासकार ने ग्राम-जीवन के परिवर्तित प्रतिमानों, योजनाओं के प्रभावों और परिणामों को उनके सही रूप में पहचानते हुए उपन्यास में अभिव्यक्ति दी ।

मैला ऑचल {फणीश्वरनाथ रेणु, 1954} मे स्वाधीनोत्तर युगीन भारत के आरम्भिक कुछ महीनो का ही कथानक शामिल है । जिसमे स्वाधीनता पूर्व युग में ही गाँधी जी के प्रभाव के चलते मेरीगज मे चरखा खुल जाता है । कांग्रेस के इस आर्थिक प्रोग्राम का उद्देश्य गॉव के गरीबो को कुछ राहत पहुँचाते हुए उनकी आर्थिक दशा सुधारना था । उपन्यास में शिवनाथ चौधरी जी, जो मूलतः नगरवासी है सभा मे खादी के अर्थशास्त्र पर प्रकाश डालते हुए साबित करते है कि यदि गॉव का एक-एक आदमी चरखा चलाने लगे तो गॉव से गरीबी दूर हो जायेगी और अन्न वस्त्र की कमी नहीं रहेगी ।[3] गाँव मेरीगज मे चरखा सेण्टर खुलते ही लोगों को यह उम्मीद बँधती है कि 'अब गॉव मे गरीबी नहीं रहेगी' । पटना से दो मास्टर आते है - चरखा मास्टर और करघा मास्टर । इनके साथ औरतो को चरखा सिखाने के लिए पटना से ही एक मास्टरनी भी आती है जो औरतो से कहती है– ''चरखा हमार भतार-पूत, चरखा हमार नाती; चरखा के बदौलत मोरा दुआर झूले हाथी ।''[4] चरखे को लेकर कितनी बड़ी उम्मीदें थीं ! लेकिन 'सब चौपट हो गया !'

गॉवों का पिछड़ापन तथा विकास योजनाओं की सुगबुगाहट 'लोक परलोक' {उदयशकर भट्ट} में भी व्यक्त हुई है । गॉव का गजाधर – जो फौजी है – गॉव आर्थिक पिछड़ेपन को देखकर कहता है – ''सारे देश में नवनिर्माण हो रहा है, सड़कें, मिलें, कारखाने बन रहे है । हर तरफ काम ही काम है । बरसाती नदियों के बॉधों में करोड़ों रूपया खर्च हो रहा है । हमारी सेना के लोग तरह-तरह से जनता की सेवा कर रहे है । लेकिन इस गाँव को देखकर जैसे कुछ भी करने को नहीं है । न लाइब्रेरी है, न स्कूल, न हस्पताल की माँग है न कुछ और ।''[5]

जहाँ गजाधर शिक्षा एवं नगरीय सम्पर्कों के चलते आर्थिक-चेतना सम्पन्न होकर गाँव आता है और गाँव की बदहाली तथा आर्थिक पिछड़ेपन को समझता है वही लोटन और विक्रमसिंह जैसे लोगों के लिए शिक्षा के अभाव में इन विकास कार्यक्रमों का कोई अर्थ नही है । ये कार्य उन्हे अपने ऊपर जैसे थोपे हुए लगते है । वे गजाधर से कहते हैं - ''हमारी समझ में तो आवे नाऍं जे तुम्हारी बातें, जे लल्ला पढ़ि का गए हैं, फौज में नौकर का है गए हैं, गाम को बिगारिबे आइ गए है । कहें देतूँ जा गाम में कछु नांइ होयगो । ह्याँ नायें काऊ की जरूरत । मैं पूछतूँ सड़क बन जाइगी तो का है जाइगो ।''[6]

स्वतत्रता के बाद गॉवो के विकास के निमित्त योजनाओं पर योजनाए बन रही है परन्तु गॉव 'पूर्ववत वैतरणी' बने हुए है । गॉव में बसने वाली निरक्षर भट्टाचार्य जनता अलबत तो इन योजनाओ के विषय मे कुछ जानती ही नहीं और शिक्षा या अन्य कारणो के चलते शहरी सम्पर्क में आये जिन ग्रामीण जनो का इन योजनाओ से परिचय भी हो जाता है वे भी कागजी और अमली योजना के बीच के फर्क को देखकर गहन पीड़ा से भर उठते है ।

दयानाथ झा के उपन्यास 'जमीदार का बेटा' के गॉव लक्ष्मीपुर के युवक मित्र विनोद और महेश्वर शहर से लौटकर देखते हैं कि तमाम ग्राम-विकास योजनाओ के बाद भी गॉव की बदहाली नि· शेष है । विनोद का समर्थन करते हुए मामा कहते है - ''हमे खूब याद है, जब पहली योजना आरम्भ हो रही थी, किसी कार्य से हम दरभगा गये थे । दिल्ली से कोई मिनिस्टर साहब आये थे। कह रहे थे - 'यह प्रत्येक योजना रामराज्य की अटारी पर चढ़ने की सीढ़ी होगी' । पर देखता हूँ, अब पहली सीढी बनकर तैयार हो गई तो चावल का भाव तीन सेर से दो सेर और गेहूँ ढ़ाई सेर से दो सेर हो गया, अब देखना कि दूसरी सीढी बनते-बनते चावल-गेहूँ सेर-डेढ़ सेर बिकेंगे ।''[7]

गौर मतलब है कि मामा जी की यह आर्थिक-चेतना शहरी सम्पर्क का परिणाम है वरना गॉव के बेचारे अशिक्षित जन तो इस अर्थशास्त्र को समझते ही नहीं 'मैला आँचल' मे रेणु लिखते है - ''गाँव के लोग अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धान्त भी नही जानते । 'सप्लाई' और 'डिमांड' के गोरख धन्धे में वे अपना दिमाग नहीं खपाते । अनाज का दर बढ़ रहा है; खुशी की बात है । पाट का दर बढ़ रहा है, बढ़ता जा रहा है, और भी खुशी की बात है । पन्द्रह रुपये में साड़ी मिलती है तो बारह रुपये मन धान भी तो है । हल का फाल पाँच रुपये में मिलता है, दस रुपए में कड़ाही मिलती है तो क्या हुआ ? पाट का भाव भी तो बीस रुपए मन है । खुशी की बात है।''[8] गॉव के लोगों को क्रय वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमतों का खमियाजा तो भुगतना पड़ता है किन्तु अनाज की बढ़े हुए दाम का उन्हें कोई लाभ नहीं प्राप्त होता । उपन्यास बताता है - ''अनाज के ऊँचे दर से तीन ही व्यक्तियों ने फायदा उठाया है - तहसीलदार साहब ने, सिंह जी ने और खेलावन सिंह ने । छोटे-छोटे किसानों की जमीने कौड़ी के मोल बिक रही हैं । मजदूरों की सवा रुपये रोज मजदूरी मिलती है, लेकिन एक आदमी का भी पेट नहीं भरता । पॉच साल पहले सिर्फ पाँच आने रोज मजदूरी मिलती थी और उसी में घर भर के लोग खाते थे ।''[9]

स्वाधीनता परवर्ती युग मे लोगों ने उम्मीद बॉधी थी कि विकास योजनाओ की छाया तले गॉव सुख की शीतल छॉव में सुस्ता सकेगे किन्तु ऐसा कुछ नही हुआ । केन्द्र से फेके गए विकास धन को ऊॅचाई पर खड़े लोगों ने पूरा का पूरा लपक लिया और गॉव की अधिकांश आबादी को विकास खर्चों का कोई लाभ नहीं मिला । सामुदायिक विकास, पचायती राज, सहकारिता, सभी सरकारी और अर्धसरकारी सस्थाए बड़े किसानो के हित मे काम करती है और कुल मिला कर स्थिति कुछ यो हो जाती है -

'कोई तरस रहा उॅजियारे को
कोई सूरज बॉधे सोता है ।'

विकास योजनाओं के ग्राम-सन्दर्भी सच को उजागर करते हुए विवेकी रॉय कृत 'बबूल' (1967) के मास्टर जी कहते है - ''युग बीत गए बहकते-डहकते । कितने जार्ज वासिगटन और गॉधी दुनिया मे आए और गए । कितनी बार स्वतत्रता और समानता के शंख बजे । कितनी बार सुख और समृद्धि के ढोल पीटे गए । कितने पुराने तीर्थों की जगह भाखड़ा नंगल जैसे नए-नए तीर्थ बन गए । चाँद सूरज धरती पर उतर नहीं आए तो धरती की सीमा वहाँ तक पहुॅच गई । परन्तु इनका भाग्य जैसे घोर पाताल के अँधेरे मे खोता गया ।''[10]

योजना विकास को आरम्भिक वर्षो मे हिन्दी उपन्यासकार ने बड़े ही उल्लासमयी रूप मे चित्रित किया है जिसका जीवन्त प्रमाण रेणु कृत 'परती : परिकथा' (1957) में हुआ है । साहित्यकार के सवेदनशील मन ने कल्पना की कि ग्राम-जीवन की परती इन योजनाओं के धक्के से टूटेगी । परती तो नही, हॉ उम्मीदें जरूर टूट गई । 'परती : परिकथा' के प्रकाशन के 13 वर्ष बाद रेणु कहते है - ''मुझे विश्वास था जब कोसी योजना सफल होगी तो जिन्हें अभी जमीन नहीं मिली है उन्हें आगे चल कर मिल जायेगी । लेकिन वैसा नही हुआ । आज भी 100 पीछे 75 लोग ऐसे है जिनके पास कोई भूमि नही है ।''[11]

'परती : परिकथा' की ही भाति के आरंम्भिक उल्लास का जिक्र 'माटी के लोग : सोने की नैया' (मायानन्द मिश्र, 1966), 'धरती मेरी माँ' (बाल शौरि रेड्डी, 1969), 'उदयास्त' और 'उदय किरण' (वृन्दावन लाल वर्मा, 1960), 'अँधेरे के विरुद्ध' (उदयराज सिह, 1970) में भी हुआ है ।

सहकारिता और कृषि और अन्य योजनाएँ

सहाकारी खेती, सहकारिता सिद्धान्त पर आधारित वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है । इस सामूहिक स्वामित्व मे सब व्यक्ति भी शामिल हो सकते है और कुछ थोड़े से भी । इस व्यवस्था मे समस्त दायित्वो का निर्वहन सहकारी समिति करती है और समस्त आवश्यक साधन जुटाती है । प्रत्येक को उसकी भूमि के अनुपात मे उत्पादन का हिस्सा मिलता है ।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्रीय नेताओं एव कृषि-विशेषज्ञों ने रूस आदि देशों के अनुकरण के आधार पर इस नव व्यवस्था का प्रचलन विभिन्न योजनाओं के माध्यम से प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया । हिन्दी उपन्यासकार ने ग्राम-जीवन के इस आर्थिक आयाम को भी अपनी कृतियो में उभारा ।

हिन्दी उपन्यास मे शहर से आई इस सहकारिता की विचारधारा को दो रूपों में चित्रित किया गया है - {अ} सकारात्मक पक्ष {ब} नकारात्क पक्ष

{अ} सकारात्मक पक्ष

भैरव प्रसाद गुप्त कृत 'सती मैया का चौरा' {1959} में ग्रामीण-विकास सम्बन्धी समस्त योजनाएं राजनीति से प्रतिबद्ध हैं । परम्पराओं के तथाकथित रखवाले जनसंघी और कांग्रेसी पिअरी गाँव में स्कूल, सहकारी फार्म, बिजली एवं अन्य साधनों को विकसित नहीं होने देते परन्तु शहर में रह चुके प्रगतिशील युवक मन्ने के प्रयासों के चलते गाँव के जुब्ली मियाँ सहकारी फार्म के लिए अपनी जमीन तो देते ही हैं, खेती का काम सुचारु रूप से चल सके इसलिए ट्रैक्टर के निमित्त आर्थिक मदद भी करते हैं । उत्साहित मन्ने आशाओं से लबरेज सपना देखता है - ''..........हमारा गाँव आँखे खोल चुका हैं । स्कूल.........पंचायत........कोआपरेटिव फारम........ग्रामोघोग.......... हर मंजिल पर जिंदगी संवरती जायेगी ।''[12]

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय कृत 'रीछ' (1967) के चॉदसी गाँव का कॉमरेड विमल सहकारी खेती का प्रबल पक्षधर है । वह किसानो एवं निम्न वर्ग के हितो की सुरक्षा के लिए किसान-सभा का गठन करता है और समय-समय पर उसकी बैठकें बुलाता है । कॉमरेड जगत कृषकों को सहकारी खेती की सलाह देते हुए कहता है - "छोटे किसानो को चाहिए कि वे अपने चक मिलकर बनवा लें। सहयोगी खेती से ही वह बड़े किसानों का मुकाबला कर कते है ।"[13] कुछ ऐसे ही विचार विमल भी प्रकट करता है ।[14] सरकारी मशीनरी की रिश्वतखोरी और जमींदार की कुत्सित चाल के आगे गरीब बेवस नजर आते हैं किन्तु विमल प्राण-पण से इनके खिलाफ लड़ता है और इस संघर्ष मे प्राणोत्सर्ग तक कर देता है । उस का बलिदान रग लाता है और विमल केबाद चार-पॉच सहकारी फार्म खुलते है । हर फार्म सोना उगलता है । सहकारिता के परिणामस्वरूप गॉव में ट्रैक्टर हैं, कुएँ है, मशीनें हैं, बिजली है, डेरी फार्म है और इस प्रकार चॉदसी गॉव दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता नजर आता है ।

गाँवों मे सर्वाधिक सफल सम्भवी प्रजातान्त्रिक प्रगतिशील आर्थिक-कार्यक्रम के रूप मे सहकारिता का सकारात्मक पहलू वृन्दावन लाल वर्मा के 'अमरवेल' (1953) और 'उदय किरण' (1960) में उभर कर सामने आया है ।

'अमरवेल' के कलेक्टर को लगता है कि "बढ़ती हुई जनसंख्या, अन्नकष्ट और व्यापक बेकारी की समस्याओ का सामना करने के लिए सहकारी कृषि और सहकारी कुटीर उद्योगों को विकसित और उन्नत करना बहुत जरूरी है ।"[15] कलेक्टर के आदेश से अमेरिका में कृषि-शिक्षा प्राप्त जिला सहकारी अधिकारी राघवन सुहाना और बॉगुर्दन ग्राम में पूरी निष्ठा, लगन एवं उत्साह से सहकारी कृषि के लिए प्रयत्नशील होता है और अन्ततः सफल भी ।

अपने सर्वतोन्मुखी विकास एव अभ्युत्थान के लिए सहकारिता के प्रति अनन्य भाव से समर्पित ग्रामीण 'उदय किरण' में चित्रित हुए हैं । हमेशा अनाज और कपड़ों के लिए ललकने वाले ग्रामीणों को सहकारिता अपनाने के बाद धान की लहलहाती पकी फसलें भविष्य की आशाओं के सन्दर्भ में उल्लसित कर रही हैं ।[16]

सहकारिता के पूर्ण सफल रूप का चित्रण मायानन्द मिश्र कृत 'माटी के लोग : सोने की नैया' मे भी हुआ है ।

{ब} नकारात्मक पक्ष

हिन्दी उपन्यासो में सहकारिता का उज्ज्वल पक्ष ही नहीं अँधेरे भी दिखाई देते है । ग्राम विकास को दृष्टि में रखकर शासन-प्रबन्ध द्वारा क्रियान्वित सहकारी समितियॉ क्षुद्र स्वार्थों का अड्डा बनकर रह गई । गॉव के दबंग लोगों ने सरकारी तन्त्र से मिलीभगत करके इन समितियों को लूट का सुरक्षित जरिया बना लिया और वास्तविक जरूरतमन्दों को गुड़ की उम्मीद पर पत्थर ही मिले । गॉव मे होने वाली इन तमाम घपलेबाजियों के तार शहर से ही जुड़े होते है ।

'रागदरबारी' {श्रीलाल शुक्ल, 1968} के गाँव शिवपालगंज की कोआपरेटिव यूनियन का सुपरवाइजर रामस्वरूप बीजगोदाम का सारा गेहूँ ट्रक में लदवाकर शहर की गल्लामंडी में बेंचकर सम्भवतः बम्बई भाग जाता है[17] और कोआपरेटिव के अध्यक्ष वैद जी की सदारत मे यह प्रस्ताव पास होता है कि सरकार इस गबन का हर्जाना भरे ।[18] वैद महाराज का शहरी भान्जा रूप्पन जब इस पर आश्चर्य प्रकट करता है तो वे कहते है - "जो भी हो यदि सरकार चाहती है कि हमारी यूनियन जीवित रहे और उसके द्वारा जनता का कल्याण होता रहे तो उसे ही यह हरजाना भरना पड़ेगा ।"[19] क्या लाजवाब तर्क है !

सहकारी योजनाओं ने गाँव वालों का कितना भला किया यह अलग प्रश्न है किन्तु इसके द्वारा अपना स्वार्थ साधने के लिए वे धूर्त बनें जरूर दिखाई देते हैं । शिवपालगंज के प्रधान पद के उम्मीदवार सनिचरा को जब पता चलता है कि आजकल सहकारिता का जोर है तो वह तुरन्त ब्लाक के ए.डी.ओ. साहब से सम्पर्क साधता है । वे उसे सहकारी खेती का मतलब समझाते हुए बताते हैं - "जरा सा कागज का पेट भर देने से खेती सहकारी हो जायेगी ।"[20] सनीचर और ए.डी.ओ. साहब दोनों अपना-अपना मतलब गाँठने में लगे हुए हैं । सनिचरा जब यह जानता है कि इस सहकारी खेती में 'मामला तर' है तो कालिका प्रसाद से मिलकर ऐसी 'इस्कीम' बनाता है कि - 'ब्लाक के ए.डी.ओ. - फे.डी.ओ. सबकी लेंड़ी तर'[21] और उसके बाद सहकारी कृषि की सारी हकीकत

सनिचरा की ही जुबानी - ''अब इस गॉव मे एक कुऑपरेटिव फारम खुलेगा । ऐसा फारम इलाके भर मे नही है । पच्छिम की तरफ वाले ऊसर मे फारम लहकेगा । ऊसर होने से कोई हरज नही । कागद-पत्तरवाला काम ब्लाक वाले सभालेंगे । कागद-पत्तर के मामलों में वे तहसील-थाने वालों के भी बाप है । कहो तो आसमान में कुआपरेटिव बना दे, यहॉ तो धरती की बात है ।''[22]

ग्राम-नगर सबधों की एक कड़ी के तौर पर सहकारिता असगर बजाहत के 'सात आसमान' (1996) में बिल्कुल जुदा रूप में चित्रित हुई है, जिसमें उपन्यास के नैरेटर पात्र के अब्बा जो पूर्व जमींदार की सन्तान हैं, गॉव मे स्थित अपनी खेती को सहकारी फार्म में तब्दील कर लेते है ।

मामला कुछ यों दरपेश होता है कि आजादी के बाद यह खबर जोर पकड़ती है कि सीलिग का कानून आने वाला है । उसी के साथ-साथ यह भी पता चलता है कि कोऑपरेटिव फार्मों पर सीलिंग लागू नहीं होगी ।[23] 'अब्बा' एक मुशी जी की मार्फत कोऑपरेटिव के बारे में तमाम जानकारियॉ पाकर सबधित इस्पेक्टर से मिलते है जो बताता है कि सहकारी फार्म निश्चित रूप से सीलिंग में नहीं आते परन्तु इसके लिए कम से कम चौदह सदस्य होने चाहिए ।[24] अब्बा की जमींदारी के गॉव का कोई किसान सदस्यता के लिए तैयार नहीं होता तब कोऑपरेटिव इंस्पेक्टर ही उन्हें यह तरकीब सुझाता है कि वे अपने नौकरों या गॉव के भूमिहीन हरिजनों के नाम कुछ जमीन लिखकर उनको सदस्य बना लें ।[25]

बहरहाल, किसी तरीके से यह सहकारी फार्म तैयार तो हो जाता है लेकिन इसका सारा फायदा, जो घूस के रूप में होता है, शहर में बैठे अधिकारियों को ही होता है । सहकारी फार्म के विकास के लिए अब्बा को कई तरीकों से ऋण उपलब्ध कराये जाते रहते हैं और होते-होते स्थिति यहाँ तक पहुँचती है कि अन्ततः उन्हें अपनी जमीनें बेंचकर ही इस सहकारी खेती और इन कर्जों से मुक्ति मिल पाती है ।

देश की आजादी के ही साथ इन सहकारी समितियों जैसी ग्राम-विकास की योजनाओं की अर्द्धशती भी 'हहराती' निकल गई, परन्तु न तो गाँव बदले और न इन योजनाओं या इनसे जुड़े नगरवासी अधिकारियों के चरित्र में ही कोई तब्दीली आई ।

आजादी के पूरे इक्यावन वर्षों बाद {हिन्दू मजहब मांगलिक कार्यों के निमित्त '51' को बड़ी शुभ सख्या मानता है} प्रकाशित होने वाल 'विस्रामपुर का सन्त' {श्रीलाल शुक्ल, 1998} मे विस्रामपुर गॉव की कृषि सहकारी समिति की तल्ख सच्चाई अपनी तमाम विसगतियों - विडम्बनाओ के साथ उभर कर सामने आती है । गॉव के जमींदार दुबे महराज को 'सात आसमान' {असगर वजाहत} के अब्बा की ही भॉति अपनी जमीन ग्रामदान से बचाने के लिए 'कोऑपरेटिव फार्म' बनाना पड़ता है । उन्हें समझाया जाता है - ''सहकारी फार्म या सामूहिक फार्म - जो भी बने वे अपनी पुरानी जोत पर कब्जा बनाए रख सकते है । सिर्फ कागज पर यह जमीन गाँव सभा की मिल्कियत हो जायेगी । नाक सीधे न पकड़कर हाथ सिर के ऊपर से घुमाओं और उसे दूसरी तरफ से पकड़ लो। उसमें क्या हर्ज है ? कुछ भी नहीं ।''[26]

दुबे महाराज अपनी दबगई के बल पर फार्म के अस्तित्ववान होने के लिए आवश्यक सदस्य संख्या जुटा लेते है और सहकारी फार्म चल निकलता है । दुबे की मृत्यु के बाद उनका आवरा पियक्कड़ लड़का अपने बाप के स्थान पर इस फार्म का कर्ता-धर्ता बन जाता है ।[27] और फिर - ''फार्म पर सरकारी अफसरों के अनगिनत दौरे हुए, खूब दावतें उड़ी । खेती का काम सरकारी फार्मों जैसा होने लगा, यानी पहले से भी पीछे चला गया । पर बहुतों को इस बात की खुशी हुई कि कभी बंजर-सुधार, कभी सिंचाई के साधन, कभी फार्म हाउस का निर्माण या कृषि यन्त्रों की खरीद के नाम पर फार्म के लिए बराबर सरकारी अनुदान आने लगे और उसी अनुपात से सरकारी अफसरों की इसमें दिलचस्पी बढ़ती गई । फार्म चौपट था, किसान मजदूर बन चुके थे पर परियोजना फल-फूल रही थी । गल्ला नहीं था, सिर्फ फार्म के खाते में अनुदान के रुपये थे । तब दुबे महराज ने कुछ शहरी नेताओं की मदद से 'सहकारिता आंदोलन पर नौकरशाही की जकड़' का नारा बुलद किया ।........ खेती की हालत पहले जैसी ही रही, पर अनुदानों का सिलसिला चलता रहा ।''[28]

फार्म के विकास हित मिलने वाले अनुदानों को तो सरकारी अधिकारियों के साथ मिलकर दुबे महराज - पिता-पुत्र, खाते रहे परन्तु कर्ज-वसूली के समय सहकारी समिति में शामिल सभी किसानों को भागीदार बनाया गया । परिणामस्वरूप किसानों की निजी जोतें धीरे-धीरे दुबे महराज

ने हथिया ली और किसान पेट की आग बुझाने के लिए पानी तलाशने शहर भाग जाने पर मजबूर हो गए ।

विस्रामपुर की इस समिति-निर्माण के चार-पॉच दशक बाद ग्राम-वास का निर्णय कर गॉव आये भूतपूर्व राज्यपाल महामहिम कुंवर जयन्ती प्रसाद सिह इन किसानो के शोषण से पसीजकर फार्म के भविष्य की रूपरेखा समझाते हुए कहते है - ''सहकारी फार्म अब एक उजाड़ बंजर भर है, बीहड़ मे बदल रहा है । इसके कई सदस्य इस्तीफा देकर बाहर चले गए है । वे शहर में ईंटा गारा ढो रहे है, रिक्शा चला रहे है । फार्म की जमीन पर झाड़ियॉ उग आई है, नदी की तरफ भरके निकल रहे है । फार्म की समिति के पास यह साधन नहीं है कि नीचे की तरफ बधा बनवाए, पानी का इन्तजाम करे, सारी जमीन को ट्रैक्टर से जुताया जाए और खाद देकर उसमे खेती कराई जाए । अब इसका उद्धार इसी में है कि सरकार अपनी एक नई योजना में इसे लेकर कुछ साल खुद उन्नत ढंग की खेती कराये ।''[29]

परन्तु समिति का दुर्भाग्य कि उसे नया जीवन मिल पाता इसके पहले ही कुवर साहब के जीवन का ही अंत हो गया । शहर से विचारधारा के रूप में गॉव का विकास करने आई इन सहकारी समितियों तथा विकास योजनाओं के द्वारा क्षेत्र-विशेष के कुछ गॉवों का चेहरा भले ही बदला हो किन्तु अधिकांश गाँवों के युवक तथा प्रौढ़ जन गाँव छोड़कर शहर भागने पर मजबूर हुए है ।

{ख} कृषि : वैज्ञानिक उपलब्धियाँ

आधुनिक युग में विज्ञान मनुष्य के हर क्षेत्र का साथी एवं निदेशक बनकर उभरा है । विज्ञान संबंधी लगभग सभी खोजों एवं प्रयोगों का संबंध आमतौर पर नगर या नागर जनों से होता है । परन्तु स्वाधीनोत्तर भारत में इसकी परिव्याप्ति गाँवों तक भी हुई है । आज गाँव-गाँव मे ट्रैक्टर, थ्रेसर, ट्यूबवैल, रासायनिक खाद और उन्नत किस्म के बीज पहुँच गये हैं । ट्यूबवैल का

ही एक छोटा रूप पंपिग सेट ईजाद हुआ है जिसने छोटे किसानों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए कृषि-उपज मे इजाफा किया है । उन्नत किस्म के बीज और रासायनिक खादों के प्रयोग से उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और खाद्यान्नों के मामले में हम बहुत हद तक आत्मनिर्भर हो चुके है । अब यह अलग बात है कि देश के विभिन्न कोनों से जब-तब भुखमरी या किसानो द्वारा आत्महत्या की खबरे छपती रहती है ।

नगर-जीवन के भारी उद्योग में सहायक होने के बाद विज्ञान की दृष्टि जब कृषि कर्म की ओर गई तो खेती के तमाम पुराने साधन बदल गए । हल-बैल के स्थान पर अब ट्रैक्टर आ गया । सिचाई के लिए प्रयुक्त होने वाले चरस, रहट जैसे पुराने उपायों के स्थान पर ट्यूब वैल, पम्पिंग सेट और नहर आदि के द्वारा सिचाई की जाने लगी है । विज्ञान ने श्रम और अर्थ दोनों की किफायत करते हुए कृषि-कर्म को उन्नत एव गतिशील बनाया है ।

स्वाधीनोत्तर भारत मे वैज्ञानिक उपकरणो के ग्राम-जीवन मे प्रवेश के दृश्यों को हिन्दी उपन्यासकार ने पूरी तल्लीनता से अपने कलम के कैमरे द्वारा कैद किया है ।

'मैला ऑचल' {फणीश्वरनाथ रेणु} के तहसीलदार के खेतो मे ट्रैक्टर लेकर 'डलेवर साहब पहॅुचते है - 'भट-भट-भट-भट-भट'[30] बेतार का तार सुमरित दास गॉव वालों को बताते हुए कहता है- ''पानी का पम्पू आवेगा, इंदर भगवान की खुशामद की जरूरत नहीं । कमला नदी में पम्पू लगा दिया, मिसिन इसटाट कर दिया, और हथिया सूॅड़ की तरह सब पानी सोखकर खेत पटा देगा।''[31]

'सती मैया का चौरा' {भैरव प्रसाद गुप्त} का मन्ने भी पिअरी गॉव में नहर की योजना से अति प्रशन्न है । उसकी खुशी कुछ इस प्रकार शब्दों में ढलकर सामने आती है - ''आज मैं बहुत खुश हूॅ । यह नहर नही निकलने जा रही है, गॉंव के सूखे जिस्म को खून मिलने जा रहा है।''[32]

वैज्ञानिक उपलब्धियों के रूप में नहर का आगमन, वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'अमरवेल' के गॉंव सुहाना और बॉंगुर्दन जैसे गॉवों तक भी हो जाता है ।

कृषि-यंत्र के रूप मे शहर से गॉव तक पहुँचने वाला सबसे महत्वपूर्ण यन्त्र है ट्रैक्टर, जिसकी आवाज सिर्फ 'मैला ऑचल' में ही नहीं गूँजती वरन् 'परती : परिकथा' {फणीश्वरनाथ रेणु} से लेकर 'नदी फिर बह चली' {हिमाशु श्रीवास्तव}, 'रीछ' {विश्वम्भरनाथ उपाध्याय}, 'सती मैया का चौरा' {भैरव प्रसाद गुप्त}, 'अँधेरे के विरूद्ध' {उदयराज सिह}, 'सोना माटी' {विवेकी रॉय}, 'चाक' {मैत्रेयी पुष्पा} और 'विस्रामपुर का सन्त' {श्रीलाल शुक्ल} जैसे उपन्यासो में भी इसकी आहट मौजूद मिलती है ।

{ग} कृषि : ग्राण्ट और ग्राण्टखोरी : ग्राम-नगर संबध

स्वाधीनोत्तर भारत में कृषि हेतु अनेक प्रकार के अनुदानों की व्यवस्था सरकार द्वारा की गई परन्तु इसका वास्तविक जरूरतमन्दों को कोई लाभ नही मिला और बिचौलियों ने सरकारी अधिकारियो से सॉठ-गॉठ करके लाभ की सारी धन-धारा सोख ली । इन सोखने वालो के तीन प्रकार हिन्दी उपन्यास में चित्रित हुए है । प्रथम वे जो गॉव में रहकर ही शहरवासी अधिकारियों के सम्पर्क बल पर यह कला सीख लेते हैं, द्वितीय ऐसे, जो है तो मूलतः ग्रामीण किन्तु कुछ दिन नगरवास करके ग्राण्टखोरी की विधा सीखकर पुनः ग्रामवास करते हैं और तीसरा रूप उनका है जो है तो वस्तुतः ठेठ शहरी किन्तु उनकी भूमि इत्यादि गॉव मे है और शहर मे बैठे-बैठे ही ग्राण्टखोरी का स्वास्थ्यवर्धक पेय पान करते है ।

पहले प्रकार के उदाहरण के रूप मे 'पहला पड़ाव' {श्रीलाल शुक्ल, 1987} के स्थाई नगरवासी हो चुके एडवोकेट - परमात्मा जी के ग्रामवासी श्वसुर को पेश किया जा सकता है जिनकी ग्राण्टखोरी का वर्णन करते हुए सत्ते बताता है - ''लड़की के बाप पहले मेरे बाप जैसे ही मामूली खेतिहर थे । अचानक उनके बड़े लड़के की दोस्ती कृषि विभाग से हो गई । तब जो गेहूँ हमारे घर से सरकारी खरीद मे मिट्टी मोल बिकता था वही उसके घर से उन्नतशील बीज बनकर दुगुनी-तिगुनी कीमत पर उसी सरकार में बिकने लगा । उसके मुनाफे से उन्नतशील बीज के साथ ही उसने शीशम, पाकड़, नीम आदि की कम खर्च वाली नर्सरी लगाई और उसकी पौध को दो-तीन साल विकासखंड को वनमहोत्सव के लिए थोक ढंग से बेचा । फिर उसके मुनाफे से उसने गन्ने का

अनुमोदित बीज उगाना शुरू किया । उसे चीनी मिल के क्षेत्र मे गन्ना विकास सहकारी समिति की मार्फत ताबड़तोड़ बेचा ।''[33]

ऐसा ही एक ग्राण्टखोर कालिका प्रसाद लेखक की पहली औपन्यासिक कृति 'राग दरबारी' (1968) में चित्रित हुआ जिसका पेशा ही सरकारी ग्राण्ट और कर्जे खाना था । बकौल लेखक - ''वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे के लिए जीते थे ।''[34] उनकी ग्राण्टखोरी का आलम यह है कि - ''ग्राण्ट या कर्ज देने वाली किसी नयी स्कीम के बारे मे योजना आयोग के सोचने भर की देर थी, वे उसके बारे में सब कुछ जान जाते थे । अपने देहाती सलीके के बावजूद वे उन व्यापारियों से ज्यादा चतुर थे जो नया बजट बनने से पहले ही टैक्सो के प्रस्तावों की जानकारी पा जाते है ।''[35] इन कालिका प्रसाद जी की ग्राण्टखोरी सिर्फ कृषि-क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती वरन् गॉव के लिए मिल पा सकने वाले हर अनुदान का लाभ आप उठाते है ।[36]

कृषि के लिए मिलने वाले अनुदान का विशुद्ध नाजायज फायदा उठाने में विस्रामपुर गॉव के निवासी ('विस्रामपुर का सन्त') दुबे महराज भी पूरे उस्ताद दिखाई देते हैं ।[37]

ग्राण्टखोरी के दूसरे रूप का खुलासा करते हुए 'सती मैया का चौरा' (भैरव प्रसाद गुप्त) का मन्ने कहता है - ''तुम्हें शायद मालूम नहीं कि हमारे गॉव को ही कितने कुओं, खाद के कम्पोस्टों, बीजों, खादों, नयी तरह के हलों, मुर्गे, मुर्गियों, साँड़ों की सहायता मिली, किन्तु इनसे आम किसानों का कोई भी लाभ नहीं हुआ । सब महाजन और फारम के लोग हड़प गये ।''[38] काबिले गौर है कि जहाँ ग्राण्टखोरी का गुर शहर सिखा रहा है वहीं इस लूट को समझ पाने की दृष्टि भी मन्ने को शहर से ही प्राप्त होती है ।

कृषि-क्षेत्र के अनुदान में धांधली का एक अन्य अर्थात तीसरा प्रकार असगर वजाहत के उपन्यास 'सात आसमान' (1996) में उभर कर सामने आता है, जिसमें पूर्व जमींदार पुत्र के द्वारा स्थाई रूप से नगरवास करते हुए अपनी गाँव की जमीन के मार्फत कई प्रकार के सरकारी अनुदान प्राप्त करने की व्योरेवार चर्चा होती है ।[39]

पहाड़ियो की पहचान आमतौर पर मेहनतकश और ईमानदार लोगों में की जाती है किन्तु जमाने की हवा वहाँ तक भी खूब पहुँची है । जैसा कि पंकज विष्ट के उपन्यास 'उस चिड़िया का नाम' (1989) के कुमायूँवासी हरीश, जो एक लम्बे अर्से से बबई मे नौकरी कर रहा है, को अपने पहाड़ी गॉव वापस लौटने पर अनुभव होता है कि - ''यहॉ का कोई भी व्यक्ति कुछ करना ही नहीं चाहता । हर आदमी चाहता है कि उसे किसी तरह ऋण मिल जाए और वह उसे खा-पी जाए, बस !''[63] हरीश इन योजनाओ की निस्सारता को खूब समझता है । उसका मानना है कि क्या पहाड़, क्या मैदानी इलाका ''देश के गॉव-गॉव में भ्रष्टाचार फैलाने में इन योजनाओ का हाथ है ।''[64]

अन्य ग्राम-व्यवसाय और नगर

कृषि के अतिरिक्त गॉव के अन्य व्यवसायों, मसलन पशुपालन ('बिल्लेसुर बकरिहा', निराला), पडिताई ('गोदान' मुशी प्रेमचन्द), मछली पकड़ना ('ब्रम्हपुत्र' देवेन्द्र सत्यार्थी), चूड़ी व्यवसाय ('काला जल' गुलशेर खान 'शानी'), नाई ('चाक' मैत्रेयी पुष्पा तथा 'ब्रम्हपुत्र' देवेन्द्र सत्यार्थी), धोबी ('अलग-अलग वैतरणी'), वणिक कर्म ('डूब' वीरेन्द्र जैन) तथा तेली, कहार, कुम्हार, दर्जी ('नमामि ग्रामम्', विवेकी रॉय) आदि उल्लेखनीय हैं ।

कृषि के अतिरिक्त ये सभी व्यवसाय परम्परा से जातिगत पेशे के रूप में जाने जाते रहे है। परन्तु पूर्व स्वाधीनता युग से ही विभिन्न परिस्थितियों के चलते इनकी जातिगत सम्बद्धता मे शिथिलता भी आती रही है ।

गोदान में दुग्ध व्यवसाय के लिए पशु पालन करता हुआ भोला दिखायी देता है जो जाति से अहीर है परन्तु 'बिल्लेसुर बकरिहा' का बिल्लेश्वर जब शहर से लौटकर आता है तो ब्राहमण होते हुए भी गाँव वालों के उपहास और तिरस्कार की परवाह किए बगैर बकरियाँ पालने का धन्धा शुरु कर देता है ।[40] और उसकी आर्थिक स्थिति गाँव के लिहाज से काफी बेहतर हो जाती है । शहर का प्रभाव यह होता दिखाई देता है कि अर्थ जाति के ऊपर हावी हो जाता है ।

'पडिताई' का काम गाँव के कुछ गिने-चुने ब्राहमणो द्वारा सम्पादित किया जाता है जिनका सारा आर्थिक ढॉचा 'जजमानी' पर टिका हुआ होता है । गोदान के पण्डित दातादीन इसी वर्ग के प्रतिनिधि है । परन्तु परिस्थितियो का लाभ उठाते हुए वे धीरे-धीरे खेतिहर की भूमिका निभाना शुरु कर देते है ।

हमारे देश का यह दुर्भाग्य रहा है कि यहॉ मेहनत न करने को कुलीनता और सम्पन्नता के प्रतीक के रुप मे जाना जाता रहा है । जाने किसने मलूकदास के नाम से यह दोहा चला दिया कि- 'अजगर करै न चाकरी, पंक्षी करै न काम । दास मलूका कहि गए सबके दाता राम ।' और ब्राहमण तो व्यवस्था का नियामक है, वह कोई मेहनत वाला काम कैसे करे ! गॉव में अगर किसी ब्राहमण ने हल की मूठ पकड़ ली तो 'तौबा-तौबा', 'अनरथ', 'अधरम' जैसी बाते गूँजने लगती थी लेकिन परिस्थितियो का दबाव कहिए या नगर का प्रभाव आज स्थिति यह नहीं रही । 'अलग-अलग वैतरणी' { शिवप्रसाद सिंह } के जग्गन मिसिर 'पटनी से हल, जुआठ, नाधा-पैना उतारते नजर आते है ।[41]

सौभाग्य चिन्ह के रुप मे चूड़ी, हिन्दू महिला के लिए अनिवार्य तत्व के रुप में परम्परा से प्रतिष्ठित रही है । गॉव मे चूड़ी पहनाने का का काम एक खास हिन्दू जाति 'मनिहार' तथा कहीं-कहीं मुस्लिम वर्ग द्वारा किया जाता रहा है । शानी के उपन्यास 'काला जल' में गाँव जगदलपुर मे गाँव वालियो को चूड़ी पहनाने का कर्म बी-दारोगिन उर्फ बिट्टी द्वारा किया जाता है। बी के व्यवसाय के लिए चूड़ियों का व्यवसाय भी ग्राम-नगर सबंध का एक माध्यम बनता रहा है ।

कपड़ा धोने का जतिगत पेशा गाँव मे धोबी जाति के लोग करते रहे हैं । आधुनिक सभ्यता और नगर-प्रभाव ने इस पेशे के पैर गाँव से किस तरह उखाड़े हैं इसका प्रभावपूर्ण अंकन शिवप्रसाद सिंह कृत 'अलग-अलग वैतरणी' में हुआ है । बीसू बरेठा का पुत्र सुरजितवा गाँव से जाकर कस्बे में लांड्री खेल लेता है क्योंकि गाँव में धुलाई के पैसे नकद नहीं मिला करते । वह अपने बाप से भी गाँव का काम बन्द करने को कहता है परन्तु परम्परावादी बीसू गाँव के मोह का बन्धन तोड़ नहीं पाता । वह विपिन से कहता है - ''सरकार, हमसे कहने लगा कि तुम्हीं मुफुत नरक साफ करो, हमसे नहीं हुई है ई सब । इसी गाँव में बीसों पुश्त गल गया अपना । अब ई

नरक हुइगा । अरे मादरचो......... नमक हराम । जो जन्मभूमि को तोहमत लगायेगा वोका मुँह मे अच्छत नसीब नाहीं होगा, हाँ । भला बताइए सरकार गॉव मे हर कपड़ा पीछे इकन्नी पइसा कौन देगा हमको ? कहने लगा इकन्नी पइसा लो तो हम लुग्गा धोवेंगे । हरमेसा से यहॉ अगहनी और चैती मे धोबी को एक बोझ फसल का डॉठ उबरूवा मे देते हैं लोग । परब त्योहार पर खायक भी। इसी मे साल भर कपड़ा धुलता है । अब हम कैसे पुरखा-पुरनियो की चलन बन्द कर देवें तेरे खातिर । नहीं धोवेगा, मत धो, जा चून्हे भाड़ मे । जब तक जीवेगे अपना नेम निबाह देगे ।''[42]
यहाँ दो पीढ़ियों के विचारगत आर्थिक वैषम्य के साथ गॉव और नगर का आर्थिक सबथ बड़ी खूबसूरती से उभार पा सका है ।

गॉव के आदमी की गार्हस्थिक जरूरते वैसे तो अत्यल्प होती है परन्तु तेल, नमक, खैनी, बीड़ी जैसी छोटी-मोटी चीजो की जरूरत तो होती ही है, जिन पर कभी ध्यान नही जाता, ये आवश्यकताए भी किसी न किसी रुप मे गॉव को शहर से जोड़ती रही है । वीरेन्द्र जैन के 'डूब' के गॉव लड़ैई के मोती साव शहर से जरूरत का आम सामान पैसे 'नून, तेल, छींट के कपड़े' आदि लेकर आस-पास के गाँवो में किसानों के घर पहुँचते हैं और बदले में घी, चिरौंजी, रेहन के परनोट लेकर वापस आते है[43] और विनिमय मे प्राप्त वस्तुएँ लेकर पुनः शहर की यात्रा करते है ।

जन्म, शादी-व्याह, तीज-त्योहार से लेकर मरण तक की अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह गॉव मे 'नाई' जाति द्वारा किया जाता रहा है । ग्राम-जीवन में इस पेशे की महत्ता का ही प्रभाव है कि गॉव के लोग नाई को 'ठाकुर' कह कर सम्बोधित करते हैं । महत्वपूर्ण अवसरों के अतिरिक्त लोगों की हजामत बनाना तथा बाल काटना इसकी दैनिक कार्यसूची का अंग होता है । इसके बदले में इसे दैनिक मजदूरी देने का विधान नही होता वरन् खलिहान के समय 'पबना' के रुप में अनाज दिया जाता है । नापित-कर्म को शहर दो तरह से प्रभावित करता है । प्रथम तो शहरी शिक्षा पाकर तथाकथित आधुनिक युवा वर्ग नए फैशन के बाल पसन्द करने लगा है और उसे गाँव के नाई की बाल कटिंग का पुराना ढग पसन्द नहीं है परिणामस्वरूप गाँवों में भी धीरे-धीरे नकदी पर काम करने वाले 'हेयर कटिंग सैलून' खुलने लगे हैं । 'ब्रम्हपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) के गाँव दिसागमुख में रतन का सैलून इसका प्रमाण है ।

द्वितीय यह कि गॉव से शहर गए किसी नापित सन्तान को यह कर्म बडा ओछा प्रतीत होने लगता है और जब वह शहर से लौटकर गॉव आता है तो अपने बाप का उस्तरा-पेटी पोखर मे फेंकवा देता है ।[43] 'चाक' के अतरपुर गॉव का नाई पुत्र बबई प्रवास करके बहुत कुछ सीखता है । बबई से गॉव वापस आने पर वह बाप, भाई, मॉ सबको सख्ती से ताकीद कर देता है कि कोई अब इस परम्परागत पेशे में हाथ नही डालेगा । वह अपनी मॉ से सवाल करता है – ''तू किसी के घर बुलावा देने जाती है ? नहीं । तू जिजमानो की टहल चाकरी के लिए भूले से भी गई ? नहीं । छीता ने पेटी उस्तरा तो नहीं उठाये ? दादा तो किसी की दाढ़ी छीलने नहीं जा पहुँचे ? नही ।''[44]

'अलग-अलग वैतरणी' का बीसू बरेठा तो अपने शहर-प्रभावित पुत्र सुरजितवा से पराजित नहीं हुआ था परन्तु 'चाक' का ननुवॉ नाई अपने बबई रिटर्न कमाऊ पूत हरप्रसाद के आगे हथियार डाल देता है ।

'पावनी' पर काम करने वाली लोहार, कुम्हार, कहार और दर्जी जैसी अन्य जातियो की स्थिति अब पहले जैसी नहीं रही । गॉव के दर्जी के हाथ के सिले कपड़े पहनना अब ग्रामीणों को भी भदेस लगने लगा है क्योकि शहर के आधुनिक तड़क-भड़क वाले भड़कीले कपड़ों की चमक उनकी ऑखों मे भी प्रवेश कर चुकी है । ऐसे मे इस जातिगत पेशे से जुड़े लोगों का रास्ता भी अन्ततः शहर में जाकर ही खत्म होता है । विवेकी रॉय के उपन्यास 'नमामि ग्रामम्' {1997} का काल्पनिक पात्र 'गॉंव' बताता है - ''इन्हे सालाना मजदूरी मिलती है । अब इनका व्यवसाय शनैः-शनैः स्वतत्र होने लगा है ।............ सामाजिक जीवन की ये महत्वपूर्ण इकाइयॉ आर्थिक धक्के से बिखरने लगी है और प्रेम-श्रद्धा नहीं, सेवा नही, श्रम का मोल शुद्ध स्वार्थ और पारिश्रमिक की तुला पर तुलने लगा है ।''[45] उपन्यासकार और उपन्यास के फतासी चरित्र 'गॉंव' से यह कहा जा सकता है कि 'प्रेम', 'श्रद्धा' और 'सेवा' से 'बड़वागि से भी बड़ी पेट की आग'[46] नही बुझायी जा सकती ।

गॉंव : गरीबी

गॉंव की गरीबी ग्रामीणों से उनकी मॉं का ऑंचल बरबस छुड़ाकर किस तरह उन्हें शहरों की सड़कों पर भटकने के लिए मजबूर कर देती है, इसका चित्रण अनेक उपन्यासों में हुआ है । गॉंव

और गरीबी समराशि धर्मा होने के ही कारण शायद अन्योन्याश्रित रूप से परस्पर सम्बद्ध होते है । गॉव का बेटा गरीबी मे जन्म लेता है, गरीबी मे पलता है, गरीबी मे ही मर जाता है और अपनी सन्तान के लिए उत्तराधिकार मे गरीबी ही छोड़ जाता है ।

गॉव स्वतत्रता से पहले भी गरीब थे और स्वतत्रता मिले पूरे 55 वर्ष बीत जाने के बाद, आज भी गरीब है । युग बदला, सरकारे बदली लेकिन ग्रामीणों की हालत में उल्लेखनीय सुधार हुआ हो, किसी कोण से यह नहीं दिखता । देश और विशेषकर गॉव की गरीबी उन्मूलन के जाने कितने सरकारी आयोजन होते रहे, परन्तु - 'दर्द बढ़ता गया ज्यो-ज्यों दवा की' । कारण बताते हुए एहतराम इस्लाम लिखते है -

''लोग बेहूदा है जो कहते है पिछड़ा देश को,
फाइलों से जॉचिए क्षण-क्षण सफलताओ में था ।

और -

देश की सम्पन्नता कितनी बड़ी है देखिए,
सोचिए क्यो देश की जनता भिखारी है तो है ।''[47]

सारा विकास कागजों पर हुआ है । योजनाएँ बनाने वाले और उसके क्रियान्वयन से जुड़े लोगों के घर अलबत्ता दिन दूनी-रात चौगुनी गति से भरते गए है । ऐसा नहीं कि गरीबी शहरों मे नहीं है, बेशक है; किन्तु दरिद्रता के दैन्य का जितना कारुणिक रूप गाँव में होता है उतना शहर का नहीं । डॉ. विवेकी रॉय के शब्दों में कहें तो - ''गॉव और गरीबी में प्रमेय-प्रमाण संबंध है।''[48]

स्वतंत्रता के पूर्व कोई होरी जाड़े-पाले की रात को पिता द्वारा खरीदे गए तार-तार हो चुके कम्बल को ओढ़ 'बेवाय फटे पैरों को पेट में डाल और हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर' खुले आसमान के नीचे सोने को अभिशप्त है[49] भूखे पेट खेत में ऊख काटने को मजबूर[50] है तो स्वतत्रता के बाद भी ऐसे होरियों की कमी नहीं हुई है । हिन्दी के अनेक उपन्यासों यथा - 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'गोदान' (मुंशी प्रेमचन्द), 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे' (नागार्जुन), 'मैला ऑचल' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'पानी के प्राचीर' (राम दरश मिश्र) आदि में पूर्व-स्वतंत्रता युग की ग्राम-गरीबी तथा 'परती : परिकथा' (रेणु), 'काला जल' (शानी), 'सात आसमान' (असगर

वजाहत}, 'जल टूटता हुआ' {राम दरश मिश्र}, 'राग दरबारी', विस्रामपुर का सन्त' {श्रीलाल शुक्ल}, 'अग्निबीज' {मार्कण्डेय}, 'सोना माटी', 'नमामि ग्रामम्' {विवेकी रॉय}, 'अलग-अलग वैतरणी' {शिवप्रसाद सिह}, 'आधा गॉव' {राही मासूम रजा}, 'चाक' {मैत्रेयी पुष्पा} आदि मे स्वातत्र्योत्तर युग के गरीब ग्रामीणो का मार्मिक अकन हुआ है ।

'मैला ऑचल' का डॉ. प्रशात मेरीगज के रोग की जड़ पकड़ लेता है - "गरीबी और जहालत - इस रोग के दो कीटाणु है । एनोफिलीज से भी ज्यादा खतरनाक, सैडफ्लाई से भी ज्यादा जहरीले........।"[51] मेरीगज के इन निवासियों के लिए "डी.डी.टी. और मसहरी की बात तो बहुत बड़ी हुई, देह में कड़वा तेल लगाना भी स्वर्गीय भोग-विलास में गण्य है ।......"[52]

डाक्टर प्रशान्त के लिए यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि "........कफ से जकड़े हुए दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल भी नहीं ! भीगी हुई धरती पर लेटा न्युमोनिया का रोगी मरता नहीं है, जी जाता है !........... कैसे ?"[53] शायद इसी तरह के जीने को देखकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को लगता है कि "मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है,.... .... देश और जाति की विशुद्ध सस्कृति केवल बाद की बात है । सब कुद में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है । शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा {जीने की इच्छा} ।"[54]

मेरीगंज गॉव के लोगों के बारे मे लिखता हुआ डॉ. प्रशान्त अपनी नगरवासिनी मित्र डॉ. ममता को बताता है - "तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते । तुम इनकी भाषा नहीं समझ सक्ती । तुम जो खाती हो, ये नही खा सकते । तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते । तुम जैसे सोती हो, बैठती हो, हॅसती हो, बोलती हो, ये वैसा कुछ नही कर सकते । फिर तुम इन्हें आदमी कैसे कहती हो ।"[55]

करैता {'अलग-अलग वैतरणी', शिवप्रसाद सिंह} स्वतंत्र भारत का गाँव है जिसके अधिकॉश निवासी "फसल-भेंट पाल्टी"[56] वाले लोग हैं । परन्तु एक फसल के अनाज की भेंट दूसरी फसल के अनाज से नहीं होती । उपन्यासकार लिखता है - "अभी चैती की फसल कटे मुश्किल से एक ही महीना बीता है, पर शायद ही दो चार जन ऐसे हों जिनके चेहरे पर घर में अनाज होने की

खुशी दिखाई पड़ती हो । बहुत सा अनाज तो खलिहान से ही पिछले कर्ज की पटाई मे और महाजन की उधारी चुकाने मे खतम हो गया था । ऐसी सूरत मे अधिकतर घरो मे जौ चने के सत्तू ने दोपहर के भोजन का स्थान ले लिया था ।''[57]

ऐसा नहीं कि गॉव के लोग अकर्मण्य-आलसी हो, वे जी तोड़ मेहनत करते है । लेकिन इस 'हाड़-तोड़ मेहनत के बावजूद भी मुँह मे दाना मुअस्सर नही होता ।'[58] करैतावासियो की गरीबी को पूरी मार्मिकता के साथ व्यजित करता हुआ उपन्यास का एक पात्र गोगई महराज कहता है ''का करै लोग । दिन-रात मर-मर कर कोड़ते-गोड़ते हैं । तब भी पेट नही भरता । का करै । देखते नाहीं कि तमाम लोग खेखर की तरह हो गए है । किसी के चेहरे पर तुमको जरा भी रवन्नक दिखाई पड़ती है ? जानों सबको पिशाच लगा है ।''[59] गॉव का किसान यदि शायर होता तो सभवतः अपनी पीड़ा कुछ यों बयान करता -

> ''फ़िक्र माबूस है, गुफ़्तार पे ताज़ीरे है
> अपनी हिम्मत है कि हम फिर भी जिए जाते है
> ज़िदगी क्या किसी मुफ़लिस की कबा है जिसमें
> हर घड़ी दर्द के पैबन्द लगे जाते हैं ?''[60]

बेरोजगारी और जनसंख्या वृद्धि

गोस्वामी तुलसीदास समकालीन समाज का चित्र उरेहते हुए एक स्थान पर लिखते है -

> 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
> बानिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
> जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
> पूँछे एक-एकन ते कहाँ जाई का करी ।।'

कहाँ जायें ! क्या करें ! और अंत में तो हार कर उन्हें नगरों का ही मुँह ताकना पड़ता है। कम से कम पाँच शताब्दियाँ गुजर गईं इन पंक्तियों के लिखे जाने के बाद, किन्तु

'जीविका-विहीनता' का आलम ज्यो का त्यो है । बेरोजगारी वर्तमान भारत के शहरी क्षेत्र का भी डरावना सच है और ग्रामीण-इलाके का भी किन्तु शहर की तुलना मे गॉव की बेरोजगारी कहीं अधिक मारक है क्योंकि शहर का निवासी यदि काम करना चाहे तो उसके सामने कोई न कोई विकल्प मौजूद होता है । कम से कम वह इतना तो कमा ही सकता है कि दो जून की रोटी जुटा सके । गॉव ऐसे विकल्पो से कतई रहित है । उसके उद्योग-धधो की रीढ तो अंग्रेज ही तोड़ चुके थे । स्वतत्रता के बाद नेहरु की उद्योग नीति ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी और सदियो से आत्मनिर्भरता का जीवन जीने वाले गॉव बेसहारा हो गए । "आज गॉव की बहुत बडी जनसख्या, गॉव मे अपने आप को असुरक्षित, असहाय और निराधार महसूस करती है । वह गॉव को छोड़कर भाग जाना चाहती है किन्तु विकल्प नहीं है ।.......... यह परिश्रम करने की पूरी इच्छा रखते हुए भी भीख मॉगने या दूसरो की दया पर जीवित रहने के लिए विवश हो गई है ।"[61]

गॉव की गरीबी और बेरोजगारी का सबसे बड़ा कारण है उसकी जनसख्या वृद्धि और जनसख्या वृद्धि के लिए जिम्मेदार है अशिक्षा और भाग्यवादिता । सरकार ने स्वतत्रता के बाद जनसख्या वृद्धि रोकने के अनेक कार्यक्रम चलाये किन्तु वे प्रचारात्मक होकर रह गये । गॉंव के आदमी के लिए 'हम दो हमारे दो' या 'कम सन्तान सुखी इसान' जैसे नारे जुमलेबाजी से अधिक कोई मायने नहीं रखते । बच्चों को आज भी गॉवों में ईश्वर की खेती के रूप में जाना जाता है, फिर इसान की क्या मजाल कि उसके काम में दखल दे ! इस इक्कीसवीं शदी मे भी गॉव वालों को अटल विश्वास है कि जिस ईश्वर ने पैदा किया है वह पेट भरने का भी कोई न कोई ठिकाना जरूर लगा देगा । अर्थात जिसने मुँह दिया है वह रोटी भी देगा - 'सबका मालिक राम' ।

'राग दरवारी' (श्रीलाल शुक्ल) में परिवार-नियोजन विभाग का युवक कर्मचारी जब शहर से शिवपालगज आकर लोगो से बच्चे कम पैदा करने की बात करता है तो सनीचर, बहैसियत प्रधान उसको एक नायाब तरीका सुझाता है - "कुछ साल पहले हमारे शिवपालगंज में बन्दर ही बन्दर हो गये थे । सारी फसल चौपट हुई जा रही थी ।............ तब हम लोगों ने पछॉंह से कुछ आदमी बुलाये । वे बन्दरों को पकड़ने में उस्ताद थे । कुछ दिन में ही सब बन्दर पकड़ लिए गये और यहॉं से हटा दिए गए । तुम भी वही करो । जितने लौंडे मिलें पकड़-पकड़ कर सबको बन्द करा दो । गोली-वोली मारने की जरूरत नहीं । सुनते हैं, बन्दरों को विलायत भेज दिया गया था । लड़कों

को भी जहाज में भरकर वहीं भेज दो । वहीं जाकर रहें, खानदान चलाये ।''[62] इस प्रकार अशिक्षित ग्रामीणो के लिए परिवार नियोजन का सुझाव भी एक मजाक बनकर रह जाता है ।

वैज्ञानिक ईजाद और बेरोजगारी : कोढ़ में खाज

जैसा कि दिखाया जा चुका है कि ग्रामवासियो का अधिकतर भाग कृषि पर अवलम्बित है। कृषि पर यह अवलम्बन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपो मे होता है । कोई कृषक के रूप मे है, कोई खेतिहर मजदूर के रूप मे, तो कोई कृषि व्यवसाय से संबधित अन्य पेशे यथा लुहार, बढ़ई आदि के रूप में । गॉव के अन्य जातिगत पेशे मसलन चर्मकार, नाई, तेली, धोबी, कुम्हार, कहार आदि का सबध भी प्रकारान्तर से कृषि से ही होता है ।

कृषि कर्म रत लोगों मे बेरोजगारी दो प्रकार की होती है - दृश्य और अदृश्य । गॉंव मे अदृश्य बेरोजगारी का औसत बहुत अधिक होता है । कृषि कार्य में परिवार के सभी लोग लगे हुए होते हैं जबकि इनमे से अधिकांश को यदि हटा भी दिया जाय तो भी उत्पादन में कोई असर नहीं पड़ेगा ।

सरकारी और गैरसरकारी दोनों स्तरो पर कृषि में वैज्ञानिकता का प्रवेश हो रहा है । इस वैज्ञानिकता के नए उन्मेष ने ग्राम-जीवन मे बेरोजगारी की समस्या को और भयावह बना दिया है। वैसे तो विज्ञान प्रगति का प्रतीक है किन्तु भारतीय कृषि सन्दर्भो में इसका विश्लेषक ठीक उसी रूप में नहीं हो सकता जैसा कि विश्व के विकसित देशों में, क्योंकि यह जनशक्ति की बचत करता है जबकि हमारे यहॉं जनशक्ति बहुतायत में विद्यमान है । जैसा कि गॉंधी जी के हवाले से चैस्टर बोल्स लिखते हैं – ''जो वस्तु एक दशा में स्थित किसी एक राष्ट्र के लिए भली है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरी दशा में स्थित किसी अन्य राष्ट्र के लिए भी भली हो । भारत को अपनी एक अलग ही अर्थव्यवस्था और अपनी अलग ही नीति का विकास करना होगा ।''[65] किन्तु गॉंधी जी के विचारो पर अमल नहीं हुआ ।

कृषि मे वैज्ञानिक उपकरणो के प्रयोग के सबध में एक और महत्वपूर्ण तथ्य रेखाकित किए जाने योग्य है कि इन उपकरणो के खरीद की हैसियत गाँव के सम्पन्न तबके की ही रही है जिसने कृषक मजदूरो की समस्याएँ और बढा दीं ।

हिन्दी के अनेक उपन्यासो में कृषि उपकरणो की शहर से गॉव तक पहुँच और उससे उत्पन्न विभिन्न कर्मकारों की समस्याओं का चित्राकन हुआ है ।

'मैला आँचल' {फणीश्वरनाथ रेणु} के तहसीलदार साहब जब ट्रैक्टर खरीदने की तैयारी करते है तब उनका खास चमचा सुमरित दास लोगो को बताता है - ''उसी मे सब कुछ होगा - हल, चौगी, विधा, कोड़कमान, कादी, गोरा और थनकटनी भी ! आदमी की क्या जरूरत ?''[66] मतलब जुताई, बुआई, निराई, कटाई, गहाई जैसे कामो की मजदूरी खत्म ।

ट्रैक्टर के द्वारा उत्पन्न बेरोजगारी की व्यथा बताते हुए चुरामनपुर गॉव {'नदी फिर बह चली' - हिमांशु श्रीवास्तव} का खेतिहर मजदूर हरी अपनी पत्नी से कहता है - ''अपने ही मालिक को देख लो न कौन सी मशीन उन्होंने मँगवायी है । बिना बैल के चलती और खेत जोतती है । खाली उसमे तेल डालते हैं लोग, और भड़-भड़ की आवाज होती है । खेती का काम इतना आसान हो गया, अब बन मजूरी से भी पेट न भरेगा ।''[67]

गॉव मे पहुँचे ट्रैक्टर ने इन बनिहारों, मजूरों को ही नहीं बढ़ई और लोहार जैसे लोगों की जीविका भी ठप्प कर दी है । जब हल-फाल ही नहीं रहेगा तो फिर बढ़ई-लोहार की क्या जरूरत । करैता गॉव {'अलग-अलग वैतरणी', शिवप्रसाद सिंह} के बढ़ई बिंधेसरी से जब हल बनवाते समय मिसिर महराज कहते हैं कि 'तुम्हारे हाथ में तो जादू है । तो उसकी पीड़ा फूट पडती है - ''ई जादू लेकर हम क्या चाटेंगे महाराज जी ।............ पाँच दिन से फाका हो रहा है, घर में ।''[68]

शहर से आए यान्त्रिक उपकरणों के अतिरिक्त लुहार, बढ़ई जैसे पेशे से संबंधित लोगों को शहर सीधे-सीधे भी प्रभावित करता है । फर्नीचर और लोहे का सामान लोग सीधे बाजार से ही लाने लगे हैं क्योंकि यातायात के साधनों के विकास ने शहर से गाँव की दूरियाँ पाट दी हैं । शहर

से आया सामान सस्ता और सुन्दर होता है क्योकि वहाँ निर्माण बहुतायत मे और मशीनो द्वारा होता है । शहर के इस प्रभाव से ताराशकर बन्धोपाध्याय के प्रसिद्ध बंगला उपन्यास 'गण देवता' {1942} से एक उद्धरण देने का लोभसवरण नही हो पा रहा है, उपन्यास के गाँव शिव कालीपुर के लोहार अनिरूद्ध और बढ़ई गिरीश गॉव वालों से साफ शब्दों मे कह देते है – ''अब हमसे काम नहीं होगा''[69] इसमे उनकी विवशता प्रकट हो रही है ।

ट्रैक्टर के अतिरिक्त गॉव पहुँचने वाले अन्य उपकरणो में 'स्पेलर' ने तेली, 'सेफ्टीरेजर' और 'डाक' ने नाई, बिजली के बल्बो और स्टील के बर्तनों ने कुम्हार तथा पानी के यन्त्रों ने कहार के व्यवसाय को चौपट कर दिया है ।

देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रम्हपुत्र' के गॉव दिसागमुख में पहुँचा उपकरण और तद्जनित ग्रामीण व्यवसाय, जिसका सबध केवट जाति और उसकी नाव से है, का खतरा एक अलग किस्म का है । नाव से लागों को ब्रम्हपुत्र नदी पार कराके आजीविका कमाने वाला बादल, हडसन साहब द्वारा चेतन को इजनवाली नाव का ठेका दिला दिए जाने से भयभीत है क्योंकि ''चेतन की नाव मे दोगुनी सवारियॉ बैठ सकती है, इसलिए भाड़ा भी आधा लगता है । पार लगने मे समय भी थोड़ा चाहिए ।''[70] वह अपनी व्यथा की गॉठ गॉव-बूढ़ा नीलमणि के सामने खोलते हुए कहता है - ''जिस दिन आर-पार चार फेरे लगा लूँ, दाल-भात मिल जाता है । और जिस दिन से हडसन साहब ने इजनवाली नाव को ठेका लेकर चेतन को खड़ा कर दिया है मेरे सम्मुख उस दिन से तो पेट पालना कठिन हो गया है ।''[71]

'अँधेरे के विरूद्ध' {उदयराज सिह} के डोमन की रोजी पर लात शहर से आये 'आटो-रिक्शा' ने मारी है । वह यांत्रिकता से उत्पन्न अपनी मर्म व्यथा बखानते हुए कहता है - ''मगर क्या करूँ, अब बाबूगज के बाबुओं की तीन पहिया फटफटिया चलने लगी हैं । कहॉ पैर की सवारी, कहॉ 'पैटरोल' की सवारी-जिगना-बलचनमा बेचारे भोर से लेकर रात तक पैर नचाते रहते है; मगर फिर भी तिनपहिया के सामने पार नहीं पाते ।''[72] उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले से ही बेरोजगारी की मार झेल रहे ग्रामीण जन को शहर से आई यान्त्रिकता ने और

अधिक बेरोजगार कर दिया और फिर ऐसे मे उनके पास एक ही रास्ता बचता है, जो जाकर शहर मे ही खत्म होता है ।

रोजगार की तलाश और नगर-गमन

बेकारी और अभावग्रस्तता के चलते आधुनिक काल मे अनेक ऐसे आर्थिक कोण उभरे जिनके प्रभाव से गॉव टूट रहे है और ग्रामीण उसे छोड़कर नगर की ओर भाग रहे है । हिन्दी उपन्यासो मे ग्रामीणों का यह नगर-गमन तीन रूपो मे चित्रित हुआ है -

मजदूरी की तलाश : अशिक्षित जन

मजदूरी की तलाश मे शहर-गमन की चर्चा हिन्दी उपन्यास मे सभवतः सर्वप्रथम मुशी जी के 'प्रेमाश्रम' का बलराज करता है । बलराज अँग्रेजी राज के जमाने की बात करता है जब किसान के सामने जमींदार की गुलामी छोड़कर और कोई रास्ता नहीं है । यह स्वदेशी आन्दोलन से पहले का जमाना है जब शहरो मे थोड़ा सा औद्योगिक विकास भी नहीं हुआ था । सन् 1920-22 का बलराज शहर जाकर मजदूरी की बात भर करता है । 1936 तक आते-आते 'गोदान' का गोबर शहर जाकर मजदूरी करने भी लगता है । इस जमाने का ग्रामीण युवा शहर की ओर कैसी आशा भरी निगाह से देख रहा है इसका प्रमाण गोबर के लखनऊ से बेलारी लौटने पर मिलता है जब गाँव के युवक उसे अपना 'हीरो' बना लेते है और ''उसके साथ लखनऊ जाने को तैयार हो गए ।''[73] इस सदर्भ मे सुविख्यात समाजशास्त्री एम.एन.श्रीनिवास की टिप्पणी ध्यातव्य है कि ''भूमिहीन और गरीब लोग ही नकद मजदूरी की तलाश में शहरों की ओर जाने को बाध्य होते हैं जबकि भूस्वामी और धनी लोग अपेक्षतया देर तक अपने देहाती परिवेश में सन्तोषपूर्वक रहते आते हैं ।''[74]

स्वतत्रता के बाद नगरों की समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है । नए-नए उद्योग स्थापित हुए हैं और इनके लिए आवश्यक कुली, मजदूर, चपरासी, चौकीदार के रूप में गाँवों की शक्ति आयातित हो रही है । कहीं बँधी-बँधाई नौकरी न भी मिली तो फिर रिक्शा तो कहीं गया ही नहीं । न

किसी की धौस न घुड़क और पहनने के लिए पैन्ट-शर्ट की खातिर गुदड़ी बाजार जिन्दाबाद ! गॉव मे तो लुग्गा लगाए ही भटकना पड़ता है !

स्वाधीनोत्तर युग-विरचित हिन्दी उपन्यासो मे गॉवों की नगरोन्मुखता खूब उभर कर सामने आई है । 'मैला ऑचल' के मेरीगज मे कटिहार की पॉचों बड़ी-बड़ी मिलो में बजने वाले भोपुओ की आवाज साफ सुनाई देती है - ''भौ औ ओ........... धू ऊ ऊ !''[75] सुमरित दास गॉव वालों को एक जूट मिल और खुलने का समाचार देता है - ''कटिहार मे एक जूट मिल और खुला है ।......... . चलो, चलो, दो रुपया रोज मजदूरी मिलती है । गॉव में अब क्या रखा है !''[76] कथाकार रेणु गॉव की भुखमरी और तद्जनित नगर-पलायन का विवरण देते हुए लिखते है - ''गॉव के घर-घर में 'हे भगवान' की पुकार मची हुई है । सुबह से शाम तक रात भर धान दबनी कर जो मजदूरी मिलती है, खलिहान पर ही बाकी मोजर हो जाता है । नाव-धोबी और मोची का खन भी नहीं जुड़ेगा इस बार ।.............. मिल का भोपा बजता है रोज, सुनते नहीं ? बुला रहा है - 'आओ - ओ-ओ-हो-हो-हो !' ''[77]

मिल के भोपू की ठीक ऐसी ही पुकार ताराशकर बन्द्योपाध्याय के 'गण देवता' के गॉव शिवकालीपुर मे भी सुनाई पड़ती है और 'दुःखमोचन' (नागार्जुन, 1957) के ''अधिकाशतः खेत-मजदूर रोजी-रोटी की तलाश मे अपना-अपना इलाका छोड़कर पूरब-पश्चिम जाने वाली रेलगाड़ियों पर सवार हो ''[78] लेते है ।

करैता गॉव ('अलग-अलग वैतरणी', शिव प्रसाद सिह) के बढ़ई बिधसरी की बीबी उससे कहती है - ''.........जाओ मिर्जापुर ! सुना जगल कट रहा है उहॉं । वहीं काम करो । गॉंव मे रहोगे तो लड़के उपास करके मर जायेंगे ।''[79] ग्राम शक्ति के इस शहर पलायन को देखकर जग्गन मिसिर का क्षोभ इन शब्दों में प्रकट होता है - ''हमारे गॉंवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है। निर्यात । सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है, काम का है, वह वहॉं से चला जाता है । अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है । अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय, बैल, भेड़-बकरे जाते हैं । हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है खींच लिए जाते हैं पल्टन मे, पुलिस में, मलेटरी में, मिल मे ।''[80] जग्गन मिसिर के इस कथन की पुष्टि सांख्यिकी से भी होती

किसी की धौस न घुड़क और पहनने के लिए पैन्ट-शर्ट की खातिर गुदड़ी बाजार जिन्दाबाद ! गॉव में तो लुग्गा लगाए ही भटकना पड़ता है !

स्वाधीनोत्तर युग-विरचित हिन्दी उपन्यासो में गॉवो की नगरोन्मुखता खूब उभर कर सामने आई है । 'मैला ऑचल' के मेरीगज मे कटिहार की पॉचों बड़ी-बड़ी मिलों में बजने वाले भोपुओ की आवाज साफ सुनाई देती है - ''भौ औ ओ......... धू ऊ ऊ !''[75] सुमरित दास गॉव वालों को एक जूट मिल और खुलने का समाचार देता है - ''कटिहार मे एक जूट मिल और खुला है ।....... चलो, चलो, दो रुपया रोज मजदूरी मिलती है । गॉव में अब क्या रखा है !''[76] कथाकार रेणु गॉव की भुखमरी और तद्जनित नगर-पलायन का विवरण देते हुए लिखते है - ''गॉव के घर-घर में 'हे भगवान' की पुकार मची हुई है । सुबह से शाम तक रात भर धान दबनी कर जो मजदूरी मिलती है, खलिहान पर ही बाकी मोजर हो जाता है । नाव-धोबी और मोची का खन भी नहीं जुड़ेगा इस बार ।.............. मिल का भोपा बजता है रोज, सुनते नहीं ? बुला रहा है - 'आओ - ओ-ओ-हो-हो-हो !' ''[77]

मिल के भोपू की ठीक ऐसी ही पुकार ताराशकर बन्धोपाध्याय के 'गण देवता' के गॉव शिवकालीपुर मे भी सुनाई पड़ती है और 'दुःखमोचन' {नागार्जुन, 1957} के ''अधिकाशतः खेत-मजदूर रोजी-रोटी की तलाश मे अपना-अपना इलाका छोड़कर पूरब-पश्चिम जाने वाली रेलगाड़ियो पर सवार हो ''[78] लेते है ।

करैता गॉव {'अलग-अलग वैतरणी', शिव प्रसाद सिह} के बढ़ई बिधसरी की बीबी उससे कहती है - ''........जाओ मिर्जापुर ! सुना जगल कट रहा है उहॉं । वहीं काम करो । गॉव मे रहोगे तो लड़के उपास करके मर जायेंगे ।''[79] ग्राम शक्ति के इस शहर पलायन को देखकर जग्गन मिसिर का क्षोभ इन शब्दों में प्रकट होता है - ''हमारे गॉंवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है। निर्यात । सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है, काम का है, वह वहॉं से चला जाता है । अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है । अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय, बैल, भेड़-बकरे जाते हैं । हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है खींच लिए जाते हैं पल्टन मे, पुलिस में, मलेटरी में, मिल में ।''[80] जग्गन मिसिर के इस कथन की पुष्टि सांख्यिकी से भी होती

है - ''सुरक्षा हेतु सेना मे भर्ती होने अधिकाश लोग गॉव से ही आते है । ये नगरवासियो के लिए अपनी नौकरी के कारण उत्तरदायी होते है । इन कार्यों मे अधिकाशत· गॉव की प्रथम श्रेणी की नवयुवक शक्ति शहर के उपयोग मे लाई जाती है । गॉव का अनमोल रत्न अपनी आरम्भिक क्षमता के कारण इसमे भी अग्रणी होता है ।''[81]

'मैला ऑचल' और गण देवता वाली 'मिलो' की बात गुजरे जमाने की बाते है आज वहॉ भी मजदूरी काफी मुश्किल चीज हो गई है । 'सोना माटी' {विवेकी रॉय, 1983} के सिटलहा, जो हनुमान प्रसाद का हलवाहा था, को शहर बक्सर मे रिक्शा चालन का काम रास आता है,[82] तो 'विस्रामपुर का सन्त' {श्रीलाल शुक्ल, 1998} के रामलोटन के भाग्य मे बनारस मे रिक्शा-चालन बदा है । रामलोटन से रिक्शा चलाने की बात सुनकर कुँवर जयती प्रसाद सिह सोचते है - ''यह मजबूत काठी वाला प्रौढ़ किसान, जिसकी अधपकी मॅछें ऊपर की ओर तनी हुई हैं, जो कधे पर लाठी रखे हुए पीछे-पीछे आ रहा है - यह रिक्शा कैसे चला सकता है ? क्या हो गया है इस दुनिया को ?''[83]

गॉव का किसान शहर की ओर भाग रहा है, पूरी गति से भाग रहा है, क्योंकि - ''किसानी तो जवाल हो गई है । बस ढ्रोये जा रहे है ।''[84] आखिर कब तक ढोता इस जवाल को! हरिया के भाग जाने पर {'अलग-अलग वैतरणी'} करैता का हरखू सतोष प्रकट करते हुए कहता है - ''महाबीर सामी की कसम, अब ई खेती तो डॉड़ हो गई । हरिया भागा तो अच्छा ही हुआ । कहीं दो पैसा कमाएगा तो आदमी बन जायेगा ।''[85] गोया गॉंव मे वह आदमी नहीं था । गॉंव की एक कहावत भी यही कहती है - 'गॉव बसन्ते भूतानाम ।' यहॉ अनायास स्मरण हो आता है 'मैला ऑचल' {रेणु} के डाक्टर प्रशान्त द्वारा डॉ. ममता को लिखा गया पत्र ।[86]

कुली-मजदूर बनने गॉंव से नगर भाग रहे ग्रामीणों का मार्मिक अंकन 'बाबा बटेसरनाथ' {नागार्जुन}, 'रीछ' {विश्वम्भरनाथ उपाध्याय}, 'जल टूटता हुआ' {रामदरश मिश्र}, 'कभी न कभी' {वृन्दावन लाल वर्मा} और 'आधा गॉंव' {राही मासूम रजा} आदि में भी हुआ है ।

नौकरी की तलाश : गाँव का शिक्षित वर्ग

गॉव के शिक्षित बेरोजगारों की नौकरी की खोज की 'हताश प्रयत्नशीलता' बहुत ही करुण है । उनकी लक्ष्य विहीन भ्रमित और छीजती-डूबती युवाशक्ति जीविकोपार्जन के लिए नौकरी रुपी तिनके की तलाश मे भटक कर दम तोड़ देती है ।

'अलग-अलग वैतरणी' का नीरु गॉव के स्कूल से हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पासकर, 'झोले मे थोड़ा सा सत्तू और दो सेर आटा' ले, पीछे सिसकती हुई मॉ को छोड़ नौकरी की तलाश मे शहर की ओर चल पड़ता है ।[87]

'जमींदार का बेटा' (दयानाथ झा) का शिक्षित विपिन 'अब बदलते है हालात अब बदलते है' की तर्ज पर गॉव मे रह पाने का भरसक प्रयत्न करता है परन्तु गरीबी और कर्ज दोनों मॉ-बेटे मिल कर उसके पैर गॉव से उखाड़ देते है । विनोद जब शहर जाने की तैयारी करता है तो ओवरसियर गोपाल का यह कथन कितना सार्थक है - "आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है । मेरे विचार से आप न जाते तो अच्छा था । इस तरह गाँव के लोग शहर पहुँचते गये तो इस ग्राम बहुल भारत देश की स्वतत्रता सही मानी मे स्वतत्रता न हो पायेगी ।"[88]

गॉव का शिक्षित किन्तु विपन्न तबका जब शहर जाने की बात करता है तो उसकी मजबूरी समझ मे आती है परन्तु सम्पन्न वर्ग का युवा भी शिक्षित हो जाने के बाद गॉव मे रहना नही चाहता । 'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन एम.ए.पास करने के बाद कुछ दिन तो करैता में टिकता है फिर उसे लगता है कि - "यहाँ रहकर कूड़ा बनने से तो अच्छा है कही चला ही जाऊँ ।"[89] गॉव का युवा गाँव से किस प्रकार निस्सग हो चुका है इसकी पुष्टि विपिन के इस छोटे से वाक्य से ही हो जाती है - "मारो गोली साले गाँव को ।"[90] उक्त कथन में एक शिक्षित नवयुवक की गाँव के प्रति हताशाभरी उपेक्षा का जो भाव प्रकट हो रहा है वह बहुत मार्मिक है । और अन्ततः विपिन करैता को छोड़कर गाजीपुर के डिग्री कालेज में इतिहास का प्राध्यापक होकर चला ही जाता है । उसकी विदा की बेला में जग्गन मिसिर कहते हैं - "आप जा रहे हैं विपिन बाबू, जाइए । कोई

आपको उसके लिए दोष भी नहीं देगा । सभी जाते है ।........ .. फिर वैसे लोग; जिनके पास अकल है, पढे लिखे है, यहॉ कैसे रह जायेगे ? वे जायेगे ही ।''[91]

'अलग-अलग वैतरणी' के जग्गन मिसिर की ही तरह शिक्षित ग्रामीणों के नगर-पलायन पर अपना दुःख व्यक्त करता हुआ 'अँधेरे के विरूद्ध' {उदयराज सिह} का एक पात्र कहता है - ''यही तो हमारे गॉव का दुर्भाग्य है । जहॉ कोई पढ लिख लेता है, यहॉ से जीविका की खोज में शहर भाग जाता है । यहॉ उसका जी भी नहीं लगता । यहॉ के वातावरण के लिए वह अयोग्य हो जाता है ।''[92]

शिक्षित ग्रामीणों का एक ऐसा तबका भी है जो नगर मे रहकर शिक्षा प्राप्त करने के ही दौरान कहीं सरकारी, गैर सरकारी नौकरी हासिल कर वहीं बस जाता है । 'उस चिड़िया का नाम' {पकज विष्ट, 1989} का हरीश स्वय तो बबई मे बस ही जाता है, उसे और लोगों के भी इस पहाड़ी गॉव मे बसे रहने का कोई अर्थ नहीं नजर आता । वह अपने चचेरे भाई सुरेन्द्र को भी पहाड़ छोड़ने के लिए समझाता है - ''आखिर आपने अपने बच्चों से नौकरी ही तो करवानी है न । यहॉ वह क्या पढेगे ? और यहॉ के पढ़े शहर वालो से, जहॉ अग्रेजी का ही बोलबाला है कैसे 'कम्पीट' करेंगे ।..... आपकी अर्थ व्यवस्था तो यह है कि आपको अपनी खेती में भी पैसा लगाना पड़ता है। दुनिया मे शायद ही कोई और ऐसा धधा हो, जैसी हमारी खेती है, जो कुछ देने की जगह लेने लगी है - श्रम भी और पूँजी भी ।''[93]

इस वर्ग के लोगों के लिए मामला सिर्फ आर्थिक नहीं रह जाता बल्कि शहर में रहने की जरूरत, बेहतर जीवन शैली और बच्चो के 'कान्वेन्ट स्कूल्स' हो जाते है । 'सात आसमान' {असगर वजाहत, 1996} के अब्बा की लाख कोशिशों के बाजजूद उनके दोनों पुत्र क्रमशः दिल्ली और बबई छोड़कर वापस आना गवारा नहीं करते और अब्बा को साफ-साफ लिख देते हैं कि वे घर जाकर नहीं रह सकते ।[94]

गाँव को सदैव के लिए त्यागकर नौकरी के सिलसिले में शहर में ही बस जाने वालों में 'पानी के प्राचीर' {रामदरश मिश्र} के मलिन्द, 'आधा गाँव' {राही मासूम रजा} के डिप्टी अली हादी,

'डूब' {वीरेन्द्र जैन} के राम दुलारे, 'बीस बरस' {रामदरश मिश्र} के दामोदर शर्मा 'लेकिन दरवाजा' {पंकज विष्ट} के देवेन और नीलाम्बर, 'विस्रामपुर का सन्त' {श्रीलाल शुक्ल} के डॉ. विवेक और 'झूलानट' {मैत्रेयी पुष्पा} के सुमेर आदि उल्लेखनीय पात्र है ।

विभिन्न व्यवसाय और नगर-गमन

मजदूरी और नौकरी के अतिरिक्त आर्थिक पहलू का तीसरा कोंण जो गॉव से नगर-गमन के सन्दर्भ मे उभरता है वह विभिन्न व्यवसायो से सम्बन्धित है । नगर-गमन के इस रूप का चित्रण भी हिन्दी उपन्यासो मे बखूबी हुआ है ।

'अलग-अलग वैतरणी' {शिवप्रसाद सिह} के डॉक्टर देवनाथ का शुरूवाती आदर्श 'मैला ऑचल' {रेणु} के डॉ. प्रशान्त से मिलता जुलता है । डॉक्टरी पास करने के बाद वह गॉव में रहकर दुखिया लोगो की सेवा करना चाहता है और देवनाथ गॉव में ही डिस्पेन्सरी खोल कर अपनी सोच को अमली जामा पहना भी देता है किन्तु असके पिता झब्बू उपधिया को यह गवारा नहीं, उन्होने तो सोचा था कि - ''डाक्टरी के जैसा व्योपार कोई है ही नहीं । लड़का कहीं शहर-वहर में किसी सरकारी अस्पताल मे डाक्टर हो जायेगा । हजारो रूपये का वारा-न्यारा करेगा । घर में रौनक हो जायेगी ।''[95] और झब्बू उपधिया के प्रयासो के चलते ही विपिन अन्ततः कस्बे पहुँच जाता है । कस्बे जाकर वह भी खुश है - ''खूब मजे से हूँ यहाँ । न हाय-हाय न झाँव-झॉव । सुबह कुछ भीड़ जरूर रहती है । मरीजों में घिरा रहता हूँ । बारह-एक बज जाते हैं खा-पीकर दोपहर भर सोता हूँ ।''[96] डॉ. देवनाथ का यह सन्तोष वैयक्तिक दृष्टि से ठीक ही ठहरेगा । गॉव में ऐसे मजे कहाँ !

जमीन किसान की मॉ है उसकी 'मरजाद' है, उसका सब कुद है । अपने खेत बचाने के लिए वह कुछ भी कर सकता है - कुछ भी । होरी {गोदान} तो अपने प्राण तक त्याग देता है किन्तु शहर मे बस चुके व्यक्ति के लिए वह पूँजी का एक रूप मात्र है । 'पहला पड़ाव' {श्रीलाल शुक्ल} के परमात्मा जी के बारे में बताता हुआ उपन्यास का नायक सन्ते उर्फ सत्यनारायन कहता है - ''गॉव के झगड़े फसाद में जब लोगों ने परमात्मा जी की खटिया खड़ी करनी शुरु कर दी तो वे शहर में

आकर रहने लगे थे ।....... शौकिया वकालत भी शुरू कर दी थी जो सड़क पर स्वागतम् वाले फाटक बनवाने के दिनो से और भी अच्छी चल निकली थी । अब हर साल वे गॉव के कुछ खेत और बाग बेचते थे और शहर में मकान बनवाते थे । तीन बन चुके थे यह चौथा बन रहा था।''[97]

'आधा गॉव' {राही मासूम रजा} के गगौली के सैयद वशीर हसन जैसे लोग भी पेशा-ए-वकालत से बावस्ता गाजीपुर वास करने लगते है और क्रमशः गॉव से दूर होते जाते है । होते-होते स्थिति यहॉ तक पहुँचती है कि मौका-ए-मुहर्रम पर पढ़ा गया यह मिसरा गॉव गगौली के लिए एकदम मौजूँ हो जाता है - 'आज शब्बीर पे क्या आलमे - तनहाई है !''[98]

डॉक्टरी, वकालत के अतिरिक्त व्यवसाय के नगराकर्षण का भिन्न रूप गोबर 'गोदान' {प्रेमचन्द} मे गोबर के लखनऊ से बेलारी लौटने पर उजागर होता है जब वह अपने दुग्ध व्यवसाई श्वसुर भोला से कहता है - ''तुम चलो लखनऊ काका । पॉँच सेर दूध बेंचो नगद । कितने ही बड़े-बड़े अमीरो से मेरी जान पहचान है । मन भर दूध की निकासी का जिम्मा मै लेता हूँ । मेरी चाय की दुकान भी है । दस सेर दूध तो मै ही नित लेता हूँ । तुम्हें किसी तरह का कष्ट न होगा ।''[99]

ग्रामवासी को लगता है कि शहर मे रहकर व्यवसाय करना हर तरह से लाभ का धंधा है तभी तो 'कलि-कथा : वाया बाईपास' {अलका सरावगी, 1998} के नायक किशोर बाबू के 'ग्राण्डफादर' के पिता राम विलास बाबू को यह लगता है कि - ''संपत होय तो घर भलो नहीं भलो परदेश''[100] *और वे अपना पुश्तैनी गाँव छोड़कर कलकत्ता जाने वाली ट्रेन में सवार हो लेते है। मॉ काली की कृपा से उनका जूट की दलाली का धंधा खूब चल निकलता है और उनकी चौथी पीढ़ी तक आते-आते किशोर बाबू शहर के सम्पन्न-सम्भ्रांत लोगों में गिने जाने लगे । धनाढ्य हो जाने के बाद किशोर बाबू गाँव में पुरखों की निशानी के रूप में बची पैतृक हवेली औने-पौने दामों में ही बेच गॉव से ताल्लुक खत्म कर देते हैं । पत्नी के समझाने पर उनका कथन है - ''क्या करेंगे उस मनहूस जगह को रखकर ? कभी आबाद हुई वह हवेली, जो अब होगी ? तुम्हारे बच्चे रहेगे उसमें कि तुम जाकर रहोगी ।''*[101]

ठीक यही 'डूब' {वीरेन्द्र जैन} के मोती साव भी करते है जब वे लड़ैई गॉव से सारे ताल्लुकात तोड़, पास के कस्बानुमा शहर मे अपना वणिक व्यवसाय जमा लेते है ।

कुल मिलाकर निष्कर्ष रूप मे कहे तो आज गॉव का सच 'आलमे तनहाई' का है । अर्थ के विषैले आकर्षण से भरा नगर अजगर की साँस की भॉति गॉव को अपनी ओर खींच रहा है । आलम यह है कि गॉव मे कोई रहना नहीं चाहता ''यहाँ रहते वे है जो यहॉ रहना नहीं चाहते, पर कहीं जा नहीं पाते''[102] और उनकी इस न जा पाने की बेवसी कुछ इस तरह प्रकट होती है –

> ''सर सूखे पछी उड़े, औरनि सरहि समाहि ।
> दीन मीन बिनु पख के, कह रहीम कहँ जाहि ।।''[103]

सन्दर्भ

1 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 67

2 'न्याय समाज के मूलाधार' - चैस्टर बोल्स, पृष्ठ 31

3 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 117-118

4 'मैला ऑचल' - फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 118

5 'लोक परलोक' - उदयशकर भट्ट, पृष्ठ 28

6 'लोक परलोक' - उदयशकर भट्ट, पृष्ठ 31

7 'जमींदार को बेटा' - दयानाथ झा, पृष्ठ 271-272

8 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 117

9 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 117

10 'बबूल' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 137

11 दिनमान - 3 मई 1970, पृष्ठ 24 {रेणु का साक्षात्कार}

12 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ 722

13 'रीछ' - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ 201

14 'रीछ' - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ 714-715

''इस देश की कृषि-व्यवस्था में तभी क्राति हो सकती है जब जोतें बड़ी-बड़ी हों । छोटे खेतों मे गहरी खेती से भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि इससे श्रम का बहुत सा भाग छोटे खेतो में लगा रहता है । दो उपाय हो सकते हैं । सरकारी फार्म बनाए जाएँ या सहकारी खेती द्वारा बड़ी जोतें की जाये ।''

15 'अमरबेल' - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 5

16 'उदय किरण' - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 129

17 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 64

18 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 72

''हम लोगों ने प्रस्ताव किया है कि सुपरवाइजर ने जो हमारी आठ हजार रुपये की हानि की है, उसकी पूर्ति के लिए सरकार अनुदान दे ।''

19 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 73

20 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 149

21 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 149

22 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 149-150

23 'सात आसमान' - असगर वजाहत, पृष्ठ 172

24 'सात आसमान' - असगर वजाहत, पृष्ठ 172

25 'सात आसमान' - असगर वजाहत, पृष्ठ 175

''ये कोई परेशानी की बात नहीं है । आप एक-एक बीघा या दो-दो बीघे के बैनामे अपने नौकरो के नाम कर दीजिए या गॉव के हरिजनों के नाम कर दीजिए । वो जमीन के मालिक मान लिए जायेंगे और आपके सहकारी फार्म के सदस्य हो जायेंगे ।''

26 'विस्रामपुर का सत' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 121

27 'विस्रामपुर का सत' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 123

28 'विस्रामपुर का सत' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 123

29 'विस्रामपुर का सत' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 137

30 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 304

31 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 299

32 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ 740

33 'पहला पड़ाव' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 14

34 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 146

35 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 147

36 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 146

37 'विस्रामपुर का सन्त' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 123

38 'सती मैया का चौरा' - भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ 704

39 'सात आसमान' - असगर वजाहत, पृष्ठ 173, 174, 182, 184

40 'बिल्लेसुर बकरिहा' - निराला

41 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 211

42 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 472

43 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 336

44 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 257

45 'नमामि ग्रामम्' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 49

46 तुलसीदास - 'विनय पत्रिका'

''आग बड़वाग से बड़ी है आग पेट की''

47 'है तो है' - एहतराम इस्लाम {गजल संग्रह}

48 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम-जीवन' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 200

49 'गोदान' - मुंशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 102

50 'गोदान' - मुंशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 176

51 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 176

52 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 175

53 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 175

54 'अशोक के फूल' - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 14

55 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 175

56 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 86

'' 'ई फसल-भेंट-पाल्टी क्या होती है मिसिर चाचा ? छबिलवा ने पूँछा ।''

'' 'अगहन मे चार मन धान हो जाय तो ऐसे जुगुत से खरचो-खाओ कि चैत भेट ले, और चैत में चार मन गेहूँ चना हो तो ऐसी कजूसी-कटौती बरतो कि अगहन ठेक जाय । यही है फसल भेंट पाल्टी ।' मिसिर हँसे - 'इस गाँव में तीन चौथाई लोग इसी पाल्टी के मेंबर हैं ।' ''

57 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 95-96

58 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 172

59 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 240

60 फैज {'लेकिन दरवाजा' - पकज विष्ट, पृष्ठ 369 से उद्धृत}

61 'धर्मयुग' 25 जनवरी 1970, पृष्ठ 45

लेख - 'गॉव की बदलती तस्वीर' - डॉ. हरदयाल

62 'राग दरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 266

63 'उस चिड़िया का नाम' - पंकज विष्ट, पृष्ठ 174

64 'उस चिड़िया का नाम' - पंकज विष्ट, पृष्ठ 175

65 'न्याय समाज के मूलाधार' - चैस्टर बोल्स, पृष्ठ 28-29

66 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 299

67 'नदी फिर बह चली' - हिमाशु श्रीवास्तव, पृष्ठ 292

68 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 478

69 'गण देवता' - ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, पृष्ठ 6

70 'ब्रम्हपुत्र' - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ 48

अध्याय-पंचम

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-नगर सम्बन्धः सामाजिक आयाम

ग्राम सामाजिक गठन

भारतीय ग्राम के सामाजिक गठन को समझने के लिए उन विभिन्न इकाइयो को समझना आवश्यक है जिनके माध्यम से ग्राम-समुदाय का गठन होता है। समाज की मूलभूत या प्राथमिक इकाई सयुक्त परिवार होता है। भारतीय गॉवो के परिवार-गठन को रेखाकित करते हुए प्रसिद्ध समाज शास्त्री प्रो. श्यामा चरण दुबे लिखते है - ''प्रत्येक परिवार जाति के एक वहिर्विवाही खण्ड का सदस्य होता है और ऐसे कई खण्ड मिलकर एक अर्न्तर्विवाही जाति अथवा बड़ी जाति के एक अन्तर्विवाही उपभाग की रचना करते है ऐसे किसी भी सामाजिक एकक में किसी भी व्यक्ति की स्थिति जाति-वहिष्कार या धर्म परिवर्तन करने पर ही बदल सकती है''।[1] यह परिवार एक समुदाय का ॲग होता है । गॉव के व्यक्ति पर सामाजिक और धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में तीन तरफ से नियत्रण रहता है-परिवार का, गॉव का और उसकी अपनी जाति का । व्यक्ति पहले अपने परिवार के प्रति जवाबदेह होता है, फिर जाति के प्रति और अन्ततः अपने गॉव के प्रति। भारतीय गॉवों का यह इतिहास रहा है कि वह अपनी आन्तरिकता मे भले ही कितने विभाजनो-उपविभाजनों-जाति, धर्म, वर्ग-आदि मे बॅटे दिखाई देते रहे हों, उनका वाह्य रूप मजबूती से ऐक्य की भावना के बधन से बधा रहा है। गॉव के एक व्यक्ति का अपमान सारे गाँव का अपमान होता था। 'गोदान' {मुशी प्रेमचन्द्र 1936} में जब भोला होरी के बैलों की गोई खोकर ले जाने लगता है तो गाँव के दातादीन, पटेश्वरी, शोभा के साथ बीसों आदमी दौड़कर भोला को रोकने आ जाते हैं और होरी के बैलों के लिए मर मिटने पर तैयार हो जाते है। दातादीन प0 अपनी झुकी हुई कमर को सीधा करके ललकारते है - ''तुम सब खड़े ताकते क्या हो, मार के भगा दो इसको । हमारे गाँव से बैल खोल कर ले जाएगा ![2]

यहॉ धर्म, जाति, पेशा, वर्ग सब गौड़ हो जाते हैं; मुख्य होती है एक ग्राम की भावना। गॉव के लोगों का पारस्परिक सौहार्द तब अपने पूरे रूप के साथ उभर कर सामने आता है जब किसी व्यक्ति के यहाँ कोई आपदा यथा मृत्यु, बीमारी आदि आती है। उस वक्त पूरा का पूरा गाँव उसके साथ खड़ा हो जाता है। 'पानी के प्राचीर' {रामदरश मिश्र} के गाँव पाड़ेपुर में जब नीरज के घर आग लग जाती है तो पूरा गाँव मुस्तैदी से उस आग को बुझाने में जुट जाता है।[3] शहर में ऐसे दृश्य बिरल होते हैं जब कि गाँव के लिए यह एक आम बात है ।

शहरी आबोहवा गॉवों में भी पहुँची है और वहॉ भी लोग 'दूसरे के फटे में टॉग न अड़ाने', जैसी निस्सग भावना मे बॅधते चले जा रहे है। किन्तु अभी ऐसे ग्रामीण क्षेत्र भी बचे हुए है जहॉ तक शहरी सभ्यता का विष पूरी तरह नही व्याप्त हो पाया और उसनें अपने भाई चारे के पूर्व गुण को बचा रखा है। परन्तु बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी !

गाँव : मानवीय सम्बन्धों का स्वरुप

गॉव के लोगों के धर जिस तरह छोटे और खाली होते है उनके हृदय उसी अनुपात में विशाल और मानवीय सवेदना से लबरेज। सपन्नता और तथाकथित 'सभ्यता' का मानवता से कुछ अजीब सा व्युत्क्मानुपाती सम्बन्ध होता है। गॉव के लोगों की हद्गत विशालता का आलम यह होता है कि मनुष्य और पशु पक्षी ही नहीं अपनें पेड़ों, खेंतों तक से उनका रागात्मक सम्बन्ध होता है। खेतों के, पेड़ों के भी अपने नाम, अपनी स्वतन्त्र पहचान होती है। पारस्परिक सम्बन्धो में जाति, धर्म, वर्ग कभी आड़े नही आते। गॉव के हर व्यक्ति से हर व्यक्ति का कोई न कोई नाता जरूर होता है। यह नाता सिर्फ नाम का ही नहीं वल्कि पद की पूरी मर्यादा के साथ बँधा हुआ होता है। उसकी इस विशेषता पर टिप्पणी करते हुए डा0 शिव प्रसाद सिंह लिखते हैं - "गाँव का जीवन और उसके रिश्ते अजब तरह के होते है। हर धर हर व्यक्ति एक बनी-बनाई परिभाषा में बॅधा है। ये परिभाषाएँ कितनी भी बेमानी लगें, अवसर पर अपना पूरा हक और प्रतिदान पाकर ही शात होती है। नीची से नीची जाति का कोई मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की, बूढ़ा हो या बूढ़ी, ऊँची जाति वालों के साथ उसका रिश्ता तै है।[4] ग्रामीणों के इन रक्तेतर 'नातों' में कितना अपनापन है कि ठेठ शहरी डा0 प्रशान्त (मैला आँचल) किसी को मौसी बना लेता है तो किसी का मामा हो जाता है।[5] गाँव की मनुष्यता का यह फैलाव मनुष्यों की परिधि को लाँधकर प्राणि मात्र को अपनें में समेट लेता है तभी गाँव का कोई हल्कू झबरा के साथ सो लेता है,[6] और किसी होरी के धर आई हुई गाय महज गाय न होकर 'सुन्दरिया' हो जाती है।[7] परन्तु अब ऐसा लगता है कि ये सब गुजरे जमाने की बातों में शुमार हो जायेगा। अर्थ की चकाचौंध के साथ शहरीपन गाँव की

ऑखो मे धॅस गया है या धॅसता जा रहा है। उसके अपने मूल्यो के शिविर उखड़ते जा रहे है और उनके स्थान पर नवीन जीवन मूल्यों के खेमे गड़ते चले जा रहे है।

नगर और ग्राम-जीवन मूल्यों में परिवर्तन

समाज की स्थिति गत्यात्मक होती है और परिवर्तन उसकी गतिशीलता का घोतक है। समय के चक्र के साथ-साथ सामाजिक स्थितियो मे परिवर्तन होता चलता है। प्रत्येक युग की मान्यताएँ, परम्पराएँ और मूल्य आवश्यक नहीं कि अगले युग मे उसी रूप मे स्वीकार हो। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है । परिवर्तन की यह गति आगे की ओर भी हो सकती है पीछे की ओर भी। इसी क्रम में भारतीय गाँव के प्राचीन मूल्य और परम्पराए विघटित हो रहे है और उनके स्थान पर नवीन मूल्यों और परम्पराओ की प्रतिष्ठा हो रही है। परिवर्तन की इस धारा का बहाव जल-धारा की भाँति ही सदैव उपर से नीचे की ओर होता है। भारतीय ग्रामों में यह परिवर्तन नगरों से, नगरो में महानगरों से तथा महानगरों में विकसित देशों के प्रभाव से होता हुआ परिलक्षित हो रहा है।[8] नये विकास के साथ नगर-सम्पर्क जैसे-जैसे बढ़ रहा है वैसे-वैसे गाँव का सामाजिक ढॉचा परिवर्तित होता जा रहा है। नगरीय प्रभाव ने पहला निशाना उसकी परम्परागत सामाजिक सरचना को बनाया है और वहाँ चतुर्मुखी टूटन के आयाम उभर कर सामनें आए है। गामीण समाज में सह-अस्तित्व और बन्धुत्व का जो जमा-जमाया ढॉचा था उसमें नगरीय धक्कों ने अनेक दरारें उत्पन्न कर दी है। इन दरारों की सबसे बड़ी तादाद दिखाई देती है ग्राम -जीवन मूल्यों मे। 'मूल्य-विघटन पर विचार करते हुए डा0 वेद प्रकाश अमिताभ लिखते हैं- ''नगरीकरण, आर्थिक प्रतियोगिता, सपति का विकेन्द्रीकरण, तीव्रगामी संचार-व्यवस्था और विध्वसात्मक अस्त्र आदि यात्रिकी के तत्व आदि, मानव जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला चुके हैं। इनके प्रभाव से जीवन-स्तर उपर उठा है, शोषण के नए तरीके सामनें आए हैं, नैतिकता के रूढ़ मानदण्डों को गहरा आघात लगा है, पारिवारिक संबन्ध कठोर आजमाइश में पड़ गए हैं। विध्वंसात्मक अस्त्रों ने सम्पूर्ण मानवता के लिए भयंकर सकट खड़ा कर दिया।''[9] पश्चिम के प्रसूति गृह से पैदा हुआ यह संकट शहर के रास्ते होकर ही भारत के गॉवों तक पहुँचा है।

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य मे इन परिवर्तित स्थितियो और नये सामाजिक मूल्यों का प्रामाणिक रूप से चित्रण हुआ है। 'अलग-अलग वैतरणी ' (शिव प्रसाद सिंह) का गॉव करैता नरक की हद तक तक जा पहुँचा है। वहॉ रहने वालों को शायद इस तथ्य का अहसास नहीं होता और यह स्वाभाविक भी है। किसी वस्तु के सही आकलन के लिए यह आवश्यक है कि हम उससे कुछ हट कर खड़े हों। तभी तो करैता के सत्य को शहर से वापस आया विपिन पहचान पाता है। उसे लगता है- ''यहॉ किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है, जिसमे वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं।'[10] विपिन शिक्षित है, समर्थ है, उसे तो चाहिए था कि वह गॉव को इस बदहाली से निकालनें का प्रयत्न करता लेकिन नहीं, शहर ने उसे पूरी हद तक आत्मकेन्द्रित कर दिया है। उसे सिर्फ अपनीं पड़ी है- ''यदि कुछ दिन और यहॉ रह गए तो हम भी तन-मन से इस महाकाय घूरे का एक हिस्सा बन जायेगे ।''[11]

बाल्मीकि के राम जन्मभूमि को जननी के समान और स्वर्ग से बढ़कर मानते है।[12] ठीक यही करैता गाँव के जग्गन मिसिर को भी लगता है कि गाँव 'महतारी' है।[13] परन्तु शहर वास कर चुके विपिन के अन्दर यही भावना नहीं है, वह कह देता है- 'मारो साले गाँव को गोली'[14] माना विपिन गाँव छोड़ने का निर्णय, गॉव की बदहाली से निराश होकर लेता है लेकिन यह नैराश्य भरा पलायन शहर की ही देन है। हमारे मॉ-बाप यदि बीमार, बूढ़े, रोगी हे जॉय तो हम उन्हें त्याग तो नहीं देगे !

आजकल शहर का प्रभाव ग्राम-जनों के मन से 'माटी के मोह' को समाप्त करता जा रहा है। वहाँ भी अब यह धारण बल पकड़ती जा रही है कि 'अनाज के देश में रहना चाहिए न कि बाप के देश में।' 'परदेश की पूरी रोटी से घर की आध भली'[15] जैसी भावना अब गुजरे जमाने की चीजे हैं। 'आधा गाँव' का रचनाकार गॉव के इस सामाजिक सत्य का उद्घाटन करते हुए लिखता है- ''कलकत्ता, बंबई, कानपुर और ढाका -इस शहर की हदें हैं। दूर तक फैली हुई हदें..... यहाँ के रहनें वाले यहाँ से जाकर भी यहीं के रहते हैं। गुब्बारें आकाश में चाहे जितनी दूर निकल जॉय परन्तु अपने केन्द्र से उनका सम्बन्ध नहीं टूटता, जहाँ किसी बच्चे के हाथ में निर्बल धागे का एक सिरा होता है। इधर कुछ दिनों से ऐसा हो गया कि बहुत से बच्चों के हाथों से यह डोर टूट

गई है।[16] 'आधा गॉव' के लेखक को लगता है कि 'बहुत से' बच्चो के हाथों से यह डोर टूटी है यानि कुछ के हाथ मे अभी यह डोर थी। यह सत्तर के दशक का जमाना है। तीन दशक और गुजर जाने के बाद तो ऐसा लगता है कि सारी डोरें टूट चुकी है। शहर के इन्द्रजाल ने गॉव के आदमी को इस भॉति मोहित किया है कि उसे अपना गाँव, अपना पैतृक घर बिल्कुल वाहियात लगनें लगे है। ृताब्दी के लगभग अन्तिम दशक में प्रकाशित पकज विष्ट के उपन्यास 'उस चिड़िया का नाम' के हरीश- जो अपने पहाड़ी गॉव से जाकर बबई में नौकरी करता है, के इस कथन से इसी बात की पुष्टि होती है- ''बद कर दे इस साले घर को .... जहाँ हम होंगे, वहॉ हमारा घर होगा। घर आदमियों से होता है, जगह से नहीं।'[17] यह हरीश नही उसके मुँह से बबई का भूत बोल रहा है वर्ना गॉव के आदमी को तो अपनी झोपड़ी भी किसी महल से कम प्यारी नही होती। दिसागमुख गॉव ('ब्रहमपुत्र'-देवेन्द्र सत्यार्थी) का अब्दुल कादिर मजबूरी के चलते अपना घर बेंच तो देता है लेकिन गॉव में तूफान की खबर सुनकर वह अपने आप को रोक नहीं पाता - ''भले ही मैनें अपना घर बेच दिया, फिर भी आज शिवसागर में बैठे-बैठे सोचा, चलकर देखें कहीं दरारें हमारे घर के बिल्कुल पास तो नही आ गई है।''[18] मूल्यों का निर्माण विचारों से होता है। गाँव के परम्परागत विचारों को शहर से आई 'नई सभ्यता' ने दूषित कर दिया है। यह प्रदूषण गॉव के दिलो-दिमाग में इस तरह भर गया है कि उसके तमाम पुरानें मूल्य चरमरा उठे हैं।

ग्राम-नैतिक मूल्य : नगर प्रभाव

ग्राम-सन्दर्भो में नैतिकता का अर्थ पूर्णतया यौन -सम्बन्धों के दायरे में परिभाषित होता है। गॉव मे स्त्री और पुरूषों के बीच विवाहेतर या विवाह-पूर्व यौन-सम्बन्ध शहर की बनिस्बत कहीं अधिक होते हैं। इसका कारण संभवतः यहाँ का पाकृतिक परिवेश है। अरहर, ज्वार, गन्नें के खेतों के साथ खंडहरों जैसी सुनसान जगहें देहों के मिलन-स्थल के रूप में सहज सुलभ होती हैं। 'मैला आँचल' का मेरीगंज, 'पानी के प्राचीर' का पाड़ेपुर, 'अलग-अलग वैतरणी' का करैता,'रागदरबारी' के शिवपालगंज के साथ 'आधा गाँव' के गंगौली जैसे गाँव इस तथ्य के पुख्ता प्रमाण हैं। गंगोंली में तो अनैतिक यौन-सम्बन्धों की बाढ़ सी आई दिखाई देती है, जिसमें स्त्री-पुरूष दोनों ऊभ-चूभ कर रहे हैं।

'काम' प्राणि मात्र की अहम् जरूरतों का एक हिस्सा है। इस तथ्य को भारतीय मनीषा भली-भाँति जानती थी तभी तो उसनें काम को चार पुरूषार्थों मे एक माना है। परन्तु काम के इस महत्व के स्वीकार्य के साथ उसनें इसके ऊपर सामाजिक मर्यादाओं के नियत्रण की भी व्यवस्था की थी। गॉव मे यौन-सम्बन्धों की चाहे जितनी भी भरमार क्यो न रही तो, मर्यादाएँ नहीं टूटतीं। काम कहीं भी विकृति के रूप में नही दिखाई देता। कहनें वाले इसे नैतिकता के दोहरे मानदण्ड भी कह सकते है। लेकिन सच यही है कि गॉव का आदमी एक ओर जहाँ अपनी ' बायोलाजिकल अर्जेज' को समझता है वहीं दूसरी ओर वह समाज की मर्यादा को भी जानता है।

'आधा गॉव' (राही मासूम रजा) का अशिक्षित ग्रामीण युवा मिगदाद सैफुनिया नाइन को अपनें घर डाल लेता है, दोनों के एक पुत्री भी होती है परन्तु जब एक दिन अचानक मिगदाद को पता चलता है कि सैफुनिया उसके ही बाप हम्माद मियॉ की नाजायज सन्तान है तो वह गहरे पाप-बोध से भर उठता है सैफुनिया को यह राज मालूम नही है, इसलिए उसे मिगदाद के भीतर की यह तब्दीली अजीब लगती हैं वह सोचती है- ''........ मिगदाद को आखिर हो क्या गया है। वह अब उसे छूने से भी डरता है। उसे उसकी मोहब्बत में कोई कमी नही लगी। लेकिन वह जब भी उसके साथ लेटनें की कोशिश करती, मिगदाद कोई न कोई बहाना करके हट जाता या उसी को हटा देता।'[19] यह ग्राम -मन का नैतिक-आग्रह है। शहरवासी शेखर तो अपनी सगी मौसेरी बहन शशि से विवाह सा ही कर लेता है।[20]

'कसप' (मनोहर श्याम जोशी, 1982) का खाँटी पहाड़ी नायक देवीदत्त भले ही बबई मे रहकर आया हो और अंग्रेज नायिका जीन सिम्मंस का दीवाना हो किन्तु उसकी ग्राम-नैतिकता को बेबी, जो उसकी प्रेमिका है, का जीन सिम्मंस नुमा हो जाना दुःखी कर जाता है।[21] इसी डी डी. के सामनें एक दिन भावातिरेक में बेबी अपनें को निर्वस्त्र कर कोधावेश में सवयं को भोगनें का आमत्रण देती है किन्तु प्रणम्य है नायक का ग्राम-नैतिक बोध जो नायिका के ऊपर चादर खीच देता है।[22] डी. डी. बबई में यूरोपियन महिला गुलबार से यह जानकर स्तब्ध रह जाता है कि उसका

पहला काम-गुरु और प्रेमी उसका सौतेला पिता रहा है।[23] भले ही सौतेला हो, पिता तो आखिर पिता होता है।

उपर्युक्त विवेचन के पीछे मशा यह है कि ग्राम-व्यक्ति सबन्धो की पवित्रता को आदर की दृष्टि से देखता है और उनकी सीमाओ को पहचानता है। जबकि शहर इन सभावनाओ को क्षीण करता है और छीजने का यह नजारा तब देखने में आता हे जब बीसों वर्ष बाद यही डी.डी. 'डैव' होकर अमेरिका से लौटता है और पहली दफा अपनी पूर्व प्रेयसी बेबी उर्फ मैत्रेयी की पुत्री गायत्री को देखता है। जो डी.डी. कभी गुलनार से पिता कम प्रेमी की बात सुनकर स्तब्ध रह गया था आज स्वय इस लड़की को ''गोद लेना चाहता है - पिता और प्रेमी की सयुक्त भूमिका में ?'[24]

ग्राम-मन आमतौर पर नारी के साथ अपनें रिश्तों में -भलें ही वे खून के न हों- सदैव शुचिता का खयाल रखता है। उसके लिए स्त्री पहले माँ है, बेटी है, बहन है, भाभी है और तब देह है।शहरो और खासकर महानगरों में पश्चिम से आई यौन उछृखलता, विशेषकर काम-सम्बन्धी-फायडीय विचारो के प्रसार के चलते स्त्री सिर्फ देह होकर रह गई। सम्बन्धों की मर्यादा काम के कीचड़ में सनकर बदरग सी होकर रह गई। पश्चिम से महानगरों और वहाँ से भारतीय नगरों तक पहुँची- विचारधारा रूपी इस सड़ाँध के छींटे गाँव के श्वेत पवित्र वस्त्रों पर भी पड़ते दिखाई देने लगे है।

वैसे यह गदगी एकदम आज की नहीं है। आज से कम से कम 66 वर्ष पूर्व ही दुलारी सहुआइन शहर से आए इस खतरे के प्रति होरी को सावधान करते हुए कहती है- ''पटेसरी लाला का लौंडा तुम्हारे घर की ओर बहुत चक्कर लगाया करता है। तीनों का वही हाल है। इनसे चौकस रहना। यह शहरी हो गए, गाँव का भाई चारा क्या समझें ? लड़के गाँव में भी हैं, मगर उनमें कुछ लिहाज है, कुछ अदब है, कुछ डर है। ये सब तो छूटे साँड़ हैं। मेरी कौसल्या ससुराल से आई थी, मैनें सबों के ढंग देख कर उसके ससुर को बुलाकर बिदा कर दिया। कोई कहाँ तक पहरा दे।''[25]

यौन उन्मुक्तता के मामलो मे शहर काजल की कोठरी हो रहे है और इस कोठरी ये आए गॉव के व्यक्ति के दामन मे दाग लगना ही लगना है। 'विसामपुर के सत' {श्री लाल शुक्ल} कुँवर जयती प्रसाद सिंह अपनी युवावस्था की शुरुआत में गॉव से इलाहाबाद बी0 ए0 करने आते हैंतो यहॉ अपने पिता के मित्र के बँगले मे ठहरते है। घर में पिता के मित्र की युवा बहू जयश्री, जिसका पति विलायत मे रह रहा है, होती है। किशोर वय और युवावस्था के सन्धिस्थल पर खड़े जयती प्रसाद सिह का कमनीय और युवा भाभी जयश्री के प्रति सहज आकर्षण स्वाभाविक ही था। अचानक एक दिन जय श्री उनसे कहती है- ''.........रात कमरें में आ जाना। पर एक बजे के बाद।''[26] जयती प्रसाद सिह के ग्राम-मन को इस खुले यौन -आमत्रण से एक झटका लगता है। वे भाभी के कमरे मे नही जाते क्योकि 'उनमें कुछ लिहाज है, कुछ अदब है, कुछ डर है।' दूसरे दिन जय श्री फिर कहती है- ''अच्छा, आज! पर एक बजे के बाद- जब कोई गाड़ी निकल रही हो।'[27] किन्तु जयश्री का आमत्रण फिर व्यर्थ जाता है और तब तीसरी रात- 'वे ऊँघे नही थे। फिर भी उन्हे पता नहीं चला कि उनके कमरे का दरवाजा कब खुला, कब बन्द हुआ और जयश्री वहॉ कब आ गई। उसकी मौजूदगी का अहसास उन्हे तब हुआ जब वह पास आकर बैठी, बगल में लेट गई और उन्हें अपनी बाहों में समेटनें लगी। विस्मय, डर और एक सर्वथा नयें किस्म के आवेग से उनकी साँस रूँध गई।[28]

जय श्री का यह आचरण सिद्ध करता हे कि मनुष्य जैसे-जैसे 'सभ्य' होता जा रहा है, उसी अनुपात में यौन-शुचिता और व्यक्तिगत निष्ठा जैसी बातें उसके लिए बेमानी होती जा रही है। इस पर टिप्पणी करते हुए डा. शम्भुनाथ लिखते हैं- ''सभ्यता की यात्रा आग में में भुना मांस खाकर स्वाद-चेतना से शुरु हुई थी और अपनें शिखर पर वह फिर स्वाद-सस्कृति के ही इर्द-गिर्द है।''[29] यह 'स्वाद संस्कृति' गॉंव में भी शहर के रास्ते पहुँच रही है।

गाँव के आदमी के यहाँ मित्रता का नाता सगे भाई के नाते से भी अधिक प्रतिशठा पाता है। वे इस सम्बन्ध में बार-बार तुलसी बाबा के - 'जो न मित्र दुःख होंहि दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ।।' की दुहाई देते है और मित्र के निज के सम्बन्धों को अपनें सम्बन्धों से कम कर के कहीं नही नहीं आँकते। मित्र के माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि उनके लिए

उनके अपनो से कमतर नही होते। शहर मे सभवतः ऐसा नही होता । तभी तो 'सोना माटी' {विवेकी रॉय} का नागर भारतेन्दु वर्मा अपने ग्राम निवासी सहपाठी रामरूप की कमसिन पुत्री कमला को भी अपनी वासना का शिकार बना लेना चाहता है। फ्रायड ने अपनी काम सम्बन्धी व्याख्या क्या दी, मानो इन नगर वालों को व्यभिचार की खुली छूट मिल गई। शहर से महुआरी गॉव के स्कूल में शिक्षक होकर आया यह भारतेन्दु वर्मा, जिसे उसी स्कूल में शिक्षक और किसी जमानें में उसके सहपाठी मित्र रहे रामरूप नें अपनें घर मे जगह दी है, कमली को, जो उसके लिए भी पुत्री के ही समान है, भुजाओं में लपेट कर चूम लेनें के लिए तड़प उठता है[30] और एक दिन जब कमली चाय लेकर उसके कमरे में आती है तो शहरी वर्मा लपटता की हदे पार कर ही जाता है- ''बेटी, बस एक मिनट.........।' पर ऐसा लगा था कि कमली सुन नहीं रही है। अरे, यह बाहर चली जायेगी तो क्या हो सकेगा? अब उसने पीछे से उसे झपट कर पकड़ना चाहा था........।'[31] परन्तु यह नागर जय श्री नहीं है, ग्राम्या कमला है। वह कामुक वर्मा को फटकारते हुए कहती है- ''यह क्या है चाचा जी?........... पीछे लौटिए और आदमी की तरह चाय पीकर आराम कीजिए।'[32]

इस सक्षिप्त विवरण से यह स्पशट हो जाता है कि नगरों में आधुनिकता के प्रभाव से स्त्री पुरूष के सम्बन्धों में अनुचित यौन सम्बन्धों एव श्लील-अश्लील के दृष्टिकोंण में नैतिक रूढ़ियाँ द्रुत गति से टूटी और बिखरी हैं तथा नवीन नैतिक मूल्यों का स्थापन हुआ है या हो रहा है। यातायात और संचार माध्यमों के फैलाव नें इन परिवर्तनों को गाँवो तक भी पहुॅचाया है और खूब पहुँचाया है। नैतिक मूल्यों के इस विखण्डन पर अज्ञेय की यह टिप्पणी ध्यातव्य है- ''नैतिक मूल्यो की समस्या और भी विकट इसलिए हो गई है कि प्राचीन शास्त्रीय धार्मिक अथवा ईश्वर सभूत धार्मिकता इस युग में कमशः क्षीण होती चली जा रही है और नैतिकता का आधार एक मानव सभूत नीति में खोता जा रहा है। जो दायित्व अब तक ईश्वर या धर्म पर था, वह अब मानव ने स्वय ओढ़ लिया है।''[33]

'टूटन' आज के शहरी जीवन की मुख्य पहचान बनकर उभरी है। भारतीय 'चिन्ता-धारा' ईश्वर से अविच्छिन्न रूप में जुड़ी रही है।[34] नीत्शे की 'ईश्वर मर गया है' की घोषणा के बाद ईश्वर रूपी खूँटा उखड़ जानें पर सभी स्वयं को स्वतन्त्र मानने लगे और इस स्वतन्त्रता ने कमशः

अराजकता का रूप ले लिया और आधुनिक युग की यात्रिक सभ्यता ने मनुष्य को अपने शिकजें मे लेकर उसके अन्दर आशका, भय, आतक, यत्रणा और विवशता भर कर जीवन को पूर्णतः यात्रिक बना दिया । इस यात्रिकता ने सामाजिक संगठन की तमाम इकाइयों को ध्वस्त कर दिया और मानवीय सम्बन्धों में निहित रागात्मक को नष्ट कर दिया। ''यात्रिकता के कारण आधुनिक मानव विवशता और असहायता का अनुभव करते हुए अन्ततः जड़ता और अमानवीयता की ओर बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारो ने मनुष्य को भी यन्त्र का पुर्जा बना दिया है। स्थिति यह हो गई है कि यन्त्र मनुष्य के लिए नही रह गया है, मनुष्य ही यन्त्र के लिए साधन बन गया है .... यह स्थिति धीरे-धीरे मनुशय की मनुष्यता को छीजती जा रही है। उसके भीतर के रागात्मक सम्बन्धों का उच्छेद होता जा रहा है।'[35] यात्रिकता की समाज-सापेक्ष चर्चा करते हुए कुछ ऐसे ही विचार डा. कुवंर पाल सिह भी प्रकट करते है।[36] कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि तथा कथित आधुनिक सभ्यता भारतीय समाज को विखण्डन की ओर ले गई है। गाँव जब तक इस सभ्यता की अँधेरी रोशनी से दूर रहे तब तक इस विखण्डन से भी काफी हद तक बचे रहे किन्तु निरन्तर बढ़ते नगरीय सम्पर्क के चलते 'टूटन' ने वहॉ भी घुसपैठ की है। स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासो ने इस विघटन को उसके अनेक आयामों में उभारा है।

सामाजिक विघटन

व्यक्ति, समाज की सबसे लघु इकाई है जो अपनें वैयक्तिक रूप में नितान्त निजी होते हुए भी अनेक सामाजिक बन्ध्नों में बँधा हुआ होता है। व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक है, व्यक्ति के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं और सामाजिक व्यवस्था की असमर्थता व्यक्ति को महत्वहीन बना देती है। जैसा कि रामदरश मिश्र लिखते हैं- ''व्यक्ति अपनी अन्तर्गुहा में बन्दी सामाजिक सत्यों से अप्रभावित कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न अकेले उसकी कोई सार्थकता ही है। वह सामाजिक जीवन के प्रवाह में बहता हुआ, उसकी समूची चेतना को झेलता हुआ गतिशील सत्ता है, अपनी जगह स्थित नदी का द्वीप नहीं है''[37] प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था में मनुष्य का अपनें व्यक्ति रूप में कोई महत्व नहीं था। सामाजिक विधान और नियम ही मानव का भविष्य तय करते थे। किन्तु आधुनिक जीवन के वेग में पाश्चात्य प्रभाव, औद्योगिक, वैज्ञानिक

अनुसधान और व्यापक शिक्षा के प्रसार ने व्यक्ति के सामाजिक बन्धन शिथिल किए है। नव चिन्तन ने व्यक्ति -स्वातत्र्य की भावना को जन्म दिया है। वैयक्तिकता के मूल में स्थित 'अहम' भावना ने आज के व्यक्ति को घोर अहवादी बना दिया। व्यक्ति के इस अहं नें पुरातन परम्पराओ, सामाजिक मान्यताओ रुढ़ियो और नैतिक बन्धनो को झकझोर डाला और वे सर्वत्र विघटित होते हुए दिखाई दे रहे है। जैसा कि बच्चन सिह लिखते है-''आधुनिकतावाद, नगरीकरण की तेज प्रकिया, पूजीवादी लोकतन्त्र के प्रति मोह भग और अस्तित्ववादी दर्शन के फलस्वरुप प्रादुर्भूत हुआ। पारपरिक सामाजिक मूल्य निः शेष हो गए।''[38]

विश्वनाथ त्रिपाठी सामाजिकता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- 'सम्बन्धों का कुल योग ही सामाजिकता है।'[39] आधुनिक सभ्यता ने पारस्परिक सम्बन्धों की चूलें हिला दीं और इस प्रभाव से सबसे पहले विघटित हुआ स्वयं व्यक्ति। बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में वह सब कुछ को शका और आशका की दृष्टि से देखने लगा- ''जो कुर्सी पर बैठा है और जो फुटपाथ पर खड़ा है, दोनों अपने को फालतू और अजनबी महसूस करते है।''[40] नयी कविता में यह बोध इस रुप मे उभर कर सामनें आया है-

''अजनबी देश है यह, जी यहाँ घबराता है,

कोई आता है यहॉ पर न कोई जाता है।

या

एक तस्वीर सा यह सारा का सारा आलम

इस तरह देखता है गोया पहचाना नहीं।''[41]

('काठ की घटियाँ' - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और वैयक्तिक विघटनः ग्राम नगर संदर्भ

स्वतन्त्रता परवर्ती गाँवों के नगरीय सम्पर्क के चलते ग्रामीण व्यक्ति भी अपनी वैयक्तिक स्थिति समझनें लगा है। अजनबियत और अकेलापन क्रमशः उसकी भी नियति बनते जा रहे हैं।

सामाजिक सदर्भों से कटाव और व्यक्ति के अपने में भटकाव के पीछे आधुनिकताजन्य भौतिक जीवन दृष्टि काम करती है। इन द्वन्द्वशील स्थितियो से गॉव की इयत्ता बच नही सकी है। गॉव का व्यक्ति भी प्रत्येक पग पर नये-नये प्रश्नो एव समस्याओ की यातना भोगता हुआ टूट रहा है। उसकी इस टूटन के पीछे परोक्ष -अपरोक्ष रूप से नगर ही काम कर रहा है। स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यासो मे इन सभी बिसगतियो को स्वर मिला है। 'सती मैया का चौरा' {भैरव प्रसाद गुप्त} का मन्ने शहर मे शिक्षा प्राप्त करने के दौरान अपने गॉव के निमित्त एक आदर्श स्वप्न देखता है किन्तु गॉव लौटकर आदर्शवादी एव प्रगतिशील विचारों वाला होकर भी यथार्थ जगत मे वह हार जाता है। आदर्श और यथार्थ की यही टूटन मन्ने के इस आत्म-वक्तव्य में ध्वनित होती है- ''तू क्यो अपने को इस जाल मे फॅसाकर अपने हाथ-पॉव तोड़वा रहा है, तू क्यों यहॉ अपनी जिन्दगी सड़ा रहा है, अपना वक्त खराब कर रहा है, अपनी योग्यता का दुरूपयोग कर रहा है, अपना भविष्य बिगाड़ रहा है?''[42]

नागार्जुन के उपन्यास 'दुःखमोचन' का दुःखमोचन भी इसी तरह की टूटन का शिकार है। उसके सुधार कार्यों की सराहना को कौन कहे प्रत्युत गॉव में उसकी आलोचना होती है। तभी तो वह कहता है कि गॉव वालों का यही रवैया रहा तो वह फिर कलकत्ता चला जाएगा।

गाँव मे घुस आये शहरी प्रभाव से 'अलग -अलग वैतरणी' {शिव प्रसाद सिह} का विपिन भी अपनी आन्तरिकता में टूटकर बिखरता हुआ दृष्टिगत होता है और 'सोना माटी' {विवेकी रॉय} के महुवारी गाँव का रामरूप का व्यक्तित्व भी ऐसी ही चपेट में आकर दरकता हुआ दिखई देता है। कुल मिलाकर परिणाम यह होता है कि विखण्डितमना ये सभी ग्रामीण पात्र गाँव के प्रति अरूचि से भर उठते हैं और गॉव को त्याग देनें के फिराक में पड़े हुए दिखाई देते हैं।

ग्राम-जीवन के प्रति अरूचि

गाँव में वैयक्तिक जीवन के विघटन के परिणाम-स्वरूप ग्रामीणों में अपनें गाँव के प्रति अरूचि, उदासीनता अथवा हीनता का भाव और नगरों के प्रति आकर्षण का भाव पैदा हुआ है। गाँव और नगर के बीच का अन्तराल भारतीय संदर्भों में अत्यन्त प्राचीन है और लोक परम्परा में

नगरो की अपेक्षा ग्राम-जीवन को सदा से आदर मिलता आया है। 'आपस्तब धर्मसूत्र ' के अनुसार- 'धूल भरे शहरों में जो रहता है वह मोक्ष नही पा सकता'[43] 'बौध्यायन धर्म सूत्र' भी गॉव के मुकाबले शहर की हीनता का बखान करते हुए बताता है कि - 'नगर मे भी पवित्र मत्रों का उच्चारण नही करना चाहिए'[44] किन्तु विश्वव्यापी औद्योगिक नीति के चलते नगरों का जो विस्तार हुआ उसने उक्त प्राचीन धारणा को परितर्तित कर दिया है। गॉवों की छीजन का आरम्भ देश मे राजनीतिक चेतना के उदय के साथ हुआ। राजनीतिक चेतना मे विशुद्ध नगरस्भाव है और यह धार्मिक चेतना में संगठित ग्राम-भाव के विरोध मे पड़ती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात कुछ वर्षो तक तो ग्रामॉचल की बात पूर्वप्रभाव के कारण उठती रही किन्तु बाद में जैसे-जैसे देश औद्योगिकता की ओर अग्रसर होता गया और पचवर्शीय योजनाओं के रूप मे उसके विकास चरण आगे बढ़ते गए वैसे-वैसे विकास के साथ आन्तरिक ग्राम-भाव विघटित होता गया। विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार दुनिया में कुछ भी नशट नही होता हॅा उसका रूप बदल जाता है। ग्राम-भाव विघटित हुआ तो इस विघटन के साथ ही वह नया भाव पैदा हुआ जिसे नगर -प्रेम कहते हैं। अगर इसका समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जाये तो मनोरंजक तथ्य सामनें आयेंगे। गाँव के आदमी को विघटित कर रही है गॉव मे धुसपैठ कर चुकी नगरीयता और वह भाग भी रहा है नगर की ओर! यह तो वही मसल हो गई- 'वहीं से शुरु वहीं से खतम।' ग्राम-मानस में उगी यह नई नगराकाक्षा आज गॉव के सामाजिक जीवन में एक नए मूल्य की भाँति प्रतिष्ठित होती चली जा रही है। हिन्दी उपन्यास ने इस परिवर्तित मानसिकता का चित्रण पूरी प्रामाणिकता से किया है।

'गोदान {प्रेमचन्द} का गोबर परिस्थितिवश एक बार लखनऊ पहुँचता है तो फिर वहीं का होकर रह जाता है। 'आधा गाँव ' {राही मासूम रजा} के सैयदजादे गंगोली गाँव को छोड़कर भाग रहे है। समीपवर्ती नगर गाजीपुर उन्हें लगातार खींच रहा है। रेणु के 'परानपुर' {परती: परिकथा} गाँव के निवासियों का ध्यान भी लगातार पटना में लगा हुआ दिखाई देता है। विपिन 'करैता' अलग-अलग वैतरणी', {शिव प्रसाद सिंह} को अलविदा कह गाजीपुर में बसेरा बनाता है। 'कसप' {पंकज विष्ट} का देवीदत्त तो 'बगड़गाँ' से अमेरिका तक की यात्रा करता है और वहीं का नागरिक होकर 'डैव' बन जाता है। इन गाँव को छोड़कर नगरवासी हो जानें वालों की फेहरिस्त बड़ी लम्बी हैं कुछ के नाम इस प्रकार संक्षेप में गिनाए जा सकते हैं- हरीश {'उस चिड़िया का नाम' पंकज विष्ट- पहाड़ी गाँव से बंबई}, सत्यनारायण उर्फ सत्ते {'पहला पड़ाव' -श्री लाल शुक्ल, गाँव से

लखनऊ}, देवेन और नीलाम्बर {'लेकिन दरवाजा'- पकज विष्ट- पहाड़ी गॉव से दिल्ली}, ज्वाला सिह {'अग्नि बीज'-मार्कण्डेय- गाँव से लखनऊ}, 'दामोदर शर्मा, {'बीस बरस' -रामदरश मिश्र- गाँव से दिल्ली} और अब्बा मियॉ की दोनो सताने {'सात आसमान'-असगर वजाहत-कस्बेनुमा गॉव फतेहपुर से कमशः दिल्ली और बबई} इत्यादि।

ग्रामीणों के इस नगर पलायन ने गॉव की परंपरागत पारिवारिक सस्था को विघटित किया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों मे यह विघटन अपनें बहुरंगी रूप में चित्रित हुआ है।

पारिवारिक विघटन और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास

परिवार एक आधार भूत और सर्वव्यापी सस्था है। भारतीय समाज में पारिवारिक सगठन का अनिवार्य अस्तित्व रहा है। भारतीय परम्परागत परिवार की विशेषताएँ रेखाकित करते हूए प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय लिखते है- ''परम्परागत परिवार की कल्पना धर्म संस्था के रूप में थी। काम-नियमन के रूप में विवाह, पितृ ऋण से मोक्ष के लिए सतान का उत्पादन, पालन और शिक्षण......... .परम्परागत समाज में परिवार एक वृहत्तर साजात्य मूलक समुदाय का अंग रहा है जिसके गोत्र, जन, जाति, विरादरी आदि सज्ञाओं के विविध प्रकार मिलते है।''[45] परन्तु आधुनिक युग में समष्टि से व्यष्टि की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति नें संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकल परिवार को अधिक महत्व दिया है। वर्तमान अर्थ व्यवस्था ने भी इस संस्था को एक नवीन आयाम दिया है। आज मानवीय सम्बन्धों में सर्वत्र शैथिल्य छाया हुआ दिखाई दे रहा है । जब मानव सम्बन्धों में ही स्थायित्व नहीं रहा तो परम्परागत संयुक्त परिवार का ढाँचा भला किसके सहारे टिक पाता ! ''वैयक्तिक स्वतन्त्रता, प्रौद्योगिकी, सम्बन्धों की जटिलता से आज का पर्यावरण इतना बदल चुका है कि परम्परागत परिवार न केवल विघटित हो रहे हैं बल्कि नई सामाजिक समस्याओं को भी जन्म दे रहे हैं। आज सामाजिक परिवेश में मूल्यों की टकराहट हो रही है, व्यक्तिनिष्ठा इतनी बढ़ गई है कि सहिष्णुता, परहित -भावना के लिए स्थान सीमित हो गया है।''[46] भारतीय पारिवारिक विघटन पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध समाज शास्त्री प्रो.एम.एन. श्रीनिवास भी लिखते हैं- ''जिन प्रक्रियाओं ने जाति और ग्रामीण समुदाय को प्रभावित किया है उन्होनें परिवार व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला

है। यह सभी स्तरो पर और समाज के प्रत्येक वर्ग में हुआ है। पर पश्चिमी अभिजन मे यानी बड़े -बडे कस्बों और शहरो मे रहने वाली उच्च जातियों मे विशेष रूप से हुआ है।''[47] 'नगर और महानगर का जीवन बहुत तेज और सघर्षपूर्ण है। यहॉ गति ही जीवन है रूकने का अर्थ पिछड़ापन है ऐसी स्थिति मे यदि आत्मीयता न हो तो यह बहुत आश्चर्य की बात नही । नगर, महानगर का बोध अपरिचय, अकेलापन खुदगर्जी और अनात्मीयता के रेशों से बुना जाता है। निकट के सम्बन्धो मे भी तनाव और टूटन की स्थितियॉ यहॉ के व्यस्त जीवन मे प्रायः बनती है। भाग-दौड़, उखाड़-पछाड़ मे उलझा, झॅुझलाया नागरिक अनेक मुखौटे पहननें के लिए विवश होता है। कृत्रिमता और यात्रिकता नगर-महानगर के जीवन के बोध को कठोर और निर्मम बनाते हैं। असल आदमी इनके पीछे छिप जाता है ।'[48]

व्यक्ति का निर्माण पारिस्थितिक वातावरण से होता है। गॉंव का आदमी जब शहर के ऐसे माहौल मे रहता है तो वह भी वैसा ही बन जाता है और उसके नाते-रिश्ते दरारों से भर जाते हैं। पुत्र के लिए माता-पिता बेमानी हो जाते हैं, पति-पत्नी के मध्य की रागात्मकता सूखकर पथरा जाती हे और भाई-भाई के बीच के बन्धुत्व को दरकिनार कर स्वार्थ तत्व बैठ जाते हैं।

माता-पिता और संतानः विघटन

बीसवीं सदी के चौथे दशक में ही 'गोदान' {मुंशी प्रेमचन्द} का गोबर, जो गॉंव का एक निहायत सीधा-सादा युवक है, जब एक साल लखनऊ के शहरी वातावरण में रह लेता है तो उसके लिए माता-पिता तथा बहनें बोझ सदृश हो जाते हैं। उसके परिवार का दायरा पश्चिम के आणविक परिवार की तरह सिमट कर झुनिया तथा बच्चें तक रह जाता है। कितनी बेशर्म बेहरमी के साथ वह धनिया से कहता है- ''पालने में तुम्हारा क्या लगा? जब तक बच्चा था दूध पिला दिया। जो सबनें खाया वही मैनें खाया। मेरे लिए दूध नहीं आता था, मक्खन नहीं बँधा था। तुम भी चाहती हो और दादा भी चाहते हैं कि मै सारा कर्जा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का व्याह करूँ। जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरनें के लिए है। मेरे भी तो बाल -बच्चे हैं।''[49] यह वही गोबर है 'जिसनें कभी माँ की बात का जवाब नहीं दिया, कभी किसी बात के लिए जिद नहीं की। जो

रूखा सूखा मिल गया वही खा लेता था, शील-स्नेह का पुतला था।'[50] लेकिन यह तब की बात थी जब शहर की हवा इसे नहीं लगी थी। आज तो वह अपनी पत्नी झुनिया को साथ लखनऊ लेकर चला जायेगा। 'इस धर का पानी भी उसके लिए हराम है। माता होकर जब उसे ऐसी-ऐसी बातें कहे, तो अब वह उसका मुँह भी नहीं देखेगा।'[51] लखनऊ के लिए गमन्योघत गोबर से जब होरी आर्द्र कंठ से कहता है- ''बेटा तुमसे कुछ कहनें का मुँह तो नहीं है, लेकिन कलेजा नही मानता। क्या जरा जाकर अपनी अभागिन माता के पॉव छू लोगे, तो कुछ बुरा होगा? जिस माता की कोख से जन्म लिया और जिसका रक्त पीकर पले हो, उसके साथ इतना भी नहीं कर सकते ।''[52] होरी की यह करूण याचना नगर-प्रभाव से पत्थर हो चुके गोबर को नहीं पिघला सकी वह साफ कह देता है- ''मैं उसे अपनी माता नही समझता।''[53] होरी इस नगर-प्रभाव से अछूता जरूर है लेकिन अन्जान नहीं। वह समझता है कि - ''शहर का दाना-पानी लगने से लौंडे की ऑखे बदल गई।''[54] गोबर मॉ-बाप से मानो सारा नाता ही तोड़ देता है। यहॉ बाप के हृदय की 'कलपन' होरी के इस कथन से व्यक्त होती है- ''बेटा ही लायक होता तो फिर काहे का रोना था। चिट्ठी पत्तर तक भेजता नही, रुपए क्या भेजेगा? यह दूसरा साल है, एक चिट्ठी नही।''[55]

'गोदान' का गोबर धनिया को माता माननें से इंकार कर देता है तो हरीश {'उस चिड़िया का नाम', पंकज विष्ट} अपनें पिता के बारे में ऐसे ही खयाल का इजहार करता है- ''जैसे ही हरीश ने 'स्टार्टर' दबाया, साथ में यह भी कह दिया कि मैं इस बाप से मिलनें फिर कभी नहीं आऊँगा।''[56] वैसे तो पहाड़ी बड़े सरलमना मानें जाते हैं परन्तु हरीश अब पहाड़ी नहीं रहा। कुमाऊँ के अपने छोटे से पहाड़ी गाँव से निकलकर अब वह बंबई में रहता है, तभी तो पिता द्वारा बड़े चाव से, उम्र भर की पूँजी लगा कर बनवाए गए मकान के बारे में अपनीं बहन रमा से कहता है- ''ये साला मकान भ्रष्ट मानसिकता का प्रतीक है। एन एन्चांचल आफ इन्-फीरियरिटी कांपलेक्स एंड रिवाइवलिस्ट यूर्जिंग्स। सीखने और नकल करने में अंतर होता है। नकलची कभी बड़े नही होते ।''[57]

• बाप के प्रति ऐसा ही असम्मान 'सोना माटी' {विवेकी रॉय} के महिया गाँव का भुवनेश्वर उर्फ मगनचोला भी दिखाता है। हरीश के शब्दों में तो एक हद तक शालीनता है, इस मगनचोला

ने तो लिहाज के सारे बन्ध तोड़ दिए- ''इस देहात का सबसे बड़ा गुडा मेरा बाप हनुमान प्रसाद है। उसके साथ सीधी लड़ाई छेड़नी पड़ेगी।.......ये जनाब सिक्सटीन की लौडिया से मुहब्बत करते है, उसके भगने पर फिल्मी हीरो की भॉति पीछे पड़े है, स्मलिग करते है, मकान को अवैध सन्तानो का मार्केट बनाए है, फसल चोर और बैलचोर क्रिमिनल्स के गैंगमैन बने है......।''[58] आक्षेप असत्य नहीं है परन्तु सरेगॉव बाप की पगड़ी उछालना तो किसी कोण से उचित नहीं है। हमारे यहाँ तो भीष्म का आदर्श है जिन्होने पिता की युवा पत्नी की कामना-हित अपना जीवन ही दॉव पर लगा दिया। और फिर ऐसा भी नहीं कि इन भुवनेश्वर महोदय को इलाहाबाद प्रवास ने नैतिक आग्रही बना दिया हो। यह भी वही सब करता है, जो-पिता हनुमान प्रसाद। हॉ नगर नें इसे बाप का असम्मान करना जरूर सिखा दिया है।

'पहला पड़ाव' (श्री लाल शुक्ल) का सत्ते उपर्युक्त मगन चोला की भॉति बाप को सरेआम बेइज्जत तो नहीं करता परन्तु गाँव छोड़कर लखनऊ मे रह रहे सत्ते के लिए माँ-बाप के प्रति कोई हमदर्दी शेष नहीं रह जाती। उसके चचेरे भाई जब उसके पिता को बुरी तरह पीट देते हैं तब भी खबर सुनकर वह गॉव नही आता। एक दिन अचानक गाँव आनें पर उसके पिता की पीड़ा इस प्रकार शब्दो में ढलकर सामनें आती है- ''..... इतने दिन वहाँ शहर में क्या उखाड़ रहे थे। यहाँ दुश्मनों ने पुवाल जैसे पीटकर रख दिया, तुम नालायक मुँह दिखाने तक नही आये। हमारे बाप से कोई ऐसा सलूक करता तो उसकी हड्डी -पसली का अब तक पता न चलता।''[59]

शहर में रहते -रहते ग्राम -मन इस कदर सुविधा भोगी, सुखाग्रही एवं स्वार्थी हो जाता है कि गॉव में पड़े माँ-बाप को साथ रखना तो चाहता ही नहीं उनके लाख बुलानें पर गाँव भी नहीं जाता क्योकि गाँव की तंग दुनिया में उसका दम घुटता है! 'सात आसमान' (असगर वजाहत) के अब्बा अपने दोनों पुत्रों को लिए फतेहपुर, जो अब गाँव नहीं अच्छा खासा शहर हो गया है, में सारी सुख-सुविधाएँ जुटाते हैं लेकिन वे दिल्ली और बंबई की चकाचौंध भरी दुनिया छोड़कर नहीं आते। अब्बा का बड़ा पुत्र और उपन्यास का नैरेटर पात्र अब्बा के बुलावे और अपनी मजबूरी की चर्चा करते हुए बताता है- ''अब्बा ने पहली बार हम दोनों भाइयों के सामनें बहुत आसानी से ये प्रस्ताव रखा कि अब हम दोनों में से कोई एक यहाँ आकर रहे क्यों कि अब वे बिल्कुल अकेले हो गए हैं। उन्हें

एक दिल का दौरा भी पड़ चुका है और अकेले उनसे काम नहीं सभलता। अम्मा की तबीयत भी बहुत अच्छी नहीं रहती औसर उनके पैर में तकलीफ रहने लगी है। उनहोनें ये भी कहा कि उन्हे फिक्र हो गई है कि उनके बाद जमीन-जायजाद और मकान का क्या होगा? हम दोनों इस सवाल का सामना करने के लिए तैयार नही थें। हमें ये उम्मीद भी नही थी कि अब्बा हमारे सामनें ऐसा प्रस्ताव रखेगे, क्योकि पढ़ने -लिखने के बाद नौकरी करते हुए हम दोनों को अच्छा-खासा समय हो चुका था और हम दोनों का भी परिवार था।''[60] ठीक ही तो है, अब ये अपना परिवार देखें कि माँ-बाप को। अपने बच्चों और पत्नी की फिक्र करें कि जन्म देने वालों की ! और साथ में सोनें पे सुहागा नगराकर्षण तो है ही।

इस जहरीले नगर ने महज माता-पिता-सतान को ही अलग नहीं किया और भी पारिवारिक रिश्तो के बन्ध तोड़े हैं।

पति-पत्नी सम्बन्ध-तनाव

हिन्दूओं का समाजदर्शन यह रहा है कि मनुष्य के पति-पत्नी के रूप में जोड़े का नियमन ऊपर कहीं बैठा परमात्मा करता है। हिन्दू -विधि- विवाह के सात फेरे और सात वचन पति -पत्नी के सात जन्मों तक पारस्परिक बन्धन के प्रतीक है।

नगर नें पति-पत्नी के रागात्मक सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है। विशुद्ध नगरीय दंपति तो अहं के चलते या अन्य आर्थिक,सामाजिक कारणों से अलगाव-टकराव बोध में जीनें को अभिशप्त हैं ही, अपनी आन्तरिकता में अपेक्षाकृत शांत और पारम्परिकता में जीने वाला गाँव भी इस प्रभाव से अछूता नही बचा।

'गोदान' की झुनिया गाँव से शहर-ए-लखनऊ की रंगीन दुनिया की झाँकी आँखों में सजाकर गोबर के साथ गाँव से शहर आती है परन्तु कुछ दिन बाद ही यथार्थ की ठोकरें रंगीन चित्र

को तोड़ देती है- ''थोड़े ही दिनों में झुनिया इस जीवन से ऊब गई। वह चाहती थी, कहीं एकान्त में जाकर बैठे, खूब निश्चिन्त होकर लेटे-सोए, मगर वह एकान्त कहीं न मिलता। उसे अब गोबर पर गुस्सा आता। उसने शहर के जीवन का कितना मोहक चित्र खींचा था, और यहाँ इस काल-कोठरी के सिवा और कुछ नहीं।''[61] कोढ़ में खाज तो तब हो जाती है जब टूटन से भरे गोबर को शराब का चसका पड़ जाता है- ''घर आता तो नशे मे चूर, और पहर रात गये। और आकर कोई न कोई बहाना खोजकर झुनियाँ को गालियाँ देता, घर से निकालने लगता और कभी-कभी पीट भी देता।''[62] अपने परिणाम को पहुँचकर स्थिति यह बनती है कि झुनिया-''गोबर को अपना दुश्मन समझने लगी। न उसके खाने -पीने की परवाह करती, न अपने खाने-पीनें की। जब गोबर उसे मारता, तो उसे ऐसा कोध आता कि गोबर का गला छुरे से रेत डाले।''[63] क्या गॉव मे रहने वाली कोई स्त्री घरेलू झगड़ो के चलते ही पति का गला रेतनें की कल्पना कर सकती है ? कदाचित नही। धनिया {'गोदान} ही इसका प्रमाण है। होरी द्वारा बुरी तरह पीटे जानें के बाद भी वह उससे कहती है- ''तुम्हे इतना गुस्सा कैसे आ गया? मुझे तो तुम्हारे ऊपर कितना ही गुस्सा आए, मगर हाथ न उठाऊँगी।''[64] धनिया और झुनिया के दृष्टान्तों से गॉव और नगर के अन्तर के साथ नगर का प्रभाव साफ दृष्टिगोचर हो जाता है।

तात्पर्य यह नही है कि पत्नी, पति के तमाम अत्याचारों-अनाचारों को चुपचाप सहती जाये तभी वह प्रशसा की पात्र है। परन्तु 'गोदान' के ही प्रोफेसर मेहता से सहमत जरूर हुआ जा सकता है कि वह त्याग और वफा की मूर्ति है। सहनशीलता उसका अपना गुण है और इस परिवार रूपी सस्था को चलाने के लिए उसे कुछ त्याग करना ही पड़ेगा।''[65]

'अलग-अलग वैतरणी' के नगेसर का मामला अलग किस्म का है। वह पुलिस में सिपाही है और अपनी नौकरी के सिलसिले में जौनपुर शहर में रहता है वहीं उसे 'हाट' किताबों का चस्का लग जाता है। अश्लील तस्वीरों वाली यह किताब वह जब छुट्टी में गाँव आता है तो साथ ही लेकर आता है और पत्नी सुभागी को बड़े गर्व से दिखाता है। सुभागी का ग्रामीण संस्कारी मन इसे पसन्द नहीं करता और तब नगेसर सिंह उसे पीट डालता है। सुभागी पिटकर रोते हुए कहती है- ''काट डाल कसाई।' सुभागी सिसक-सिसक कर रोनें लगी- 'सारी दुनिया कहती है। तेरे

लच्छन से लगता है। तू अइसी किताब पढ़ता है। अइसी तस्वीर देखता है। ईका कौनों भले मानुस का लच्छन है।''[66] शहरी हो चुके जगेसर को लगता है कि -''सारा गॉव साला दुश्मन हो गया है। ले-देकर एक सुभागी थी जो अपनी थी । ई भी साली बहक गई।''[67]

गाँव से जब कोई युवा व्यक्ति शहर आता है तो शहर की तड़क-भड़क वाली फैशन परस्त नारियों के इन्द्रजाल में खोंकर भी रह जाता है। गॉव में बैठी गोबर सनें हाथो वाली सरला पत्नी उसे इन शहर वालियो के मुकाबले बिल्कुल बेहूदा लगने लगती है और नारी की सिनेमाई छवि आँखो में बसाकर बहुधा वह ग्राम्या पत्नी को छोड़ ही देता है।

'आदिम राग' {राम दरश मिश्र} के प्रोफेसर शील तथा 'झूला नट' {मैत्रेयी पुष्पा} के सुमेर नाथ के साथ कुछ ऐसा ही वाकया पेश आता है।

प्रोफेसर शील महाविद्यालय में अध्यापन के सिलसिले में गाँव से आकर शहर में रहते हैं। कक्षा में युवा छात्राएँ भी होती है। शील को लगता है कि - ''अबोध अवस्था में उसके साथ शादी के नाम पर जो यह पत्थर का खंड बॉध दिया गया, उसका जिम्मेदार वह अपनें को कैसे मानें?''[68] पत्नी के मामले में गहरे नगर-बोध से भरा शील देहात में अपनी पत्नी को छोड़कर, शहर मे अकेला जी रहा है। पत्नी का ख्याल कुछ इस रूप में उसे आता है- ''बीबी-- एक काली मोटी भैंस-सी....... निपट जाहिल।''[69]

पति-पत्नी सम्बन्धों का ठीक ऐसा ही वाकया मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'झूला नट' {1999} में पेश आता है। गाँव का रहनें वाला सुमेरनाथ पुलिस में सिपाही होकर नगर-बासी हो जाता हे और गाँव में युवा पत्नी शीलों का परित्याग कर किसी शहरवाली से विवाह रचा लेता है। शीलों का कुसूर सिर्फ इतना है कि उसकी रंगत साँवली है। शीलों के इस परित्यक्ता रूप से आहत उसके देवर का भाव चित्रित करते हुए उपन्यास बताता है- ''बाल किशन के चलते शीलो भाभी अशोक वाटिका

मे बैठी सीता जी। सावला रग पीला पड़ने लगा। मिलन की आशा मे आँखें कुँभलानें लगीं। प्रतीक्षा कर रही है बनबासी राम की तरह शहरवासी सुमेर नाथ की।''[70]

विघटन का कारण सिर्फ पति ही नहीं बनता। शहर पत्नी की मानसिकता मे भी परिवर्तन कर, सम्बन्ध-तनाव के जन्म का कारण बनता है। 'चाक' {मैत्रेयी पुष्पा} की नायिका सारग शहर में शिक्षा प्राप्त कर गाँव मे व्याही जाती है। पति रजीत तो एक हद तक 'लिबरल' दृष्टिकोण अपनाता है किन्तु नायिका यौन सम्बन्धों के आधुनिक बोध-भाव से ग्रसित है। उसे लगता हे कि उसका शरीर उसकी अपनी चीज है और वह रजीत की लाख वर्जनाओ के बावजूद मास्टर श्रीकात से रागात्मक सम्बन्ध बहाल रखती है। और दस वर्षीय पुत्र की मॉ सारग अन्ततः उसकी अंकशायिनी बनकर ही दम लेती है।''[71]

वर्तमान महिला कथाकारों में अधिकाश के यहॉ इस तरह का ज्वार सा आया हुआ दिखाई देता है, जहॉ नारी अपनी पहचान देह के स्तर पर बनानें को आमादा है और पति-पत्नी के परम्परागत विश्वासमूलक सम्बन्ध तेजी से दरकते चले जा रहे हैं।

सहोदर सम्बन्ध-तनाव

भारतीय परंपरा खासकर ग्रामीण परम्परा में भाई भुजा के रूप में परिभाषित रहा है। भाई-भाई के लिए जान देने वाले अनेक उदाहरण पौराणिक इतिहास से लेकर आधुनिक इतिहास तक में भरे पड़े है। समाट अशोक या औरंगजेब जेसे कुछ नाम अपवाद में ही आते हैं। नगर में कमाई के अनुपात में अधिक खर्च तथा जगह की तंगी आदि के चलते जब व्यक्ति के परिवार में मॉ-बाप के लिए स्थान नहीं रहा तो फिर भाई किस श्रेणी में आता। गाँव भी शहर के इस प्रभाव से बच नहीं पाये।

'गोदान' मे होरी की गाय-सुन्दरिया को उसी का सगा भाई हीरा जहर देकर मार डालता है क्योकि उसे यह शक है कि होरी ने छोटे भाइयो का हिस्सा मारकर यह गाय खरीदी है। परन्तु होरी भरतीय ग्राम-भाई का सच्चा प्रतिनिधि है और वह अपनी खेती बिगाड़ कर भी, घर छोड़कर भागे हीरा की खेती की देखभाल करता है। परन्तु आज ऐसे होरी किसी गॉव मे मुश्किल से ही ढूँढ़े मिलेंगे। आज आर्थिक कारणों से भाई ही भाई का गला काटने को तैयार है। इधर गॉवो मे यह बात ग्रामीणो की जुबान से खूब सुननें को मिल रही है कि -'सबसे बड़ा दुश्मन भाई।'

हिन्दी उपन्यासों में इस ग्राम -भ्रातृ -भाव-विघटन के चित्र खूब चटक रग के साथ उभरे है। शहर इसमे किस तरह प्रभावशली भूमिका निभाता है यह देखनें के लिए 'पहला पड़ाव' {श्री लाल शुक्ल} और 'झूला नट' {मैत्रेयी पुष्पा} के दो भाइयो को देखा जा सकता है –

सत्तनारायण उर्फ सत्ते 'पहला पड़ाव' {श्री लाल शुक्ल} के बड़े भाई शहर मे रहकर नौकरी करते है। स्वयं वह भी लखनऊ मे रहकर एम0 ए0 पास होनें के बावजूद ठेकेदारों की मुंसीगीरी करता है। उसे चार हजार रुपयों की जरूरत पड़ती है। मॉंगनें पर बड़ा भाई पहले तो सिरे से इंकार कर देता है कि उसके पास 'कानी कौड़ी' भी नहीं है। बाद में कुछ सोचकर रुपया तो दे देता है किन्तु साथ में एक 'प्रोनोट' भी यह कहते हुए बढ़ा देता है- ''ब्याज की दर जो चाहों सो लिख दो।''[72] सत्ते के यह कहनें पर कि -''तुम बड़े घटिया आदमी हो भैया, अपनें सगे भाई से भी प्रोनोट लिखा रहे हो।''[73] बड़ा भाई बिना किसी 'झेप', 'शर्म', 'घृणा' या 'नाराजगी' से उसे समझाते हुए कहता है- ''जमाना बड़ा खराब लगा है। कोई किसी को एक कौड़ी नहीं देता । तुमनें एक बार कहा और तुम्हारी भौजाई नें जो कुछ पास में था, निकालकर तुम्हारे आगे धर दिया। इसका अहसान तो मानते नहीं हो, ऊपर से मुझे थटिया आदमी कह रहे हो।''[74]

नगरीय अर्थ लिप्सा में डूबा हुआ कुछ ऐसा ही भ्रातृ -भाव बालकिशन और सुमेर नाथ {'झूला नट', मैत्रेयी पुष्पा} में दिखाई देता है। बड़ा भाई सुमेर नाथ को नगर में नौकरी करते हुए यह लगता है कि खेती की सारी आमदनी तो गॉंव में रह रहा अनुज बालकिशन उठा रहा है जबकि पैतृक जमीन पर वह भी आधे का बराबर हिस्सेदार है, तो वह अपनें हिस्से की जमीन बेचनें की

तैयारी करता है। इस सदर्भ में लेखिका सम्बन्धो की विडम्बनात्मक स्थिति का पूरे कथा-कौशल के साथ चित्रण करने में पूर्णतया सफल रही है।''[75]

गॉव के टूटते -दरकते सम्बन्धों को देख कर डा. प्रशान्त ('मैला ऑचल') सोचता है कि 'इस दुनिया मे माँ-बेटा, पिता पुत्र, भाई-बहन और स्वामी-स्त्री जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है।' मानवीय सम्बन्धों पर यात्रिकता की छाया पर विचार करते हुए डा0 सोचता है- ''इसके बाद!.... 'टेस्ट ट्यूब बेबी' किसे मॉ कहेगा? तब शायद मॉ एक हास्यास्पद शब्द बनकर रह जायेगा।...... जानते हो, पहले मॉ हुआ करती थी?.........एक अर्द्ध नग्न से भी कुछ आगे। लड़की, 'टेली-काफ' के द्वारा अमेरिकन पेस्ट्री का घर बैठे स्वाद लेते हुए मुड़कर कहेगी- प्री टेस्ट ट्यूब एज ?''[76] करैता ('अलग-अलग वैतरणी') के माध्यम से शिवप्रसाद सिंह अपनी कथा-यात्रा की अनुभूति व्यक्त करते है-''खून के रिश्ते भी झूठे होते जा रहे है और जब खून के रिश्ते ही बेमानी होत जा रहे है तो परम्परागत समानान्तर रक्त सम्बन्धों की भला क्या विसात !

'चाक' (मैत्रेयी पुष्पा) का हरपरसाद बबई में रहकर मानवीय सम्बन्धों को भुला कर कितना अमानवीय हो उठता है इसका पता उस वक्त चलता है जब बहन की शादी में आड़े आ रहे चचेरी बहन के प्रेम-प्रसंग के चलते वह चाची, चचेरी बहन और उसके प्रेमी तीनों को निद्रावस्था में आग लगाकर फूँक देता है।'[77]

जब रक्त सम्बन्धों की यह दशा है तो अन्य रिश्ते जो भवना पर आधारित होते हैं, उनकी परिणति सहज कल्पनीय है।

प्रणय-सम्बन्ध-विघटन

प्रेम जीवन की कोमलतम् अनुभूतियों में से एक है। कविवर पन्त कविता के जन्म के पीछे प्रेम की पीड़ा को ही कारण-रूप में स्वीकार करते हैं।[78] यह बात परम्परा से प्रसिद्ध है कि मानवीय

प्रेम जनित शोक से ही 'श्लोक' का जन्म हुआ है। कदाचित् प्रेम ही मानव की आदि और चिरन्तन भावना है। माँ का निश्छल वात्सल्य, बहन का भोला स्नेह, प्रेमिका का राग भरा सम्मोहन, भाई-भाई के बीच का बन्धुत्व, पिता-पुत्र. का लगाव, सभी कुछ प्रेम के इन ढाई अक्षरो की तीन मात्राओ में समा जाता है। यह शब्द लघुकाय होनें के बावजूद अपनी व्यापकता मे विशालतम् है। कवि तिरुवल्लुवर के अनुसार-'प्रेम जीवन का प्राण है। जिसमें प्रेम नही वह सिर्फ मास से घिरी हुई हड्डियों का ढ़ेर है।' अपने कबीर साहब भी पडित उसी को मानते है जिसने प्रेम के इन 'ढाई आखरो' का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो ।[79] यद्यपि कबीर के यहाँ प्रेम, भक्ति का पर्याय बनकर आता है परन्तु ''रागानुगा भक्ति और सासारिक प्रेम में प्रकार का कोई अन्तर नहीं होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है। जड़ोन्मुख होकर जो भावना प्रेम की सज्ञा पाती है वही चिदोन्मुख होकर भक्ति कही जाती है।''[80] डा0 शिव प्रसाद सिह के ही शब्दो मे कहे तो ''प्रेम मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।''[81] बाण {बाणभट्ट की आत्मकथा} 'इस नरलोक से लेकर किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय की व्याप्ति मानता है।'[82]

इतना प्रभावशाली एवं व्यापक होनें पर भी प्रेम के समक्ष आज अस्तित्व का संकर खड़ा हो गया है। 'फ्रायडिज्म ' से लेकर 'उत्तरआधुनिकतावाद' जैसे बहुआयामी पाटों के बीच पिस कर प्रेम का कचूमर निकल गया। नागर जन- Love is only glorified name of 'Sex' अथवा 'Love is misunderstanding between two fools' जैसे जुमलों के द्वारा प्रेम को परिभाषित करने लगे हैं। नगरों के इस भौतिकवादी, भोगवादी दृष्टिकोण से ग्राम-जन की प्रेम -भावना किस प्रकार आहत होती है, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में इसका निदर्शन बखूबी हुआ है।

'पानी के प्राचीर' {राम दरश मिश्र} का किशोर नीरू अपनें गाँव की ही किशोरी संध्या से प्रेम करता है। संध्या भी प्राण-पण से उसे चाहती है। संध्या जब अध्ययनार्थ शहर जाने लगती है तो नीरू सोचता है- ''मगर शहर जाकर वह मुझे भूल तो नहीं जायेगी। वहाँ तो एक से एक सुन्दर स्वस्थ्य और धनी लड़के पढ़ते होंगे, मेरी तो गिनती ही क्या हो सकती है उनमें ? किसी से संध्या की आँखें उलझ गई तो ? लेकिन नहीं, ऐसा नहीं होगा। वह ऐसी चलती-फिरती लड़की

नहीं है।''[83] परन्तु नीरू की आशा-लता तब मुर्झा जाती है जब शहरी आबो-हवा में पल-बढ़कर सध्या के भविष्य की सुरक्षा को देखते हुए, उसकी सहमति से ही उसका विवाह त्रिपाठी से हो जाता है और नीरू-सध्या-प्रेम प्रकरण का करूण अत हो जाता है।

गॉव का व्यक्ति नारी को सामान्य तौर पर 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' वाली निगाह से देखता है-अपवाद छोड़कर। परन्तु शहरवासी के लिए नारी पहले एक देह है। राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'सूरज किरन की छाँव' में यह शहरी सक्रमण साफ दिखाई देता है। जब नागर विलियम ग्राम्या बजारी को अपने प्रेम-जाल में फसा लेता है और एक दिन उससे कहता है- ''पगली कही की, नाते-रिश्ते तो माननें के होते है। जब जो जी चाहे बना लो और बिगाड़ लो। मॉ को छोड़कर, सब बदलाहट के नाते है बजारी। जब जो जमें बैठाल दिया।''[84]

जहाँ नगर मानव की प्रेम भावना को सोख्ते की तरह सोखता है वही गाँव की धरती अपने सम्पर्क मे आनें पर किसी नागर को मोह के बन्ध में बाँध भी लेती है। विशुद्ध नागर डा0 प्रशान्त ('मैला आँचल') को मेरी गज में रहते हुए वहाँ की मिट्टी से मोह हो जाता है। उसे लगता है ''मानों वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है।''[85] प्रेम, प्यार और स्नेह को हमेशा बायोलाजी के सिद्धान्तों से मापनें वाला डाक्टर प्रशात जो प्रेम के नाम पर हँस कर कहा करता था- ''दिल नाम की कोई चीज आदमी के शरीर में है, हमें नहीं मालूम। पता नहीं आदमी 'लग्स' को दिल कहता है या 'हार्ट' को। जो भी हो 'हार्ट' 'लग्स' या 'लीवर' का प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं है।''[86] परन्तु मेरीगज प्रवास के चलते डा0 की उक्त धारणा पूर्णतया परिवर्तित हो जाती है- ''अब वह यह माननें को तैयार है कि आदमी का दिल होता है, शरीर को चीर-फाड़कर जिसे हम नहीं पा सक्ते हैं। वह 'हार्ट' नही वह अगम अगोचर जैसी चीज है, जिसमें दर्द होता है, लेकिन जिसकी दवा 'ऐड्रिलिन' नही। उस दर्द को मिटा दो आदमी जानवर हो जायेगा।........ दिल वह मंदिर है जिसमें आदमी के अंदर का देवता बास करता है।''[87] अब आलम यह है कि डाक्टर प्रशात इस धरती पर प्यार की खेती करना चाहता है। ''किसी की दुलार-भरी मीठी थपकियों के सहारे सो जाना चाहता है।''[88]

कभी-कभी नगर, ग्राम-प्रेमिक दपति के लिए आश्रय -स्थल का काम भी करता है ग्राम-जीवन मे प्रेम को लेकर कोमल, सरस, मोहक गीत कितनें भी गाये जाते हो। यह सामाजिक वर्जनाओ की अनेक दीवारो से घिरा होता है। और अगर प्रेमिक जन परस्पर विजातीय हुए तो गॉव मे उनका रहना मुश्किल क्या, असभव ही हो जाता है। तब उन्हे आसरा नगर ही देता है।

'आधा गॉव' की बछनिया और सफिरवा को जब लगता है कि गगौली गाँव मे अब उनका प्रेम छिपा नही रह सकता तो वे दोनों कलकत्ता की राह लेते है।[89] और इन्हीं का आदर्श ग्रहण कर मिगदाद भी अपनी प्रेमिका सैफुनिया से कहता है-"चल हमहूँ लोग कलकत्ता चलें।"[90] 'अग्निबीज' {मार्कण्डेय} के प्रणयी हुड़दगी और छबिया भी गॉव से भाग कर कलकत्ता में ही आशियाना तलाश करते नजर आते है।[91] और ठीक यही 'परानपुर' {परतीः परिकथा} गाँव के मलारी और सुवशलाल भी करते हैं। गॉव मे रहकर किसी ब्राह्मण सतान का चमार-कन्या के साथ सरेआम रहना कतई संभव नहीं था। तभी तो दोनों भाग कर पटना की शरण लेते है।[92]

गॉव के मानवीय सम्बन्धों के स्वरुप को बिगाड़ने का कुत्सित कार्य तो शहर के द्वारा होता ही है किन्तु उसका कुरूपतम् रूप वहाँ नजर आता है जहाँ वह साम्प्रदायिकता का जहर बोता हुआ दिखाई देता है।

गाँव में साम्प्रदायिकताः नगर की देन

भारतीय गाँवों में मुख्य रूप से दो सम्प्रदायों के लोग – हिन्दू और मुस्लिम, निवास करते है। शताब्दियों से साथ रहते-रहते दोनों सम्प्रदायों के लोगों नें एक साझा संस्कृति का निर्माण किया है। होली के रंग के छींटे मुसलमानों के कपड़ों पर पड़ते रहे हैं तो ईद की सिवँइयों के स्वाद से हिन्दू अन्जान नहीं रहे। अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति के लिए दोनों काँधें से काँधा मिलाकर लड़े। जानें कितनें राम प्रसादों के साथ कितनें अशफाक 'वन्दे मातरम्' कहते हुए मातृभूमि की बलि वेदी पर शहीद हो गये। परन्तु जाते-जाते अँग्रेज दोनों के हृदय के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य की ऐसी

खाई तैयार कर गए जो इधर के वर्षो मे निरन्तर चौड़ी होती हुई दिखाई दे रही है। क्या इसके पीछे सिर्फ अॅग्रेज हुक्मरानो के माथे सारा दोष मढ कर हम हाथ झाड़ सकते है ? कदाचित नहीं। हमारे तत्कालीन शीर्षस्थ राज नेताओं की सत्ता लोलुपता ने भी इसमें महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाई है। गॉधी जैसा महामानव इस साम्प्रदायिकता की भेट चढ गया । इतनी बड़ी बलि लेकर भी इस आग की भूख अभी थमीं नहीं और जब तब नगर में बैठे राजनेताओं द्वारा कुत्सित स्वार्थ के चलते यह आग और भड़का दी जाती है और पूरा देश उस ऑच को महसूस करता है।

बॅटवारे की भीषण हिंसा के बावजूद देश के ग्रामीण इलाके इससे लगभग अछूते रहे थे। हिसा मुख्य रूप से नगरो या सीमावर्ती इलाकों में ही भड़की थी। भारत-विभाजन और तद्‌जनित हिसा मानवीय इतिहास का सबसे काला अध्याय है और लगता नही कि त्रासदी का कोई रूप इससे भी भयावह हो सकता है।

स्वाधीनोत्तर हिन्दी उपन्यास ने विभाजन की करूण गाथा के रूप में सिसकती हुई मानवता का चित्रण अत्यन्त मार्मिक अन्दाज में किया है। 'पिंजर' में जहाँ अमृता प्रीतम पजाब के सीमावर्ती ग्रामीण क्षेत्र को इस आग में जलते हुए चित्रित करती है वही यशपाल, के 'झूठा सच' मे क्या गॉव और क्या नगर हर जगह मानवता -दाह की चिरॉयध गन्ध भरी हुई है। चन्द लोगों के स्वार्थ लाखो-करोड़ों का जीवन किस प्रकार रौंद देते हैं, देश-विभाजन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

सम्प्रदाय के नाम पर इतना बड़ा हादसा हो चुकनें के बावजूद भी गॉव में रहनें वाली भरतीय जनता का पारस्परिक सौहार्द अभी पूरी तरह खत्म नहीं हो सका। हिन्दू के लिए आज भी मुसलमान फकीर उतना ही सम्मानीय हे जितना उसके अपनें संत-महंत और बॅटवारे के बाद भी मुसलमानों की मंदिर के प्रति आस्था बनी हुई है। 'आधा गॉव' (राही मासूम रजा) के फुन्नन मियाँ का यह कथन द्रष्टव्य है- ''अब हम का बताएँ ? मंदिर के नाम पर जमीन न दिये रहते त भोसड़ी वाले की माँ चोंद के रख देते। बाकी बीच में मंदिर का नाम आ जावे से हमारा हाथ कट गया है केह मारे, की आखिर त ऊँ हो खुदाए-खुदा है।''[98] मगर यह भावना न रह जाये इसके

लिए शहर पूरी तरह सक्रिय है। शहर के एक मास्टर साहब गगौली ग्राम बासी छिकुरिया अहीर के सामने मुसलमानो को जी भर गाली देते है कि "इन मलिच्छो ने तो भारतवर्ष को तहस-नहस कर दिया है। मदिरो को तोड़ -तोड़ कर मस्जिदें बनवा ली है इन पापियों ने।"[94] मगर छिकुरिया के गले यह उन्मादक तथ्य नहीं उतरता क्योकि "गगौली मे तो ऐसा नहीं हुआ था मियॉ लोग दसहरे का चदा देते है और मठ के बाबा को जहीर मियॉ नें पॉच बीघे की माफी दे रक्खी है।"[95] मगर मास्टर साहब आखिर मास्टर साहब है, उन्होने इतिहास भी पढ़ रक्खा है- बोले "औरगजेब बादशाह एक-दो मदिर को भ्रष्ट किहिस है का ?"[96] छिकुरिया जवाब देता है-"हम औरगजेब के ना जानी ला! बाकी हम जहीर मियॉ औरी कबीर मियॉ औरी फुस्सू मियॉ औरी अनवारूल हसन राकी के जानी ला। हम न मानब आपकी बात।"[97] यह चार दशक पहले का छिकुरिया है। कहते है फोड़ते-फोड़ते पत्थर भी फूट जाता है। आदमी तो फिर आदमी है।

सिर्फ हिन्दूवादी मास्टर साहब ही गंगौली में सक्रिय नही हैं। गॉव के अनवारूल हसन राकी के साहबजादा फारूक जो अलीगढ़ में पढ़ता है, तो गॉव के मुसलमानो के हृदय मे साम्प्रदायिक विद्वेष भरने का प्रयत्न करता ही है, एक दिन अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विघालय के दो छात्र भी गंगौली आकर अपनी तकरीर पेश करते है- 'यह तो आप लोगों को मालूम ही होगा कि आजकल पूरे मुल्क में मुसलमानों की जिन्दगी और मौत की लड़ाई छिड़ी हुई है। हम ऐसे मुल्क में रहते है जिसमें हमारी हैसियत दाल में नमक से ज्यादा नहीं है............"[98]

'अलग-अलग वैतरणी' {शिव प्रसाद सिंह} के खलील मियाँ करैता के ऐसे मुसलमान हैं जो पाकिस्तान बन जाने और इकलौते पुत्र के वहाँ चले जानें के बावजूद अपनी धरती का मोह नहीं त्याग पाते और करैता में ही बने रहते हैं। दशहरे की खुशियाँ हिन्दुओं के साथ मिलकर बाँटते हैं। दिवाली में दीये जलाते हैं। होली में उनके यहाँ 'जाजिम' बिछती है। फाग गाई जाती है। लोगों के लिए कंडाल भर ठंढ़ई बनती है। ईद में पूरा गाँव उन्हें मुबारक बाद देनें आता है।[99] इन्ही खलील मियाँ के खेत पटवारी की साठ-गाँठ से शहर में नौकरी करनें वाला जगेसर लिखा लेता है। और अपनी इस चाल पर सोचता है- "खलील मियाँ के खेत ले लिया, तो क्या हो गया ? उसी दिन अभी शोभा राम जी बता रहे थे कि जाटों ने तो मुसलमानिनों को

पकड़-पकड़कर गढ मुक्तेश्वर मे चकरी पर बैठा-बैठाकर व्याह कर लिया।............तब तो सारे मियॉ चिल्ला रहे थे कि पाकिस्तान लेगे, पाकिस्तान लेंगे। अब तो सालो नें ले लिया पाकिस्तान। जाओ उहॉ।''[100]

राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'जानें कितनी ऑखें' के बुन्देलखण्डी गॉव में भी साम्प्रदायिक उपद्रव की आग शहर जबलपुर से ही आती है। जबलपुर की एक हिन्दू कन्या को रहमतुल्ला भगाकर इस गॉव में लाता है जो हिन्दुओं द्वारा करीम मियॉं के घर से बरामद होती है और जबलपुर के आर्य समाजियो द्वारा उसका शुद्धिकरण तो हो जाता है लेकिन पूरा गॉव साम्प्रदायिकता की भीषण आग में जल उठता है।[101]

बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद यह आग अपनी पूरी ज्वलनशीलता के साथ देश मे फैली है। 6 दिसम्बर 1992 का दिन किसी के लिए 'विजय दिवस' है तो कोई इसे 'काला दिवस' के रुप में मना रहा है। राम-मन्दिर -निर्माण के लिए गॉव में हिन्दू-जागरण के निमित्त ईंटें भेजी गईं; हिन्दू-जनमानस में धार्मिक उन्माद भड़कानें की कोशिशें की गईं और ये कोशिशें अब भी जारी हैं।

शहर में बैठे इन धर्म के ठेंकेदारों से बकौल एक शायर इतनी ही गुजारिश की जा सकती है-

> ''कब तक ये नशीली हवा बाँटियेगा,
>
> ये उन्माद वाली दवा बाँटियेगा ।
>
> ये मन्दिर, ये मस्जिद, शिवालों की जिद में,
>
> वतन ही न होगा, तो क्या बाँटियेगा ।।''

नगर जहाँ व्यक्ति का व्यक्ति से और व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध विच्छिन्न करता है। वही उसे स्वचेतन भी बनाता है। व्यक्ति के इस 'स्वचेतन' को 'आत्म सजगता' कह कर पुकारा जा सकता है।

आत्म सजगताः नगर की देन

भारतीय पुरातन समाज-व्यवस्था मे मनुष्य का अपने व्यक्ति रूप मे कोई महत्व नहीं था। सामाजिक विधान और नियमो मे ही मानव-जीवन का भविष्य बँधा होता था। किन्तु आधुनिक जीवन मे पाश्चात्य प्रभाव, औघोगिकता, वैज्ञानिक अनुसधान और व्यापक शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप उत्पन्न स्वतन्त्र चिन्तन ने मानव के 'स्व' को उभार दिया। पाश्चात्य चिन्तन मसलन रूसों द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन, सार्त्र, हेगेले, कीकेगार्द के अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन जैसी विचारधाराओं ने भारतीय जन-मानस को भी प्रभावित किया है और भारतीय परिवेश मे भी व्यक्तिवादी-जीवन दर्शन का प्रभाव हुआ है। यह दर्शन निश्चित रूप से पाश्चात्य देशों से सम्बन्धित है और ग्रीक चिन्तन से उत्पन्न होकर, आधुनिक काल में फ्रास मे विकसित, पल्लवित हो भारत मे स्वतन्त्रता पूर्व ही पहुँच गया था। इस प्रभाव ने रूढ़ियों का रूप ले चुकी, समाज द्वारा पोषित-सचित मान्यताओ के प्रति व्यक्ति के मन में अनास्था पैदा की। उसने महसूस किया कि ''नैतिकता कितनी खोखली, आदर्श कितने बड़े पाखण्ड और जीवन-मूल्य कितने सारहीन''[102] है।

गाँव के आदमी के भीतर यह स्वचेतना आत्म सजगता बनकर नगर प्रभाव के रूप मे स्वतन्त्रता-पूर्व युग में ही दिखाई देने लगती है- होरी ('गोदान') पडित दातादीन से कभी 30 रूपये कर्ज लेता है। आठ-नौ साल मे यही 200 हो जाते हैं— तीन रूपये प्रति सैकड़ा ब्याज की दर से। पडित जी अब ब्याज के नीचे होरी से 'मजूरी' करवाना चाहते है। परन्तु लखनऊ मे साल भर रह चुका गोबर इसे बर्दास्त नहीं करता- ''कैसी चाकरी और किसकी चाकरी ? यहाँ तो कोई किसी का चाकर नहीं। सभी बराबर है। अच्छी दिल्लगी है। किसी को सौ रूपये उधार दे दिए और उससे सूद में जिन्दगी भर काम लेते रहे। मूल ज्यों का त्यों। यह महाजनी नहीं है, खून चूसना है।''[103] वह दातादीन से साफ कह देता है- ''हम तो एक रूपया सैकड़ा देंगे। एक कौड़ी बेसी नहीं। तुम्हें लेना हो तो लो, नहीं अदालत से ले लेना।''[104] काश! शंकर कुर्मी का बेटा भी किसी शहर तक गया होता तो उसे विप्र की गुलामी में पूरी जिन्दगी न चुकानी पड़ती।[105]

विश्लेष्य विन्दु के अर्न्तगत ही एक और तथ्य रेखाकित करने योग्य है– गाँवों में जाति प्रथा का अतिशय महत्व रहा है। 'ऋग्वेद' मे स्थापना दी गई कि ब्राह्मण, ब्रह्मा के मुख से तथा शूद्र पैर से उत्पन्न होने के कारण समाज में क्रमशः उच्चतम् एव हीनतम् स्थिति के अधिकारी है।[106] शहर मे कई कारणो से काफी हद तक जाति-प्रथा की ये बदिशे टूटी हुई मिलती हैं। गाँव से शहर आया व्यक्ति देखता है कि यहाँ जाति-प्रथा का ठीक वही रूप नही जो उसके गॉव में था। यहॉ तो सभी जातियों के लोग एक साथ बैठ सकते है। एक ही होटल में खा-पी सकते है । एक ही वाहन मे एक सीट पर बैठ कर यात्रा कर सकते है और जब वह गॉव लौटकर जाता है तो उच्च जातियों के कौलीन्य गर्व को चुनौती देता है।

होरी के पेट में दातादीन के रुपयो को लेकर धर्म की कान्ति मचती है परन्तु गोबर को कोई फर्क नही पड़ता । होरी को लगता है कि ब्राह्मण का -'रोंया दुःखेगा' किन्तु गोबर कहता है- ''हुआ करे। उनके दुःखी होने के डर से हम बिल क्यों खोदें।[107]

शहर के प्रभाव से सजग हो जानें का ऐसा ही उदाहरण विवेकी रॉय कृत 'सोना माटी' मे भी दिखाई देता है। गाँव के विप्र हनुमान प्रसाद के यहाँ सुखुआ एवं सिटहला नामधारी दो शूद्र जातीय व्यक्ति काम करते हैं। एक उनके यहाँ पानीं भरता था दूसरा 'हलवाही' करता था। एक कर विप्रवर नें 'मजूरी' माँगनें पर दोनों की पिटाई कर दी तब उन्होंनें भाग कर बक्सर शहर मे शरण ली थी। एक ने पान की दुकान को सहारा बनाया दूसरे की जीविका का साधन रिक्शा बना। आज दोनों गाँव में हनुमान प्रसाद के सामने हैं परन्तु आधी कमर झुकाकर खड़े होने की स्थिति में नही बल्कि- ''जय हिन्द, मालिक लोगों।' रिक्शे पर बैठा बैठे-बैठे सुखुआ बोला। सिटहला रिक्शा रोक सिर्फ मुस्कुराता हुआ खड़ा था।'[108]

हजारों वर्षों तक विप्र वर्ग ने 'न शूद्राय मतिं दद्यात्'[109] की परम्परा कायम रखी क्योंकि इनकी मतिहीनता ही इनके शोषण का हथियार थी। शहर नें कम से कम इन्हें मति सम्पन्न तो किया और यही बात कौलीन्य गर्व से भरे लोगों को अखरती है। उन्हें लगता है कि 'मूल्य' धराशायी हो रहे हैं। 'घोर कलियुग' आ गया है। शूद्रों नें 'पालागन' करना छोड़ दिया है। हद

हो गई, उन्होने बराबरी का दावा करना शुरु कर दिया। वैसे तुलसी बाबा ने तो इसकी संभावना युक्त आशका बहुत पहले ही जता दी कि जब घोर कलियुग आयेगा तो - 'सूद्र कहहि सब द्विजन सो, हम तुमते कछु घाटि।'[110] और आज तुलसी की यह आशका सच है। वह 'शूद्र' जिसका शिरोच्छेद कोई राम इसलिए कर देता है क्यो कि वह तपस्या कर ज्ञान प्राप्त कर रहा था {शबूक}, वह 'शूद्र' जिसका अँगूठा कोई द्रोण इसलिए कटवा देता {एकलब्य} है, क्योकि वह उच्चवशीय लोगों की बराबरी करने जा रहा था। आज नगरीय शिक्षा प्राप्त करके यही शूद्र पूरी तल्खी के साथ कहता है–

'सुनो वशिष्ठ, द्रोणाचार्य तुम भी सुनो
हम तुमसे घृणा करते है
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओ पर थूक्ते हैं।'[111]

कवि नें यहाँ 'हम' शब्द का प्रयोग किया है जिससे जाहिर है कि स्वचेतना से उत्पन्न उसकी आत्म सजगता नें उसके अन्दर वर्ग-चेतना का भाव पैदा किया। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में यह वर्ग-चेतना ही वर्ग संघर्ष का रुप धारण करके आई है।

वर्ग-चेतना, वर्ग संघर्ष और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास

''मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार वर्ग उन व्यक्तियों के समूह को कहा जा सकता है जो उत्पादन मे एक ही तरह का काम करते हों तथा जिनके आर्थिक हित भी समान ही हों।''[112]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात प्रारंभिक औपन्यासिक कृतियों यथा बलचनमा, मैला आँचल आदि में वर्ग का यह रुप दिखाई देता है। 'बलचनमा' {नागार्जुन} का नायक बलचनमा जो कुछ

दिन पटना मे रह चुका है अपने गॉव के शोषितो को समझाता है– ''.............जन बनिहार, कुली मजदूर और बहिया-खबास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।''[113]

काली चरन {मैला ऑचल} भी नगरीय सम्पर्क के चलते मेरीगज में 'संघर्ख' की बात करते हुए शोषित जनो के बीच भाषण देते हुए कहता है– 'ये पूँजीपति और जमींदार, खटमलो और मच्छरों की तरह सोसख है।.........खटमल। इसीलिए बहुत से मारवाड़ियों के नाम के साथ 'मल' लगा हुआ है और जमींदारो के बच्चे मिस्टर कहलाते है। मिस्टर........मच्छर!'[114]

परन्तु 'वर्ग' की यह मार्क्सवादी अवधारणा कम से कम इस देश मे और खास कर गॉव के सदर्भ मे कतई नहीं चल सकती। यहॉ वर्ग का बोध जाति से ही होता है। 'मैला ऑचल' में ही यह तथ्य स्पष्ट होकर सामनें आ जाता है। काली चरन अपनी 'लाल पताका' पार्टी का मेम्बर तो सभी संथालों को बना लेता है किन्तु जब जमीन के लिए संघर्ष होता है तो सथाल अकेले पड जाते है। हाँ 'जातीय सगठन' के रूप में वर्ग चेतना अवश्य फैली है और इसके पीछे निश्चित रूप से नगर, प्रेरक तत्व के रूप में जिम्मेदार है।

'आत्म सजगता' के ही परिप्रेक्ष्य में नगर के योगदान को नारी संदर्भों में भी रेखाकित किया जा सकता है।

नारी -चेतना और नगर

नारी की स्थिति भारतीय समाज में दलितों से बहुत बेहतर नहीं रहीं । बल्कि वह तो दोहरी दासता का शिकार रही है। प्राचीन भारत में उसकी स्वतन्त्रता का कुछ आभास मिलता जरूर है। लेकिन स्थिति स्पष्ट नहीं है। विवाहादि के संदर्भ में जिस स्वयंवर प्रथा को उसकी स्वतन्त्रता के रूप में परिभाषित किया जाता है उसकी विडम्बना को कुछ प्रसिद्ध स्वयंबरों के उदाहरण से देखा जा सकता है। जनक अपनी जानकी के लिए स्वयवर का आयोजन करते हैं परन्तु शर्त यह है कि जो धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा देगा जानकी उसी का वरण करेगी। वह दैत्य, दानव कोई भी हो सकता है। द्रुपद अपनी द्रोपदी उसी को देंगे जो मछली की आँख बेध देगा। कन्या की इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं। यह कैसी स्वतन्त्रता है। हाँ उसकी गुलामी के प्रमाण ढूँढे जाँय तो भरे पड़े हैं।

मुनि वशिष्ठ उसके लिए आजीवन गुलामी की व्यवस्था करते है।[115] तो भगवान श्रीकृष्ण उसे जन्मना पापयोनि से सम्बद्ध करते है।[116] परन्तु आज स्थिति ठीक वैसी नही वरन् बहुत कुछ उलटफेर हो चुका है। सहस्त्राब्दियों तक गुलामी के बन्धनों में जकड़ी रहने वाली नारी आज आत्म सजग होकर तेजी से अँगड़ाई लेती हुई दिखाई दे रही है।

परन्तु यह परिवर्तन गॉवों में अभी बहुत दूर दिखाई दे रहा है। हॉ गॉव की जो स्त्री नगर मे आ जाती है वह जरूर पूरी तरह चौकस हो जाती है। उदाहरण के रूप में 'कठ गुलाब' {मृदुला गर्ग, 1996} की स्मिता को देखा जा सकता है। जिसे गॉव से नगर आकर लगता है कि -''शहर न आते तो अनपढ़ गवार रह जाते।''[117] इतना ही नही शहर आकर ही वह जान पाती है कि 'मर्दों की दुनिया मे रहने के लिए होम साइस की नहीं, कराटे की जरूरत है।'[118] स्मिता नगर और महानगर से भी आगे की यात्रा करती हुई अमेरिका तक जा पहुँचती है जहॉ उसे बोध होता है कि– ''अब मैं मजलूम नहीं हूँ, पूरी तरह समर्थ हॅ''[119] और वह पाती है कि अब– ''वह हिन्दुस्तान जा सकती थी। या कम से कम वह वक्त आ गया था, जब हिन्दुस्तान लौटकर, उसे अपनें तमाम डेकुलाओं का सामना कर लेना चाहिए था।''[120] नारी चेतना के सदर्भ को ऐसे बहुत से उपन्यासो मे देखा जा सकता है।

इस सक्षिप्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि आधुनिक युग में नगर ने ग्रामीण समाज के विभिन्न पहलुओं को पूरी तरह प्रभावित किया है । यह प्रभाव सुन्दर और असुन्दर या कह लें 'शिव' और 'अशिव' दोनो रूपो मे मौजूद है । नगर प्रभाव ने जहॉ व्यक्ति को अहवादी, मतलबपरस्त तथा टूटन की सीमा तक एकाकी बनाते हुए तमाम पारम्परिक रिश्ते-नातों की बुनियादें हिला दी है वहीं युग-युग से उपेक्षित वर्ग में नई चेतना, नये प्राण, नया आत्मबोध भी पैदा किया है । इसके चलते जहॉ पुराने मूल्य ध्वस्त हुए हैं वहीं कतिपय नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा भी हुई है । पूरे परिणाम पर अन्तिम राय दे देना कदाचित जल्दीबाजी होगी क्योंकि यह गॉव के संक्रमण का दौर है और कभी-कभी खण्डहरों पर भी सुन्दर नव निर्माण हो जाया करते हैं ।

सन्दर्भ

1 'भारतीय ग्राम'-श्याम चरण दुबे, पृष्ठ 39

2 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 133

3 'पानीके प्राचीर' - राम दरश मिश्र - पृष्ठ 62

4 'अलग-अलग वैतरणी' - शिव प्रसाद सिह, -पृष्ठ 62

5 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 98

6 'पूस की रात' (कहानी) - मुशी प्रेमचन्द

7 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द

8 'भारत एक बदलती दुनिया' - बीटिस पिटनी लैम्ब, पृष्ठ 5

9 'हिन्दी के आचलिक उपन्यासों में मूल्य - सकमण' - डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ पृष्ठ 38-39

10 'अलग-अलग वैतरणी' - शिव प्रसाद सिह, पृष्ठ 469

11 उपर्युक्त

12 'रामायण' - महर्षि बाल्मीकि

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

13 'अलग-अलग वैतरणी' - शिव प्रसाद सिह पृष्ठ 485

14 'उपर्युक्त, पृष्ठ 269

15 'कलि-कथा वाया- बाइपास' - अलका सरावगी, पृष्ठ 29

16 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 2

17 'उस चिड़िया का नाम' - पंकज विष्ट, पृष्ठ 114

18 'ब्रह्मपुत्र' - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ 220

19 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 288

20 'शेखर एक जीवनी, {प्रथम भाग} - अज्ञेय

21 'कसप' मनोहर श्याम जोशी, पृष्ठ 35

'स्कर्ट कार्डिगन, ऊँची एड़ी के सैण्डल और पोनी टेल ने बेबी के जीन सिम्मंस पक्ष को और भी उभार दिया है। विचित्र किन्तु सत्य कि उसका इस तरह कुछ और जीन सिम्मसनुमा हो जाना, जीनसिम्मस पर अनुरक्त नायक को सुखी करने के बजाय दुःखी कर गया है।'

22 'कसप' - मनोहर श्याम जोशी, पृष्ठ 278 से 285

23 उपर्युक्त, पृष्ठ 172

24 उपर्युक्त, पृष्ठ 319

''बैक होती गाड़ी से डी. डी. उस 'बेबी' को देख रहा है। जीन के ऊपर बेबी ऑगियानुमा फीतेदार टॉप पहनी है, चोप्प - जैसे स्तनो पर कसा हुआ है और जिसके नीचे जीन के बदरग नीले तट तक गोरा मास फैला हुआ है। वह इस 'बेबी' के टटके पन को गगोलीहाटी उच्चारण जितनीं गाढ़ी लालसा से देख रहा है। क्या इसलिए कि उसके अपना कोई बच्चा नहीं है ? यह इसे गोद लेना चाहता है- पिता और प्रेमी को सयुक्त भूमिका में ?''

25 'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 220

26 'विस्रामपुर का सत' - श्री लाल शुक्ल, पृष्ठ 57

27 'उपर्युक्त, पृष्ठ 58

28 'उपर्युक्त,

29 'सँस्कृति की उत्तर कथा' - डॉ. शंभुनाथ {भूमिका}

30 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 302

31 'उपर्युक्त, पृष्ठ 404

32 'उपर्युक्त

33 'आत्मने पद' अज्ञेय, पृष्ठ 196

34 'ईशावास्यं इदं सर्व यत्किंचि जगत्यां जगत' -'ईशावास्योपनिषद'

35 'प्रयोग वाद और नई कविता' - डॉ. शम्भुनाथ सिंह, पृष्ठ 193

57 उपर्युक्त , पृष्ठ 16

58 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 97-98

59 'पहला पडाव' श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 222

60 'सात आसमान' - असगर वजाहत, पृष्ठ 199

61 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 235

62 उपर्युक्त , पृष्ठ 236

63 उपर्युक्त , पृष्ठ 237

64 उपर्युक्त , पृष्ठ 238

65 उपर्युक्त , पृष्ठ 138

''मनुष्य के लिए क्षमा ओर त्याग और अहिसा जीवन के उच्चतम आर्दश हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है । पुरूष धर्म और अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सदियों से जोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका। मै कहता हूँ उसका सारा आध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ।''

66 'अलग-अलग' वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 243

67 'अलग-अलग' वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 244

68 'आदिम राग' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 18

69 'आदिम राग' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 15

70 'झूला नट' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ

71 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 324

72 'पहला पड़ाव' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 244

73 'पहला पड़ाव' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 244

74 'पहला पड़ाव' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 225

75 'झूला नट' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 43

76 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 138

77 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 362

78 ''वियोगी होगा पहला कवि / आह से उपजा होगा गान,

निकल कर आँखों से चुपचाप / बही होगी कविता अनजान ।''

79 ''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पडित भया न कोय ।

ढ़ाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पडित होय ।।'' - कबीर

80 'विघापति' - डॉ. शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 35

81 'विघापति' - डॉ. शिवप्रसाद सिह, पृष्ठ 28

82 'वाणभट्ट की आत्मकथा' - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 208

83 'पानी के प्राचीर' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 90

84 'सूरज किरन की छाँव' - राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 17

85 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 114

86 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 137

87 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 137

88 'मैला आँचल' - रेणु, पृष्ठ 139

89 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 117

90 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 288

91 'अग्निबीज' - मार्कण्डेय, पृष्ठ 149

92 'परती परिकथा' - रेणु,

93 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 278

94 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 174

95 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 174

96 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 174

97 'आधा गाँव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 174

98 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 298

99 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 192

100 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 238

101 'जाने कितनी ऑखें' - राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 187

102 'धर्मयुग' - 16 मार्च 1980, लेख - सूर्यबाला

103 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 188

104 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 188

105 'सवा सेर गेहूँ' {कहानी} - मुशी प्रेमचन्द

106 'ऋग्वेद' {दशम मण्डल - पुरुष सूक्त}

107 'गोदान' - मुशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 189

108 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 69

109 'मनुस्मृति' - 4/80

110 'रामचरित मानस' {उत्तर काण्ड} - गोस्वामी तुलसीदास

111 ओम प्रकाश बाल्मीकि {कथाक्रम - नवम्बर 2000 से उद्धृत}

112 'भारतीय समाज में वर्ग सघर्ष' - डॉ. सोहन शर्मा, पृष्ठ 63

113 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 170

114 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 176

115 'वशिष्ठ सूत्र' - 1/2

''पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।

रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः, न स्त्री स्वातंत्र्यम् अर्हति ।।''

116 'श्रीमद् भवगद्गीता' - 9/32

''मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ।।''

117 'कठगुलाब' - मृदुला गर्ग, पृष्ठ 11

118 'कठगुलाब' - मृदुला गर्ग, पृष्ठ 17

119 'कठगुलाब' - मृदुला गर्ग, पृष्ठ 57

120 'कठगुलाब' - मृदुला गर्ग, पृष्ठ 111

अध्याय - षष्ठ

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-नगर सम्बन्धः सांस्कृतिक आयाम

यह स्थापित तथ्य है कि भय, मैथुन क्षुधा, निद्रा आदि मे मनुष्य तथा पशु में कोई फर्क नही है। यह सस्कार ही है जो मनुष्य को पशुता के कुहासे से निकालकर निरन्तर सामाजिक एव सुसंस्कृत बनाते है। सस्कृति को पारिभाशित करना लगभग असभव ही है क्योकि सस्कृति एक तथ्य नही बोध है जो अपनी उदात्त प्रेरणाओं एव सवेदना के द्वारा मानव के व्यक्तित्व का निर्माण एव सस्कार करती है। सस्कृति का सम्बन्ध मानव-जीवन के किसी क्षेत्र विशेष भर से नहीं होता वरन् यह अपनी विस्तृता मे सम्पूर्ण जीवन को उसकी पूरी समग्रता में समेट लेती है। यद्यपि मानव-जीवन की विकसनशीलता के चलते, उससे अभिन्न रूप से जुड़ी होने के कारण संस्कृति मे भी युगानुरूप परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु सस्कृति के कुछ मूल तत्व ऐसे भी है जो शाश्वत है और जिनको आधार बनाकर ही भारतीय सास्कृतिक जीवन की अवधारणा हुई है। इनमे धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य, करुणा, त्याग तथा अपरिग्रह जैसे सस्कृति के मूल तत्वो के नाम लिए जा सकते है। भारत के प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने इन्हीं सास्कृतिक तत्वो के आधार पर भारतीय जन-जीवन के भव्य भवन को खड़ा करने का प्रयत्न किया था। भारतीय जीवन में संस्कृति की व्यापकता को समझने के लिए यदि डॉ. निर्मला अग्रवाल के शब्दों में कहें तो - ''सस्कृति विष्णु के उस विराट रूप की भाँति है जो अपने अनेक रूपों में भी एक है तथा उसी एक रूप मे वे अनेक रूप समाविष्ट है।''[1]

उपर्युक्त विवेचन का सम्बन्ध सस्कृति के दार्शनिक पक्ष से है। लेकिन उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है जो हमारे दैनदिन जीवन में हर पल क्रियाशील हुआ करता है।

भारतीय संस्कृति और गाँव

भारतीय सस्कृति मूलतः कृषि संस्कृति हैं, जिसकी पृष्ठभूमि ग्राम-जीवन है। जब हम 'भारतीय सस्कृति की बात करते हैं तो परोक्ष-अपरोक्ष रूप में हमारा आशय ग्राम-संस्कृति से ही होता है। इसलिए ही यदि ग्राम-संस्कृति को भारतीय संस्कृति के पर्याय के रूप में परिभाषित करें तो कदाचित अत्युक्ति नहीं होगी। शहर की अपनी कोई संस्कृति नहीं होती। हाँ, शहर को अनेक संस्कृतियों का

समुच्चय कहा जा सकता है। भारत गॉवों का देश है इसलिए सांस्कृतिक विरासत के खाते में जो कुछ भी जमा पूँजी है वह गॉव की है।

जिस प्रकार सस्कृति का सम्बन्ध ग्राम-जीवन से है उसी प्रकार सभ्यता नगर-जीवन से सम्बन्धित है।[2] आज जिस प्रकार भारतीय ग्राम-जीवन का सपर्क तेजी से नगर जीवन से हुआ है, उससे सास्कृतिक स्थिति मे तेजी से परिवर्तन हुआ है और संस्कृति के मुख्य उपादानों - ईश्वर, धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, कर्मकाण्ड आदि के मूल्य बदले है और परिप्रेक्ष्य परिवर्तित हो गए है। इनके मानदड भी सस्कृति मूलक न होकर सभ्यता मूलक हो गए है। नयी स्थितियों नें व्यक्ति के जीवन को आमूल परिवर्तित कर दिया है। अपनी सम्पन्नता के बल पर नगर गॉवों पर छाते चले जा रहे है और परिणामस्वरूप गॉवों के सास्कृतिक क्षेत्र में नए आयाम तेजी से उभर कर सामने आए है। धर्म, दर्शन, विश्वास, साहित्य, सस्कार, तीर्थ, शिक्षा-दीक्षा, वर्ण, मूर्ति, त्योहार, विवाह, वेश-भूषा, गीत, भोजन आदि के सास्कृतिक क्षेत्रों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन की गति जितनी तेज है, उसे देखकर तो लगता है कि किसी रोज डॉ. शम्भुनाथ का यह देखना सच ही हो जायेगा- ''मै एक ऐसा विश्व ग्राम देख रहा हूँ, जिसमें होरी की गोशाला की जगह सुपरसोनिक विमान कनकर्ड खड़ा है। चौपाल पर डालर की दुकान है जहाँ पान-सिगरेट भी उपलब्ध हैं। विश्व बैंक में झिगुरी सिह बैठा है। दुलारी सहुआइन ने सुपर बाजार खोल रखा है, जिसमें सब कुछ बिकता है। दातादीन भव्य राम मदिर के निर्माण में लगे है और पन्द्रह मिनट की दूरी पर विज्ञान भवन मे हरखू अपनी जाति का विश्व सम्मेलन कर रहा है। दो-तीन हजार किलोमीटर तक हिन्दी की कोई पाठशाला नहीं है और विश्व विधालय विश्व व्यापार सगठन के क्लब में बदल गये हैं। रायसाहब ने इस बार मेडोना को बुलाया है। अब प्रहसन नहीं होता। गन्ना और मटर के खेत मे आलू के चिप्स बनाए जा रहे हैं। टमाटर के एक समान पौधों पर सॉस की बोतलें लटक रही है। किनारे से खड़े आम के पेड़ों पर अरब देशों के छोकरे चढ़े हुए है । इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री ने बेलारी की चौड़ी सड़क पर हाथ में कुदाल लिए बैठे होरी को देखकर 'हाय' किया है और तुरंत लिबर्टी स्टैच्यू का रूख पकड़ लिया है। उस सड़क पर और सड़क से निकली सड़कों पर हूबहू होरी के चेहरे के ही करोड़ों लोग, जिनमें से कुछ की जेब में कम्प्यूटर प्रशिक्षण का प्रमाण पत्र भी है, अपनी नागरिकता भूलकर सन्न पड़े हैं। टी.वी. के कुछ कैमरे उन पर गिद्ध की तरह मँडरा रहे हैं।''[3]

यदि भारतीय गॉवो का रूप शभुनाथ जी द्वारा देखे गए गॉव जैसा हो जायेगा तब शायद किन्ही मैथिलीशरण गुप्त द्वारा इस प्रकार कविता लिखी जायेगी-

''अहा ग्लोबल जीवन भी क्या है

क्यो न इसे सबका मन चाहे

यहॉ मौज मस्ती के साधन

ऐसी सुविधा और कहॉं है?''[4]

केन्द्र सरकार आज गॉव को यही रूप देने की कोशिश तो कर रही है! सभव है किसी दिन ये कोशिशे कामयाब भी हो जाये।

पश्चिम की सस्कृति आज सभ्यता बनकर भारतीय नगर-जीवन के हर क्षेत्र को अपने आगोश मे दबोच चुकी है और गॉंवों के द्रुत नगरीय सम्पर्क के चलते यह प्रभाव वहॉ भी हुआ है या हो रहा है जिससे ग्राम-सस्कृति का हर उपादान प्रभावित हो रहा है और यह प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकार की नजर से ओझल नहीं हो पाया है।

धर्म : बदलते आयाम

भारत की पहचान सदैव से एक धर्म-प्राण देश के रूप में रही है जिसका अतीत धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त गौरवशाली रहा है। हमारे समाज में धार्मिक नियम शाश्वत नियमों की भॉंति प्रतिष्ठा पाते रहे है। हिन्दू जन-मानस जन्म से लेकर मृत्यु तक धार्मिक मान्यताओं से पूर्णतया आबद्ध रहता आया है।

यह धर्म की व्यापकता का ही प्रमाण है कि न तो उसके स्वरूप को ठीक-ठीक शब्दों में व्यक्त किया जा सकता और न ही उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा ही प्रस्तुत की जा सकती। फिर भी विद्वान अपने-अपने लिहाज से धर्म की व्याख्या करते रहे हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार- ''धर्म वह

अनुशासन है जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमे बुराई और कुत्सितता से सघर्ष करने मे सहायता देता है; काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है; नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, ससार को बचाने के महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है।''[5] मालिनोवस्की के शब्दों में - ''धर्म के अन्तर्गत व्यवहार के वे सभी प्रतिमान आ जाते हैं जिनमे मनुष्य दैनिक जीवन की अनिश्चितताओ को न्यूनतम करने का एव अप्रत्याशित तथा भविष्यवाणी न किये जा सकने वाले सकटों की क्षतिपूर्ति का प्रयत्न करते है।''[6]

धर्म का सम्बन्ध आस्था से होता है और यह मूलतः विश्वासपरक होती है। गॉव के जीवन मे धर्म का गहन प्रभाव है। धर्म उनके जीवन का आधार होता है और यही जीवन की दिशा निर्धारित करता रहा है। ग्राम-जीवन का कोई अग ऐसा नहीं जो धर्म के प्रभाव से अछूता रहा हो। गॉव का पारिवारिक-जीवन, सामाजिक-जीवन और आर्थिक-जीवन, सब के सब पूरी तरह धार्मिक भावना से ही परिचालित होते है।

शहर का व्यक्ति अधार्मिक होता है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु शहर की जिन्दगी मुख्यतया अर्थ-प्रधान ही होती है। यहॉ धर्म का दिशा-निर्देशन बहुधा अर्थ द्वारा होता है। जैसे-जैसे नगर उत्तर आधुनिकता के प्रभाव मे आते जा रहे है वैसे-वैसे परम्परागत धार्मिक-आस्थाओं का उच्छेदन होता जा रहा है और उसके स्थान पर भौतिकता प्रतिष्ठित होती जा रही है। शहरों की प्रतिक्रियाएँ गॉवों मे भी निरन्तर हो रही है तथा उनके जीवन-मानों, उनकी आस्थाओ एवं मान्यताओं में परिवर्तन हो रहा है। आस्तिकता के ऊपर नास्तिकता छाती जा रही है।

वास्तव मे परिवर्तन इस सृष्टि का सबसे बड़ा या कह लें निर्मम सच है, ऐसे में धर्म सम्बन्धी मान्यताओं का बदल जाना भी नितान्त स्वाभाविक है। आज का जीवन ठीक वैसा नहीं रह गया जैसा मध्यकाल का था। आज धर्म और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों में पूर्णरूपेण परिवर्तन हुआ है। मध्य काल तक समाज की यह धारणा थी कि व्यक्ति का जीवन धर्म के लिए होना चाहिए। आज स्थिति ठीक उलट गई है और धर्म का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन में सहायक होने की हदों में घिर गया है। धर्म के इस क्षेत्र-संकुचन पर विचार करते हुए प्रो. श्यामाचरण दुबे लिखते हैं- ''जैसे-जैसे विज्ञान और

प्रौघोगिकी का क्षेत्र बढ़ता है, वैसे-वैसे धर्म का क्षेत्र सिकुड़ता जाता है। धर्म के कुछ कार्य दूसरे माध्यम ले लेते है। धर्म के प्रभाव की व्यापकता और उसकी पकड़ उन समाजो मे अधिक होती है जो सरल और प्रौघोगिकी के क्षेत्र में अल्प विकसित होते है।''[7]

बीसवीं शताब्दी के साहित्य ने मनुष्य को अभिनव प्रतिष्ठा दी। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'सबुरि ऊपर मानुष सत्य' की बात की तो कविवर पत ने भी लिखा-

''सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सब से सुन्दरतम् ।''

जब मनुष्य सबसे बड़े सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित होगा तो यह स्वाभाविक है कि धर्म की स्थिति दोयम दर्जे की हो जाएगी । मध्यकालीन मानसिकता के लिए यह दुःख का कारण था । कलियुग की व्याख्या करते हुए बाबा तुलसी 'रामचरित मानस' के उत्तर काण्ड में लिखते है -

''मातु पिता बालकहि बोलावहिं ।
उदर भरै सोइ धर्म सिखवहि ।।''[8]

स्पष्ट है कि तुलसी को धर्म के ऊपर पेट के हावी हो जानें का बड़ा भय था, जबकि उन्हे मालूम था कि - 'आग बड़वागि ते बड़ी है आग पेट की।' कवि की यह आशंका आज सत्य का रूप ले चुकी है। आज व्यक्ति इस विश्वास के साथ धर्म को पालता है कि -'शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्'।

ग्रामीणों की सीधी-सरल आस्था का लाभ उठाकर ग्राम-जीवन में धर्म के नाम पर आडम्बर का घृणित रूप से समावेश हुआ। पंडित, पुजारी, महत जैसे जाने कितनें रूप धर कर धर्म के ठेकेदार ग्रामीणों का रक्त चूसनें लगे। इन तथाकथित धार्मिकों का जीवन अन्दर से कितना धर्म-विहीन है इसकी अच्छी खबर हिन्दी उपन्यासकारों ने ली है।

फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला ऑचल' के मेरीगज का मठ अनैतिकता एवं यौन-शोषण का केन्द्र बना दिखाई देता है। अधे-महन्त सेवादास ने पुत्रीवत पालन का वचन देकर लक्ष्मी को अपने सरक्षण मे लिया था लेकिन उस कली के खिलने से पहले ही उसका रस चूसने लगा। महत सेवादास की मृत्यु के पश्चात 'सभी मठ के जमींदार आचारज गुरु' नये महत की नियुक्ति करने आने वाले होते हैं और इसकी पूर्व सूचना लेकर उनका एक चेला-लरसिह दास, मेरीगज मठ पर आया है। – ''किन्तु मेरीगज पर एक ही रात रहने के बाद उस पर महथी का मोह सवार हो गया। नौ सौ बीघे की काश्तकारी। कलमी आम का बाग। दस बीघे में सिर्फ केला ही लगा हुआ है............. और सबसे कीमती संपत्ति-अमूल्य धन-लक्ष्मी दासिन।''[9] खैर, आचारज गुरु आते हैं; उनके साथ एक नागा साधु भी है वह भी ''रात मे उठकर एक बार चारो ओर देखते है, फिर लक्ष्मी की कोठरी की ओर जाते है, खाली पैर। खड़ाऊँ तो खट-खट करेगी!........... हरामजादी किवाड़ बंद करके सोती है।''[10] आचारज गुरु के जवान अधिकारी को भी रात भर नींद नहीं आई।

असली तमाशा तो दूसरे दिन शुरु होता है जब लरसिंह दास के षड़यन्त्र से रामदास की महती अस्वीकृत होती है और यह लपट लरसिह दास मठ का महत बनाया जाने वाला होता है। लक्ष्मी अपनी गुहार सुनाने गाँव वालों के पास जाती है लेकिन धर्मभीरु ग्रामीण इस 'धरम' के मामले मे टॉग कैसे अड़ा सकते हैं! बालदेव लक्ष्मी से कहता है- ''कोठारिन जी, आचारज गुरु तो सभी मठ के नेता है। वे जो करेंगे वही होगा। इसमें हम लोग क्या कर सकते हैं? बड़ा धरम सकट है! किसी के धरम मे नाक घुसाना अच्छा नहीं है।''[10]

किन्तु कालीचरन इस अन्याय का पूरी ताकत से प्रतिरोध करता है। अब वह भी 'भाखन' दे सकता है-''........हम जानते है और अच्छी तरह जानते हैं कि रामदास इस मठ का चेला है। उसको महथी का टीका न देकर, आप एक नबरी बदमास को महथ बना रहे हैं।.......... मठ में हम लोगों के बाप-दादा ने जमीन दान दी है, यह किसी की बपौती संपत्ति नही.........।''[11] धार्मिक मामलों में दखल देने की हिम्मत कालीचरन इसीलिए उठा पाता है क्योंकि वह शहर के सम्पर्क में आ चुका है।

धर्म का ऐसा बिरवा जो मनुष्यता की खाद के सहारे पलता-बढ़ता है अगर उखड़ता है तो जितनी जल्दी उखड़ जाये अच्छा!

गन्दगी के नरक बने हुए ऐसे ही मठ का चित्रण 'लोक-परलोक' (उदय शकर भट्ट), सच्चिदानद धूमकेतु कृत - 'माटी की महक' तथा ओम प्रकाश निर्मल कृत 'बहता पानी रमता जोगी' आदि मे भी हुआ है।

ग्रामीण जीवन मे धर्म का सम्बन्ध बहुत हद तक उसके वाह्य रूपों, मसलन पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, चदन-टीका, व्रत-अनुष्ठान आदि से होता है। ये सारे काम विप्र वर्ग के जिम्मे होते है और इसी की आड़ मे वे मानवता का खून सहजता से पी सकने में समर्थ हो पाते है। मुशी जी ने अपने 'गोदान' मे ग्रामीण धर्म के इस आडम्बरिक रूप का मार्मिक व्यग्य के साथ चित्रण किया है। पडित मातादीन का परिचय देते हुए वे लिखते है- "दातादीन का लड़का मातादीन एक चमारिन से फॅसा हुआ था। इसे सारा गॉव जानता था, पर वह तिलक लगाता था, पोथी-पत्रे बॉचता था, कथा-भागवत कहता था, धर्म-सस्कार कराता था। उसकी प्रतिष्ठा में जरा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता था।"[13] मातादीन महाशय के पिता पडित दातादीन का भी परिचय, मुशी जी की ही जुबानी- "दातादीन अपनी जवानी में स्वय बड़े रसिया रह चुके थे, लेकिन अपने नेम धर्म से कभी नहीं चूके।...... धर्म का मूल तत्व है पूजा-पाठ, कथा-व्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्व को पकड़े हुए हैं, तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथ भ्रष्ट कह सके।"[13]

हिन्दू धर्म-खासकर ग्रामीण सन्दर्भो में, चौका-चूल्हा सम्बन्धी शुद्धता पर आश्रित होता है। मुॅशी जी धर्म के इस खोखलेपन को भली-भाँति पहचान सके थे। इस छुवा-छूत का आलम गाँव मे यह होता है कि कोई कुलीन पुरुष नीची जाति की औरत के साथ सो तो सकता है किन्तु उसके हाथ का छुआ खाना-पानी उसके लिए त्याज्य है। कबीर साहब ने इस आडंबरप्रियता पर बहुत पहले करारा व्यग्य करते हुए कहा था-

"हिन्दू आपन गागर छुवन न देई
बेस्या के पायन तर सोवै या देखौ हिन्दुवाई।"[15]

इसी आडम्बर पर ठीक कबीर साहब के ही तेवर मे रेणु अपनी कथाकृति 'मैला ऑचल' में एक 'भड़ौवा' के बहाने लिखते है-

> ''अरे हो बुड़बक बभना, अरे हो बुड़बक बभना,
> चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।
> सुपति-मउनियॉ लाए डोमनियॉ, ऑगे पियास से पनियाँ,
> कुऑ के पानी न पाए बेचारी, दौड़ल कमला के किनारियॉ,
> सोही डोमनियॉ जब बनली नटिनियॉ, ऑखी के मारे पिपनियॉ,
> तेकरे खातिर दौड़ले बौड़हवा, छोड़के घर मे बभनियॉ,
> जोलहा धुनिया तेली तेलनियॉ के पीये न छुअल पनियॉ,
> नटिनी के जोबना के गंगा-जमुँनवॉ में डुबकी लगा के नहनियाँ,
> दिन भर पूजा पर आसन लगा के पोथी-पुरान बचनियॉ,
> रात के ततमा टोली के गलियन मे जोतखी जी पतरा गननियाँ
> भकुआ बभना, चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।''[16]

छुआ-छूत सम्बन्धी ये बदिशें गॉव में सिर्फ हिन्दुओं के यहॉ ही नही है। मुसलमान भी इस ढकोसले में बराबर के हिस्सेदार हैं। 'आधा गाँव' {राही मासूम रजा} के सुलैमान चा झॅगोटिया-बो को अपनें घर डाल लेते हैं। यह झँगोटियाँ -बो जाति की 'चमारिन' है, और-''सुलैमान-चा मजहबी आदमी थे, इसलिए वह झंगोटिया-बो की छुई हुई कोई गीली चीज इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। इसलिए घर में एक औरत के आ जानें के बाद भी सुलैमान-चा को अपना खाना खुद ही पकाना पड़ता था।''[17]

ग्राम-भित्तिक उपन्यासों में ऐसे विवरण आम है। और यह सिर्फ औपन्यासिक सच ही नहीं है, ग्रामीण जीवन का ठोस यथार्थ हैं। शहर काफी हद तक छुआ-छूत की इस जकड़बन्दी को शिथिल करता है- ''.........शहर में कोई किसी से जात नही पूँछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना! लेकिन गाँव में तो बिना जाति के आपका पानी नही चल सकता।''[18]

गॉव मे शहर ने लाख बुराइयॉ थोपी हो, इस क्षेत्र मे वह साधुवाद का पात्र है। 'बीस बरस' (राम दरश मिश्र) के दामोदर शर्मा अपने गॉव से जाकर दिल्ली मे रहते है और एक दिन जब गॉव की 'चमरौटी' मे एक 'चमार' के यहॉ जाकर बैठते है तो बेचारे इन चमारो की हिम्मत नही होती कि उन्हे पानी के लिए भी पूछे । सम्बन्धित अश दृशटव्य है-

''देखा एक औरत पानी लिए कुछ दूर खड़ी थी पूछा 'वह कौन है'?
'वह मेरी जनाना है साहब।'
तो पानी लिए उतनी दूर क्यो खड़ी है ?'

'साहब पानी लिए इसलिए खड़ी है कि आपको पियास लगी होगी और पास इसलिए नहीं आ रही है कि पता नहीं आप हमारे घर का पानी पिएँ कि नहीं।'

'मै हँसा और दर्द से मर्माहत भी रह गया। बोला-'हॉ प्यास तो लगी है और यह पानी भी वही है जो हमारे घरो मे होता है। लाओ बहन।''[19]

ये गाँव के दिल्ली प्रवासी दामोदर शर्मा हैं जो चमारों के घर के पानी को अपनें घर के पानी के समान समझते हैं। गाँव के कूप-मण्डूकों के लिए ऐसा आचरण घोर अधर्म है।

किन्तु शहरी सम्पर्क में आकर हर ग्राम वासी की सोच का दिशान्तरण हो ही जाता हो ऐसा भी नही है। 'विस्रामपुर का सत' (श्री लाल शुक्ल) के 'संत' कुँवर जयंती प्रसाद सिह भी वस्तुतः ग्रामीण पृष्ठभूमि से ही हैं किन्तु राज्यपाल बनने के बाद वे राजभवन के सारे पर्दे, सोफे और गलीचे इसलिए बदलवा देते है क्योंकि कल तक ''वह चमार'' (पूर्व राज्यपाल) उन्हें छूता रहा था।[20]

जहॉ जाति और धर्म की इतनी कठोर बंदिशें हों वहाँ अन्तर्जातीय वैवाहिक सम्बन्धों की तो कल्पना भी महापाप है। किन्तु गाँव से शहर आया युवा वर्जनाओं की इस जकड़बन्दी को तोड़ता है। 'उस चिड़िया का नाम' (पंकज विष्ट) का हरीश, कुमाऊँ के एक छोटे से पहाड़ी गाँव के खाँटी ठाकुर परिवार से है, जो बंबई जाकर एक पारसी लड़की सबीरा से विवाह कर लेता है। यह विवाह ही गाँव

मे बैठे हरीश के पिता एव उसके सम्बन्ध विच्छेद का कारण बनता है। वह अपनी ताई से कहता है- 'मैने हिन्दू धर्म का ठेका नहीं ले रखा है, ताई। ''मैनें सबीरा नाम की लड़की से शादी की थी, उसके धर्म से नहीं। इसी तरह सबीरा ने हरीश सिह अधिकारी से शादी की, न कि उसके धर्म से! मै धर्म नही मानता।''[21]

हरीश को शहरवास से ही यह लगने लगता है कि यह सब ढकोसला है, आडम्बर है। तभी तो पिता द्वारा रखे गये इस प्रस्ताव को कि - ''तू बहू को लेकर आ जा। बहू का शुद्धिकरण कर देगे और तुम्हारा विवाह फिर से हिन्दू विधि से होगा।''[22] अस्वीकार कर देता है। इस प्रस्ताव पर वह कहता है- ''एक झूठ को बनाए रखने के लिए दूसरे झूठ का सहारा कैसे लिया जा सकता है! इस सबका परिणाम क्या होगा ? झूठ के कोढ को पनपाना! एक आडम्बर को बनाए रखनें के लिए दूसरा आडम्बर!''[23]

ऐसी ही किन्तु परिवर्तित सन्दर्भो मे, स्थिति पकज विष्ट के उपन्यास 'लेकिन दरवाजा' में भी पेश आती है। नीलाम्बर खॉटी पहाड़ी ब्राह्मण होनें के बावजूद दिल्ली में रहते हुए एक अब्राह्मण लड़की से विवाह कर लेता है। माँ अपनें पुत्र के यहाँ पहाड़ से दिल्ली आती जरूर है लेकिन अपनी बहू के हाथ का छुआ खाना नही खाती। [24]

सिर्फ गॉव से नगर आया हुआ व्यक्ति ही नही, धर्म के इस क्षेत्र का परिवर्तन नगर से गाँव तक भी खूब पहुँचा है और वहाँ भी अभूत पूर्व तब्दीली देखनें में आ रही है। इस परिवर्तन पर 'नमामि ग्रामम्' {विवेकी रॉय} का गाँव अपना दुःख व्यक्त करते हुए कहता है- ''अनंत चतुर्दशी, रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी आदि त्योहारों पर मदिर और मठों में पहले सीधा, {खाद्य सामग्री, यथा चावल आटा, दाल, घी, नमक, हल्दी, दही और सब्जी} इतना अधिक पहुँच जाता था कि संत लोग वर्षो खाते थे और समाप्त न होता था। अब छिछले बरतन में पसारकर आटा और ऊपर से एक पिडी गुड़ को रखकर लोग दे आते हैं। फर्ज अदायगी-भर हो जाती है। कारण, लोग धीरें-धीरें जाननें लगे हैं, यह सब दान आदि व्यर्थ है। इससे कुछ लाभ नहीं। अपना कमाना खाना है। हृदय की श्रद्धा नष्ट हो गई है।''[25] ऐसा लग रहा है कि यह गाँव नहीं बोल रहा बल्कि पंडे-पुजारियों

का कोई दलाल बोल रहा हो, अन्यथा इन सतो-महतो की सच्चाई से कौन वाकिफ नही है। गॉव वाले अब अगर इनके निमित्त, अपना पेट काटकर भोजन नहीं जुटाते तो भला कौन सा अधर्म हुआ। यह तो वही देहाती मसल हो गई- 'मरि-मरि करै बैलवा, बैठे खायँ तुरग।' आज जब स्थिति बदल रही है तो इन दुः ख भरे 'तुरगों' से कवि के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है-

''जो कुछ पुराना है, मोहक तो लगता है
टूटन का दर्द मगर सहना तो पड़ता है।''[26]
- गिरिजा कुमार माथुर

इस 'टूटन का दर्द' सहने वाले लोगों के सन्तोष के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन भी याद दिलाया जा सकता है- ''देश और जाति की विशुद्ध सस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ मे मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गगा की भॉति अबाधित -अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करनें के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और सस्कृति का मोह क्षण भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का सस्कार थोड़ी देर इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं।''[27]

अन्य धार्मिक संस्कार और नगर

हिन्दू धर्म में जन्म से लेकर मृत्यु तक के 'षोडस सस्कारों' की व्यवस्था है जिसमें 'पुंसवन' के प्रथम संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि का अन्तिम सस्कार तक परिभाषित है। आधुनिक युग में इन सस्कारो का महत्व नगरों में तो घटा ही है। इनकी उपेक्षा गाँव तक में भी होनी आरम्भ हो गई है। हिन्दी उपन्यास के सदर्भ में कुछेक संस्कारों का जायजा लिया जा सकता है।

उपनयन संस्कार हिन्दुओं के यहाँ अति महत्वपूर्ण संस्कार के रुप में प्रतिष्ठित रहा है। 'उपनयन' की व्यवस्था ऊपर के तीन वर्णो-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तक सीमित थी। शूद्र और स्त्री दोनों के लिए यह नितान्त वर्जित था। शूद्रों के लिए इसकी चेष्टा करने पर घोर दण्ड का विधान था।

वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर लिखे गये उपन्यास- 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' मे झाँसी के राजा गगाधर द्वारा एक शूद्र के जनेऊ-धारण करने पर उसे ताँवे की गर्म तार को जनेऊ का आकार बनाकर पहनाने का कठोर दण्ड दिया जाता है।[28] यह पुरानी बात है। शुरूवात मे शूद्र वर्ग ने जनेऊ-धारण का प्रयास किया था, आज तो ब्राह्मण वर्ग भी इस झमेले में नही पड़ता और खासकर वे जो नगर के सम्पर्क मे आ जाते है।

'लेकिन दरवाजा' (पकज विष्ट) का नीलाम्बर ब्राह्मण होनें के बावजूद कभी जनेऊ नहीं पहनता। देवेन उसके बारे में बताते हुए कहता है- ''जहाँ तक नीलाम्बर की नास्तिकता का सवाल था, उसमे मुझे संदेह नहीं था। ठुल धोतिया ब्राह्मण होने के बावजूद, उसने कभी जनेऊ नहीं पहना था। संभव है, उसका यज्ञोपवीत संस्कार ही न हुआ हो।''[29] यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि ब्राह्मण का एक पर्याय शब्द 'द्विज' का सम्बन्ध इसी यज्ञोपवीत से होता है। द्विज अर्थात दो बार जन्म लेनें वाला। इस सस्कार के बाद ही ब्राह्मण वास्तविक रूप से ब्राह्मण बनने का अधिकारी होता था और किसी ब्राह्मण के लिए ऐसा न करना अकल्पनीय था। किन्तु आज नीलाम्बर ('लेकिन दरवाजा') जैसे उदाहरण आम है।

हिन्दू धर्म के आदि व्यवस्थापकों ने 'काम-नियमन' एव सृष्टि -नैरन्तर्य के लिए विवाह संस्कार की व्यवस्था की है। हिन्दू धर्म में जीवन का प्रवेश द्वार होने के कारण भारतीय सस्कृति में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हिन्दू विधि-विवाह रीति में अग्नि को साक्षी मानकर मत्रोचार के बीच अग्नियुक्त वेदिका के सात फेरे वर-वधू द्वारा लगाये जाते हैं। किन्तु आज विवाह दैवीय विधान न हो कर एक 'सामाजिक समझौते' के रूप मे व्याख्यायित किया जा रहा है। यद्यपि यह रूप महानगरों की ही विशेषता बनकर उभरा है, परन्तु चंद मात्रा में महानगरों से नगरों और वहाँ से गाँव तक भी पहुँच रहा है। यद्यपि गाँव में ऐसे उदाहरण अति अल्प हैं जहाँ विधिवत विवाह में परम्परागत रीति का निर्वाह न किया जाय। गाँव से इस नई सोच का सम्बन्ध उसी रूप में जुड़ता है जब कोई ग्राम-जन गाँव से आकर शहर में रहनें लगता है।

'उस चिड़िया का नाम' (पंकज विष्ट) का हरीश बंबई मे रहकर पारसी युवती से विवाह करता है। एक दिन अपने पैतृक पहाड़ी गॉव आने पर उसकी ताई जब उससे इसरार करती है कि वह कभी बहू को बबई से गॉव ले आए क्योकि - ''जब होगी पारसी तब होगी! अब तो हमारी बहू हुई! जिस दिन उसने तुझसे शादी की, अग्नि के सात फेरे लिए, उसी दिन वह पवित्र हो गई!''[30] अग्नि के सात फेरो की बात सुनकर हरीश कहता है- ''सात फेरे! अरे किस उल्लू के पट्ठे ने किए अग्नि के सात फेरे, ताई हमने तो बस कोर्ट में शादी की है। इसलिए पवित्र तो वह हुई ही नहीं!''[31] अब तो महानगरो में बिना कोर्टशिप के भी सुविधानुसार स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहने लगे है। महानगरीय जीवन पर आधारित हिन्दी उपन्यासो में ऐसे विवरण अनेकशः चित्रित है। हाल में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी एक ऐसा निर्णय दिया है जिसके अनुसार बिना किसी विवाह या कोर्टशिप के भी जोड़े साथ-साथ रह सकते है। परन्तु गॉव की दुनियॉ मे यह स्थिति अभी भी अकल्पनीय ही है। वहॉ तो ऐसी स्त्री को 'रखैल' की सज्ञा ही मिलती है।

हिन्दुओं के अन्तिम सस्कार के साथ आध्यात्मिक स्तर पर परलोक का दर्शन जुड़ा हुआ है। हिन्दू धर्म दर्शन यह मानता है कि आत्मा अमर है और जब तक शव का विधि-विधान पूर्वक अन्तिम संस्कार नहीं सम्पन्न कर दिया जाता तब तक यह भटकती रहती है। इस विधान का प्रारम्भ आसन्न मृत्यु काल के गोदान से लेकर 'तेरहवीं' के मृत्योपरान्त तेरहवें दिन तक का होता है।

हिन्दू व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसको मुखाग्नि देने का अधिकार बड़े पुत्र का होता है, अगर है तो। इधर के जीवन में व्यक्ति की व्यस्तता के कारण और विज्ञान के उन्मेष के चलते लोगों की इस विधि-विधान सम्बन्धी कर्मकाण्ड पर आस्था निरन्तर घटी है। गाँव में रहनें वाले कुछ ईश्वर के भय से और कुछ 'लोक -लाज' वश अभी इन परम्पराओं का पालन कर रहे हैं परन्तु वे जो गाँव से जाकर शहर में और विशेषकर महानगरों में बस चुके हैं सरेआम इनकी उपेक्षा का साहस भी दिखा देते हैं।

शव के साथ 'श्मशान' तक स्त्रियों का जाना परम्परा से कतई वर्जित है किन्तु 'उस चिड़िया का नाम' (पंकज विष्ट) की रमा-जो डॉ. है और दिल्ली में रहती है, अपने पिता के शव के साथ श्मशान स्थल तक जाती है। जब उसके ताऊ इस पर आक्षेप करते हुए कहते हैं- ''बेटा पर हमारे यहाँ

तो ऐसा नही होता।...........औरतें हमारे यहॉ श्मशान नही जातीं।''[32] तो रमा का जवाब होता है- ''ताऊ जी मेरे साथ परम्परा का मामला नहीं चलता। औरते तो हमारे यहॉ घास काटती है।''[33]

डॉ. रमा अपने इस पहाड़ी गॉव की परम्परा को श्मशान जाकर तोड़ती है तो उसका बबईवासी भाई हरीश भी इन सस्कार सम्बन्धी परम्पराओ को पूरी दृढ़ता से चुनौती देता है। अन्त्येष्टि के दसवे दिन आम तौर पर मृतक के परिवार जनो में से प्रत्येक पुरूष को बाल मुँड़वाने पड़ते है। परन्तु हरीश पिता की मृत्यु के बाद ऐसा करवाने से साफ इंकार कर देता है। वह रमा से कहता है- ''पर बैणी, मेरा बाल न कटवाना किसी भी तरह के विरोध के कारण नहीं था। असल में इन बातों का चाहे जो महत्व रहा हो, आज कोई अर्थ नही है। हम पढ़े-लिखे है। पढ़े -लिखे लोगों का इस तरह की हरकतो में शामिल होना एक उदाहरण बनता है। तर्क तो सदा वही रहेगे सम्बन्धों और परंपराओं की दुहाई के, पर नुकसान समाज का होगा। हमें इस तरह की बातों का विरोध सक्रिय रूप से करना होगा।''[34]

जाहिर है हरीश का विरोध महज विरोध के लिए नहीं है। परन्तु वह इन घिसी-पिटी परम्पराओं के सिलसिले को बनाए रखनें का कोई औचित्य नहीं देखता हरीश के तर्कों से परम्परावादी भले सहमत न हों और इसमें उन्हें सास्कृतिक क्षरण दिखाई देता हो किन्तु उसके तर्कों को एक दम खारिज नही किया जा सकता।

इधर के वर्षों में देश मे 'दिखावे 'की प्रवृत्ति खूब बढ़ी है, और धर्म भी इसका शिकार हुआ है। अगर शहरो के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय जो नवरात्रि आदि में मदिरों में जो भीड़ उमड़ती है उसे देखकर सहसा तो यही लगता है कि लोगों में अभूतपूर्व धार्मिक भावना जाग्रत हुई हैं; किन्तु किस्सा कुछ और ही है। दरअसल लोगों के लिए मंदिर जाना और 'पिकनिक' लगभग समान अर्थों वाला हो गया है। धर्म के क्षेत्र की यह प्रदर्शनप्रियता गाँवों तक भी खूब पहुँची है। नवरात्रि में दुर्गा प्रतिमा की स्थापना और विसर्जन के समय की हुल्लड़ गाँवों के शांत वातावरण में शोर उत्पन्न करने से ज्यादा की भूमिका नही निभा रही है। यह किस्सा हाल के वर्षों में ही शुरु हुआ है और शायद अभी हिन्दी उपन्यासकार की नजर इस पर नहीं पड़ी है ।

जैसा कि स्थापित तथ्य है कि भारतीय जन का जीवन धर्म से अनुप्राणित होता है । यहॉ जीवन के प्रत्येक रग मे धर्म का लहू ही सचरित होता है । भारतीय त्योहारो के कारण भले ही प्रकारान्तर से कुछ और हो, प्रत्यक्षतः उनका सबध धर्म से जुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है ।

गाँव : त्योहार और नगर प्रभाव

भारतीय ग्रामीण समाज मे त्योहारो का व्यापक महत्व रहा है किन्तु अब स्थिति बदलती हुई सी दिखाई दे रही है । त्योहार टूट रहे हैं और उखड़े, टूटे, बँटे और उदासीन ग्रामीण त्योहारों के नाम पर बस किसी तरह परम्पराओ का बोझ सा ढोते हुए प्रतीत हो रहे है । अतरतम का छलकता हार्दिक उल्लास जो ग्रामीण त्योहारों की अपनी खास पहचान थी, अब सर्वथा अलक्षित है । डॉ. विवेकी रॉय को लगता है कि ''यह चतुर्मुखी उपरति और विमनता उस विशाल प्रक्रिया का प्रभाव है जिसे गॉवों का नगरीकरण कहते हैं और जो तीव्र गति से विकास योजनाओं के माध्यम से गॉवों में आ रहा है । गॉवों और नगरों का अन्तर अभी किसी सुदूर भविष्य में मिटने वाला है किन्तु वर्तमान नगर के आर्थिक आक्रमण को अपने सांस्कृतिक मेरुदण्ड तथा जीवन की आदि रस-धारा के सनातन स्रोत त्योहारों की बलि देकर गाँव झेल रहा है ।''[35]

होली कदाचित गॉव का सबसे मादक और रगीन त्योहार है । इसमें धार्मिक कारण के साथ-साथ आर्थिक एवं वैज्ञानिक कारण निहित है । फाल्गुन की समाप्ति तक किसान अपनी रबी की फसल खेत से समेटकर खलिहान में रख देता है । साल भर की मेहनत को एकत्रीभूत देखकर वह आनन्दमग्न हो उठता है । बसन्त का उन्मादक महीना उसकी आनन्दवृत्ति को उभारता है और बौराए हुए आम की डाल पर कूक रही कोयल के साथ तान मिलाते हुए वह भी फागुन के गीत गा उठता है। मुशी जी गाव के त्योहारों के संदर्भ में होली की चर्चा करते हुए लिखते हैं- ''देहातों में साल के छः महीनें किसी न किसी उत्सव में ढोल -मजीरा बजता रहता है। होली के एक महीना पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है । असाढ़ लगते ही आल्हा शुरु हो जाता है और सावन- भादों में कजलिया होती हैं । कजलियों के बाद रामायण गान होने लगता है । सेमरी भी अपवाद नहीं है । महाजन की धमकियाँ और कारिन्दे की बोलियाँ इस समारोह में बाधा नहीं डाल सकती। घर में अनाज

नहीं है, देह पर कपड़े नहीं है, गॉठ मे पैसे नहीं है, कोई परवाह नही । जीवन की आनन्दवृत्ति तो दबाई नहीं जा सकती, हॅसे बिना तो जिया नहीं जा सकता ।''[36] होली गॅाव के लिये कितना महत्वपूर्ण त्योहार है यह रेणु की जुबानी भी श्रवणीय है- ''मॅहगी पड़े या अकाल हो, पर्व त्योहार तो मनाना ही होगा। और होली ? फागुन महीने की हवा ही बावरी होती है। आसिन-कातिक के मलेरिया और कालाजार से टूटे हुए शरीर मे फागुन की हवा सजीवनी फूॅक देती है। रोने-कराहने के लिए बाकी ग्यारह महीने तो है ही, फागुन भर तो हॅस लो, गा लो। जो जीयै सो खेलै फाग। दूसरे पर्व -त्योहार को तो टाला भी जा सकता है। दीवाली में एक-दो दीप जला दिये , बस छुट्टी। लेकिन होली तो मुर्दा दिलो को गुदगुदी लगाकर जिलाती है। बौरे हुए आम के बाग से हवा आकर बच्चे -बूढ़ो को मतवाला बना जाती है।''[37] यह बीसवी शताब्दी के छठ्वे दशक का जमाना है यानि आज से लगभग आधी शताब्दी पहले का। होली का रग यहॅा भी उतरता हुआ दिखाई पड़ने लगा है। कोयरी टोले का बूढ़ा कलरु डा0 प्रशान्त को बताता है - ''अरे डा0 साहब! अब क्या लोग होली खेलेंगे! होली का जमाना चला गया।''[38]

होली का जमाना कहॉं चला गया, क्यों चला गया, इसकी कोई व्याख्या कलरु नही कर पाता। डा0 प्रशान्त तो बेचारा बाहरी आदमी है। होली की बदरगी का पूरा श्रेय नगर को जाता है। शुरु-शुरु में तो गॉंव के आदमी को उसनें खींच लिया। राम दरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटजा हूआ' के गॉंव तिवारी पुर का वशी तिवारी पैसा कमानें कलकत्ता चला जाता है। वहॉं से सूचना भेजता है- ''पारबती के बाबू नहीं आये, लिखा है, इस साल होली पर नहीं आयेंगे। कुछ रूपया इक्ट्ठा कर रहे है परबतिया के विवाह के लिए।''[39] और यहॉं उनकी पत्नी सलोना और घरवालों की यह दशा है- ''सलोना ने निराश ऑखों से लुग्गे की ओर देखा-डेढ़ साल तो हो गए इसे पहनते, कितना चले बेचारा............ परसों होली है। किसी के पास नए कपड़े नहीं!......... कुछ रूपये कलकत्ते से आए तो हैं होली के लिए मगर क्या उन्हें होली के लिए खर्च कर देना चाहिए ? कर्जा-पताई, मालगुजारी..........।''[40] कुल मिलाकर अनेक बाधाएँ आ खड़ी हुई हैं होली के उल्लास -मार्ग को अवरुद्ध करने।

किन्तु अब स्थिति वैसी नही रही। कुछ दिन नगर मे रह आए लोगों को अब होली का तमाशा अच्छा नहीं लगता। फागुन मे बजाये जानें वाले वाद्य यन्त्र, जो किसी जमानें में ग्रामीणो की रग-रग फड़का देते थे, कुछ दिन इलाहाबाद मे शिक्षा प्राप्त कर गॉव लौटे किसी मगनचोला को 'लकीरो का ढोल-झाझ पीटना' जैसा वाहियात काम लगता है।[41] इस बदली हुई मानसिकता पर 'सोना माटी' {विवेकी रॉय} का ही सुसस्कृत ग्रामीण रामरुप कहता है- ''भरे परिवारो मे रहकर, माता-पिता, पति-पत्नी और भाई-भाई जैसे स्वीकृत सम्बन्धो की भीड़ में रहकर भी आज का आधुनिक आदमी अजनबी और अकेला है। आजीविकार्थ दूर-दराज के नगरो में प्रव्रजित मध्य वर्गीय आदमी पर्वो पर किसी आदिम खुशियाली के नशे में परिवार से आकर जुड़ता अवश्य है परन्तु उसका पुराना सांस्कृतिक नशा जो नए सामाजिक यथार्थ से टकराता है और उसमें जो एक नई उखड़ी हुई मानसिकता का प्रादुर्भाव होता है उसी के प्रभाव से हमारे त्योहार मृत और जड़ परम्परा मात्र लगते है।''[42]

बात अगर यहीं तक होती तब भी गनीमत थी। उपन्यास में कुछ दिन शहर मे रहकर गॉव आया यह युवा वर्ग होली के बहानें चंदे के नाम पर लोगों को लूटता है। ''आज किसी का मुर्गा तो कल किसी का बकरा और परसों किसी के द्वार पर रखा सरसों का बोरा छू-मन्तर हो जाता। बनिया महाजन लोगों के नाक में दम है। रात-रात भर 'जोगानी' और 'जोगीड़ा' की पार्टी घूमती। फटहे-फटहे 'कबीर' बोले जाते। किसका कौन पद में लगेगा, कोई विचार नहीं।''[43]

होली में भॉंग पीनें की गाँव में सनातन परम्परा रही है। ठीक उसी प्रकार जैसे 'ब्रह्मपुत्र' {देवेन्द्र सत्यार्थी} के असम क्षेत्र में 'बिहू' के अवसर पर बच्चे-बूढ़े सभी 'लाओं पानी' के नशे का आनन्द उठाते है।[44] किन्तु अब गॉवों में सरकार की कृपा से देशी शराब की सहज उपलब्धता हो गई है और गॉव का युवा वर्ग विशेषकर शहर से लौटा, त्योहार के बहाने छककर शराब पीता है और फिर - ''फिर हो हो-हो हो के तूफान के साथ 'सारा-रा -रा सारा-रा-रा....... अब मजा है दो घड़ी का.........अब बजाओं नागड़धिन्ना .... जोगी जी, धीरे-धीरे, बदी का तीरे-तीरे।........सारा-रा-रा, सारा-रा-रा....।' के साथ वह तूफान मेल रात-रात भर नथती है कि होली नहीं 'लिहो-लिहो' की डकैती में सारा गठिया गॉव हिल जाता है।''[45] गाँव की होली किस प्रकार 'नगर-सभ्यता' की चपेट में है इसका मार्मिक विवरण राम दरश मिश्र के उपन्यास 'बीस बरस' {1996} में भी द्रष्टव्य है। गाँव के रहनें वाले दामोदर

शर्मा अनेक वर्षों बाद दिल्ली से होली के मौके पर गॉव आये है। उनके जेहन में गॉव की होली की पुरानी स्मृतियॉ रची -बसी है। उनका अपने समवयस्क अगद से यह वार्तालाप दृष्टव्य है-

''अगद भाई, होली कब जलेगी ?''

''अरे जब चाहे जल जाये। इसमे अब क्या रखा है। बस छुत छुड़ानी है।''

''होली जलने के बाद रात भर चौताल गायन भी तो होगा।''

''अरे कब की बात कर रहे हो दामोदर भाई। एक जमाना हो गया वह दुनिया उजड़े हुए। अब आये हो तो सब खुद ही देख लो।''

''आपको याद है अगद भाई, सामने मुखिया के ओसारे मे रात भर मर्दों और औरतों की चौताल-स्पर्धा होती थी और आप और सुरेश हाथ में करताल लिए एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए नाचते थे। ओसारे से कूद कर नीचे के बिस्तार मे आ जाते थे फिर नाचते-नाचते ओसारे में चले जाते थे।''

''अरे वे दिन अब कहॉं रहे ? अब आज के लड़कों को गाना होगा तो सिनेमा के गीत गायेंगे, नाचना होगा तो विदेशी कमर-मटकाऊ नाच नाचेंगे।''[46]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में गॉव के अन्य त्योहारों में नागपंचमी {'जल टूटता हुआ' - राम दरश मिश्र}, मकर संक्रान्ति {'अलग-अलग वैतरणी' - शिव प्रसाद सिंह और 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा'} 'श्याम चकेवा' {'परतीः परिकथा' - रेणु}, मोहर्रम {'आधा गॉंव' - राही मासूम रजा तथा 'काला जल' - शानी} आदि का चित्रण हुआ है।

बदले हुए वक्त की बदली हुई परिस्थितियों बें गॉंव में इब त्योहारों के रंग को काफी हद तक फीका कर दिया है। 'आधा गॉंव' {राही} के मुहर्रम के उदाहरण के फीकेपन से इस प्रभाव को देखा जा सकता है। शिक्षा, व्यवसाय तथा दलबन्दी के चलते मुहर्रम की मजलिस इस तरह उखड़ जाती है कि ''आज शब्बीर पे क्या आलमें-तनहाई है!'' के पहले मिसरे के साथ ही मजलिस में शामिल

गगोली के बचे-खुचे लोग भर-भरा का रो पड़ते है क्योकि उन्हे मालूम हो चुका था कि 'आलमे-तनहाई' कहते किसे है!

गॉव के बहुत सारे गीतो-लोकगीतो का सम्बन्ध प्रत्यक्ष त्योहरो से जुड़ा होता है। जमाने की नई हवा ने जब त्योहारो को बुरी तरह प्रभावित किया तो यह स्वाभाविक ही था कि लोकगीत भी इस असर से अछूते न रह पाते।

गॉव की मोहक और कोमलम चीजों मे से एक है लोकगीत। गॉव का व्यक्ति शायद अपने आर्थिक अभाव की पीड़ा गीत के रस मे डूबकर भूल जाने का आदी रहा है। तभी तो उसके हर काम मे गीत उसका सहारा बन जाया करते है। ग्रामीण औरतों का तो मानो गीतों से अटूट नाता होता है। उसके पास हर मौके के लिए अलग-अलग गीत होते हैं। सुबह अनाज पीसनें के वक्त जाँत के गीत, पानी भरने के गीत, कटनी के गीत, शादी-व्याह के विभिन्न अवसरो के अलग-अलग गीत, जन्मोत्सव, मुडन, कन्छेदन, तिलक के गीतों के अतिरिक्त ऋतु विशेष के गीत - कजरी, सावन, चैता, बिरहा आदि के साथ विभिन्न त्योहारो के अलग-अलग गीत। किन्तु इन गीतो की दुनिया आकाशवाणी-दूरदर्शन के लोक कार्यक्रमों तक सिमटती हुई नजर आ रही है।

जहॉ तक इन ग्राम-गीतों के साथ नगर का सम्बन्ध है तो गॉव के बहुत से गीत तो ऐसे भी हैं जिनका जन्म ही नगर के कारण हुआ है। एक गीत मे गॉंव का कोई 'पिया' अपनी 'प्यारी' को छोड़कर धन कमाने नगर जा रहा है तो वह अपनी पीड़ा को कितनी मार्मिक अभिव्यक्ति देती है-

''रैलिया बैरिन पिया का लिए जाय रे
जौनें शहरवा मा पिया मोर नौकर
लागै अगिया शहर बरि जाय रे।''

ठीक इसी अवधी लोक गीत का पजाबी सस्करण अमृता प्रीतम के उपन्यास 'नागमणि' मे मिलता है जिसे एक पहाड़ी गॉव के निवासी चेतू के अमृतसर चले जाने पर उसकी पहाड़न गाती है- ''जली आये शहरॉ दा रहणा।''[47]

भले ही किसी जमानें मे गॉव मे शहर के चलते इस प्रकार के लोकगीतों का जन्म हुआ हो। आज तो शहर के कारण ही गॉव के गीत मर रहे है और इन लोकगीतों का स्थान ले रहे है सिनेमा के गीत। डॉ. राम दरश मिश्र की कल्पना मे होरी भले ही 'हियरा जरत रहत दिन रैन' का बूढ़ा राग अलापता हो उसका प्रपौत्र चदन तो शहर से आकर गॉव मे भी सीटी बजाते हुए गाता है- ''रूप तेरा मस्ताना।''[48]

''सोना माटी'' (विवेकी रॉय) का मगनचोला भी इलाहाबाद से गॉव वापस आकर कुछ नए होली गीतो की रचना करता है। एक बानगी प्रस्तुत है-

''कौन जो साला 'नाही' करता ?
कौन ससुर इनकार ?
किसके साथ सनीचर आया ?
किसको 'फड' नहीं स्वीकार ?''[49]

गॉव से अब लोकगीत उठ रहे हैं। यदि कोई गाता है भी है तो श्रोता नदारद। कारण, टी. वी. और रेडियो से प्रसारित होनें वाले फिल्मी गीतो की गूँज गाँव के घर-घर में बस रही है। 'कसप' (मनोहर श्याम जोशी) का देवीदत्त वर्षों बाद अमेरिका से लौटकर जब अपने पहाड़ी गाँव आता है तो देखता है-''गगोली हाट नेपाल से तस्करों द्वारा लायी गयी, चीन द्वारा नेपाल भिजवाई गई, पोलिएस्टर की कमीज पहने है, ट्रांजिस्टर पर विविध भारती सुन रहा हैं।''[50]

जहाँ तक स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में लोक गीतों के चित्रण का सम्बन्ध है तो कह सकते हैं कि 'आँचलिकता की प्रवृत्ति नें लोक गीतो को गाँव के खेत-खलिहान से उठाकर साहित्य के अमर पृष्ठों के साथ जोड़ दिया' और इस क्रम में 'मैला आँचल', 'परती: परिकथा' (रेणु) 'अलग-अलग वैतरणी' (शिव प्रसाद सिंह), 'माटी के लोग सोने की नैया' (मायानन्द मिश्र), 'बबूल' (विवेकी रॉय),

'आधा गॉव' {राही मासूम रजा}, 'रीछ' {विश्वम्भर नाथ उपाध्याय} 'सूरज किरन की छॉव' {राजेन्द्र अवस्थी}, 'जल टूटता हुआ {राम दरश मिश्र} जैसे विशिष्ट नामो का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु नगर से गॉव तक पहुँचे सिनेमाई प्रभाव ने किस तरह लोकगीतों का रस सोख लिया इसकी चर्चा हिन्दी उपन्यासो मे कदाचित नही के बराबर ही हुई है।

सिनेमा पूर्णतया नगर-जीवन का अग होते है। इसमे शुभ-सदेश देने की अद्भुत क्षमता है किन्तु आज का भारतीय सिनेमा पूरी तरह व्यावसायिकता के दबाव मे है। अपनी शुरुआत से लेकर एक लम्बे अर्से तक यह सार्थकता से जुड़ा रहा किन्तु कालान्तर मे राह भटक कर अपसस्कृति का वाहक बन गया।

आज टी. वी. के द्वारा इसकी पहुँच गॉव-गॉव तक हो गई है और युवा वर्ग पूरी तरह इसके चपेट मे है। प्रेम, जिसकी भाषा आम तौर पर 'मौन' स्वीकार की जाती है, इस सिनेमा के द्वारा मुखर ही नही वल्गर रूप मे चिल्लाता हुआ प्रतीत हो रहा है। प्रेम जब शब्दों में ढलकर अनावृत्त रूप में सामने आता है तो अपना महत्व खो बैठता है। जैसा कि 'प्रेम मार्ग का धीर और प्रवीण पथिक' घनानन्द लिखता है- ''बखानें ते जाय परो, दिन रात को अन्तर।'' 'परतीः परिकथा' {रेणु} की ताजमनी, जितेन्द्र को प्राण-पण से चाहती है किन्तु अपनीं चाहना को कहीं शब्दरूप नहीं देती। जबकि 'राग दरबारी' {श्रीलाल शुक्ल} की ग्राम्या बेला के प्रेम पर हिन्दी सिनेमा का यह प्रभाव दर्शनीय है {वह बद्री को यह प्रेम पत्र भेज रही है} –

''ओ सजना, वेदर्दी बालमा,

तुमको मेरा मन याद करता है। पर......चॉद को क्या मालूम, चाहता उसको कोई चकोर। वह बेचारा दूर से देखे करे न कोई शोर। तुम्हें क्या पता कि तुम्हीं मेरे मंदिर, तुम्ही मेरी पूजा, तुम्हीं देवता हो, तुम्हीं देवता हो। याद में तेरी जाग-जाग के हम रात-भर करवटे बदलते हैं।

अब तो मेरी यह हालत हो गई है कि सहा भी न जाये, रहा भी न जाये देखो न मेरा दिल मचल गया, तुम्हें देखा और बदल गया। और तुम हो कि कभी उड़ जाये कभी मुड़ जाये भेद जिया का खोले ना। मुझको तुमसे यही शिकायत है कि तुमको प्यार छिपाने की बुरी आदत है। कहीं दीप जले कहीं दिल, जरा देख तो आकर परवाने ।..........''[51]

यह 'प्रेमपत्र' थोड़ा लम्बा है परन्तु इस अश से ही पूरे का अदाजा लगाया जा सकता है।

ग्राम-सस्कृति के लगभग हर क्षेत्र को, बरास्ते टी. वी. पहुँचे सिनेमा नें प्रभावित किया है। आज छोटे-छोटे बच्चो को गॉवो में सिनेमा के अश्लील गीत तोतली जुबान से गाते सुना जा सकता है। टी वी. मे आने वाले 'ऐड' के अनुसार अपरिचित से यौन सम्बन्ध बनाइये, बस जरा होशियारी के साथ। 'सब कुछ दिखता है' वाली साबुन से लेकर ब्लेड तक के उत्पादों को बेचने के लिए नारी देह का उपयोग आज के व्यवसायी इन्द्रो द्वारा 'मेनका' और 'रम्भा' की भाति किया जा रहा है । हमारी सस्कृति-विशेषकर ग्राम-संस्कृति - को यह अपसस्कृति कौन सा आयाम देगी, राष्ट्रीय स्तर पर यह विषय बहस का मुद्दा होना चाहिए।

गॉव अपनी परम्परागत वेश-भूषा में जीने वाली इकाई रही है। स्वतन्त्रता पूर्व युग में गॉव मे प्रभु वर्ग यह तय करता था कि कौन कैसे रहेगा, किस ढग के कपड़े पहनेगा। इस सदर्भ में एम.एन. श्रीनिवास जे.एच. हटन की पुस्तक 'भारत में जाति' के हवाले से लिखते है- ''दिसम्बर 1930 में कल्लरो द्वारा रामनाड में आठ निषेध घोषित किए गये, जिनका उल्लंघन करने पर कल्लरों द्वारा हरिजनो के साथ मार-पीट होती थी, उनकी झोपड़ियाँ जला दी जाती थी, खलिहान और दूसरे सामान को नष्ट कर दिया जाता था और पशु लूट लिए जाते थे। वे आठ निषेध निम्नलिखित थे—

1. आदि-द्रविण सोनें चाँदी के गहनें नही पहनेंगे।
2. पुरूष अपने कूल्हों के ऊपर वस्त्र नही पहनेंगे।
3. पुरूष, कोट, कमीज या बनियान नहीं पहनेंगे।
4. कोई आदि द्रविण अपने बाल नहीं छँटायेगा।
5. आदि-द्रविण अपनें घरों में मिट्टी के बरतनों के सिवाए और किसी प्रकार के वर्तनों का व्यवहार नही करेंगे।
6. उनकी स्त्रियाँ अपने शरीर का ऊपरी भाग कपड़ों से नही ढकेंगी।

7. उनकी स्त्रियाँ फूल या केसर लेप का व्यवहार नहीं करेंगी।

8. पुरूष धूप या वर्षा से बचने के लिए छतरी का उपयोग नहीं करेगे न चप्पले पहनेगे।''[52]

यद्यपि उत्तर भारत मे ऐसी कठोर वर्जनाओं का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु इनमे से कुछ ठीक इसी रूप मे विद्यमान थीं।

'बलचनमा' {नागार्जुन} का नायक बलचनमा जब पटना में जाकर पहली बार बाल छँटवाता है तो अपने पुराने अनुभव सुनाते हुए कहता है- ''हमारे गॉव मे पंडितो का बड़ा दबदबा था। राज ही उन्हीं का था। अब तो थोड़ा बहुत जमाना बदल भी गया है, लेकिन कुछ पहिले अगर तुम इसी तरह सतमहला बाल छँटाये, दाढ़ी-मूँछ साफ किए मेरी बसती मे पहुँच जाते तो परलय मच जाता।''[53] आगे बलचनमा बताता है कि किस प्रकार उसके बाप और मामा को गाँव में विप्र वर्ग द्वारा बाल छँटाने पर दण्डित किया गया था।

आज स्थिति ऐसी नही है। उत्तर हो चाहे दक्षिण, हर जगह का निम्न वर्ग ठीक उसी भाँति रहनें का अधिकारी है जैसे प्रभु वर्ग। निम्न वर्ग के वेशा-भूषा सम्बन्धी बदलाव को देखकर गाँव का उच्च वर्ग कुनमुनाता जरूर है। परन्तु अब वैसे पुराने दिन लद गये। 'अलग-अलग वैतरणी {शिव प्रसाद सिह} का जगेसर जब शहर से लौटता है तो माँ के लिए साड़ी ब्लाउज, पत्नी के लिए साड़ी ब्लाउज के साथ उठे हुए वक्ष वाली नयी कट की चोली, तथा बाप चौधरी के लिए मिरजई और भागलपुरी सिल्क का चदरा लाता है।[54]

'मैला आँचल' {रेणु} की चर्मकार पुत्री फुलिया भी जब गाँव से शहर जाकर वापस लौटती है तो- ''एक दम बदल गई है फुलिया। साड़ी पहननें का ढंग, बोलनें -बतियानें का ढंग, सब कुछ बदल गया है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली अँगिया के नीचे जैसी छोटी चोली पहनती है, वैसी वह

भी पहनती है। कान मे पीतर के फूल है। फूल नहीं, फुलिया कहती है- कनपासा। ऑचल मे चाबी का गुच्छा बॉधती है, पैर मे शीशी का रग लगाती है।''[55]

नगर -प्रभाव के चलते गॉव के स्त्री-पुरुष दोनों के पहनावे मे फर्क आया है और प्रत्येक वर्ग-वर्ण के लोगो के बीच इस सम्बन्ध मे एकरूपता दिखाई देती है।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे फर्श पर बैठकर भोजन करने की परम्परा रही है। भोजन या तो पत्तों पर या धातु की थालियो मे परोसा जाता था। भोजन बनाते समय स्त्रियो का कर्मकाण्ड की दृष्टि से पवित्र होना आवश्यक था क्योकि भोजन प्रारम्भ करने से पहले देवता को भोग लगाया जाता था। वयस्क पुरुष भोजन के समय पवित्रता के लिहाज से कपड़े उतारकर सिर्फ धुली हुई धोती पहन भोजन करने बैठते थे।

नगरो मे शिक्षित और पश्चिमीकृत समूह अधिकाधिक मेजों पर खाना पसन्द करता है। पूरे कपड़ों और जूतों समेत। यह ढंग ठीक इसी रूप में गॉवों का तो नहीं हो सकता किन्तु नगर प्रभाव के चलते इतना जरूर हुआ है कि शुद्ध-अशुद्ध खाद्य-अखाद्य जैसे विचारों में गाँवों में भी भारी तब्दीली आयी है। अडों का प्रयोग गाँवों में भी खूब होने लगा है। तथाकथित ऊँची जातियाँ भी इसका लुके-छिपे और कहीं-कहीं खुलकर व्यवहार करती है। पहाड़ का विशुद्ध ब्राह्मणवंशीय नीलाम्बर दिल्ली आकर क्या-क्या खाता है इसकी एक बानगी देखी जा सकती है- ''ची-बो हार है भुनी झींगा मछली, जुग चुग यू है स्मोक्ड पामफ्रेट, चाऊलान पाई कु है पोर्क और शाओ चू है रोस्टेड पिग!''[56] जबकि इसी नीलाम्बर की माँ जब पहाड़ से एक बार दिल्ली आती है तो अपनी बहू के हाथ का छुआ खाना भी नहीं खाती।

संक्षेप में कहें तो- ''शिक्षा, ऊँची आमदनी और नगरीकरण से जीवन शैली का लौकिकीकरण होता है, जिसमें भोजन की प्रविधि के साथ-साथ भोजन के समय और भोजन की वस्तुओं में भी मूलभूत परिवर्तन शामिल है।''[57]

ग्रामीण सस्कृति के अन्य अग यथा 'मेला' 'कीड़ा' 'खलिहान' कौड़ा' आदि भी नगर-सभ्यता के चपेट मे आकर अपना मूल-स्वरुप खो बैठे है।

गॉव के लोगों के लिए 'मेला' मनोरजन और घरेलू सामानों की जरूरत की उपलब्धता के लिहाज से अति महत्वपूर्ण रहा है। ग्रामीण जन इन मेलो का पूरे वर्ष भर शिद्दत से इन्तजार करते थे और यहीं से घरेलू जरूरतो की सालाना पूर्ति कर लेते थे। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में से अनेक मे ग्रामीण क्षेत्र के ये मेले अपनी पूरी गहमा-गहमी के साथ चित्रित हुए हैं। उदाहरण के लिए 'जल टूटता हुआ' {रामदरश मिश्र} 'दो अकालगढ' {बलवन्त सिह} 'बबूल' {विवेकी रॉय}, परतीः परिकथा' {रेणु} 'जाने कितनी ऑखें' {राजेन्द्र अवस्थी}, 'अलग-अलग वैतरणी' {शिव प्रसाद सिह} और 'राग दरबारी' {श्रीलाल शुक्ल} आदि के नाम लिये जा सकते हैं ।

इधर आवागमन के साधनों की सहज उपलब्धता ने नगरों को गाँवों के करीब ला दिया हे जिससे ग्रामीणों की मेला-रूचि का अवमूल्यन हो गया है। मेले अब नंगई-लुच्चई के अड्डे से बनते जा रहे है। मेले के इस परिवर्तित रूप की झाँकी 'जल टूटता हुआ' {रामदरश मिश्र}, 'अलग-अलग वैतरणी' {शिव प्रसाद सिह} तथा 'राग दरबारी' {श्रीलाल शुक्ल} आदि में देखी जा सकती है।

मनोरंजन के साधन के रूप में ग्रामीणों के लिए उनके अपने खेल – गुल्ली डण्डा, कबड्डी, कुश्ती, बदी आदि हुआ करते थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ उनके शारीरिक कौशल एवं नीरोगता के कारण होते थे। वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्र के तीव्र बदलाव, संघर्ष, गुटबन्दी आदि के चलते लोगों की क्रीडामूलक विनोदवृत्ति मर सी गई है। इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय खेल क्रिकेट आज गाँव के हर खेल के ऊपर काबिज हो गया है। अब किसी 'परतीः परिकथा' के परानपुर की विशाल परती का मूल्य कुमारी बालिकाओं के 'श्याम चकेवा' के क्रीडास्थल के रूप में नहीं अपितु नये संयत्र और सिंचाई-साधनों से उसे उपजाऊ बनाकर कृषि-भूमि के रूप में परिणत कर देने में आँका जाता है। निष्कर्ष रूप में कहें तो ग्राम-क्रीड़ा-संस्कृति के ऊपर भी नये युग की 'अर्थ संस्कृति' की काली छाया पड़ गई है।

इस सक्षिप्त विश्लेषण से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि वर्तमान युग में ग्राम-सस्कृति पूर्णरूपेण नगर प्रभाव मे आ चुकी है। यह प्रभाव 'शिव' तथा 'अशिव' दोनों रूपों में मौजूद है। एक ओर जहॉ ब्राह्मण वर्ग द्वारा प्रचलित धार्मिक रूढियो एव खोखले आडम्बरों का उच्छेदन हुआ है वही दूसरी ओर गॉव की अपनी मोहक और कोमलतम चीजे भी इस नगरीय धक्के से काफी हद तक टूट कर बिखर गई है या बिखर रही है। गाँव के अपेक्षाकृत सहज-सरल-शांत जीवन में यँात्रिकता की ऑधी उखाड़-पछाड़ खाती दिखाइ दे रही है। जैसा कि फणीश्वर नाथ रेणु लिखते है- ''....... प्राण नहीं, अनुभूति नहीं। अब मनुष्य को यन्त्र चला रहा है।.......... टेक्नॉलोजी के युग में हम लोग जीवन-उपभोग का मूल तक्नीक ही खो बैठे है। हजारो-हजार जनता के बीच भी हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है। हॅसी-खुशी, उत्तेजना, अवसाद, आनन्द-उल्लास-सभी यात्रिक।''[58]

मनुष्य के जीवन पर यात्रिकता हावी हुई है। सास्कृतिक पक्ष छीजा है। मूल्य ध्वस्त हुए है। व्यक्ति की मानसिकता में जबर्जस्त परिवर्तन हुआ है। वह पीढ़ी-दर पीढ़ी और अधिक सुविधाभोगी बना है। परम्परा का तिरस्कार और खण्डन आधुनिकता के सबसे बड़े मानदण्ड के रूप स्थापित हुआ है। उत्तर आधुनिकता के मोह से ग्रसित भारत के नव युवा वर्ग को धर्म का पारम्परिक स्वरुप, आधुनिकता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा लगने लगा है। और वामपथी कहलाने के फेर में इस वर्ग ने अपनी स्वस्थ सांस्कृतिक विरासत को बेरहमी से रौंदना प्रारम्भ किया है। यह सब कुछ हुआ है परन्तु इतना सब होने के बावजूद भी भारतीय गाँव सस्कृति के व्यावहारिक पक्ष को अभी भी ठीक उसी प्रकार अपने सीने से लगाये हैं जेसे कोई माँ अपनी बीमार संतान को।

शहरी-जीवन में आज भले ही व्रत-उपवास आस्थाविहीन होकर 'फैशन' बन गए हों, तीज-त्योहार 'होटल-पार्टी' में तब्दील हो गए हों। निष्कलुष हृदय की संवेदनशील अभिव्यक्ति लोकगीत 'पॉप मयूजिक' के शोर में खो गए हों। गाँव अपनी सांस्कृतिक विरासत को आज भी किसी हद तक सहेजकर जी रहा है।

गॉव की इस थाती को साहित्य के अमर पृष्ठों मे सहेजकर सुरक्षित कर देने के काम को हिन्दी उपन्यास ने बखूबी अजाम दिया है। गॉव की इस कोमल सवेदना को साहित्य के पृष्ठों पर सहेजने-समेटने की जो शुरूवात रेणु के 'मैला ऑचल (1954) से होती है वह बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के अन्त तक कहीं थमती नहीं दिखाई देती - 'कलि-कथाः वाया बाइपास' (अलका सरावगी) ।

शताब्दी के अन्तिम दशक के ठीक मध्य (1995) मे प्रकाशित विवेकी रॉय के उपन्यास 'सोना माटी' का विशुद्ध नागर पात्र भारतेन्दु वर्मा का सम्पर्क जब ठेठ गॉव 'महुवारी' से होता है तो वह वहॉ की सस्कृति के जीवन्त पारपरिक रूप को देखकर 'भौचक्का' रह जाता है। वह देखता हे कि गॉव मे कन्या के विवाह के अवसर पर पाया जाने वाला 'पिता-भाव' कितना सक्रामक होता है। विवाह के मौके पर जेसे सारा का सारा गॉव उसका पिता है। जाति, कुल, गोत्र और स्थान की भिन्नता का जैसे कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।[59] नागर वर्मा को अचम्भित करने वाला गॉंव का यह इकलौता मौका नही है गॉंव की औरतों के सम्बन्ध में वह देखता है कि- ''जितनी श्रद्धा भक्ति से वे मदिर में शिव या काली जी की पूजा करती है अथवा किसी कुल देवता को पिठार चढ़ाती है, उसी तन्मयता से 'मानर' यानी चमाइन की डुग्गी की पूजा करती हैं, अरवरा और हल्दी की थाप दी जाती है, सिन्दूर लगाया जाता है।''[60]

कथा साहित्य में अराजकता की हद तक स्त्री-स्वतत्रता को प्रतिष्ठा देने वाली मैत्रेयी पुष्पा भी ग्राम स्त्री जीवन से जुड़े तमाम सास्कृतिक पहलूओं को नजर अन्दाज नहीं कर सकी हैं। अगर 'मैला ऑचल' के मेरी गंज की स्त्रियाँ ''इन्द्र महाराज को रिझानें के लिए, बादल को बरसाने के लिए, 'जाट-जट्टिन' खेलती हैं''[61] तो 'चाक' (मैत्रेयी पुष्पा 1997) के अतरपुर गाँव में भी 'मेहासिन काढ़ने' से ग्राम-वधुएँ इन्द्र भगवान से मेह बरसवा लेती है''[62] करवा चौथ का व्रत रखती है[63] और मकर सक्रान्ति के दिन माघ माह की किटकिटाती ठंड में ''घाट पर नहाई भीगी औरतें, बैठकर, तिल, चावल, दाल और नया गुड़ थालियों में धर-धर कर बैठी चरनसिंह बौहरे का इंतजार''[64] करती है।

यह ग्राम सस्कृति की चिरन्तनता का ही जीवन्त नमूना है कि राग-मोह से पृथक हो चुका कोई स्वामी रामानन्द कृष्ण अपनी गहन गम्भीर आवाज मे जा उठता है –

''आड़ली धानेर चिउड़ा, बिन्नी धानेर खोइ {आड़ाली धान का चिउड़ा, बिन्नी धान की खोई}
फोड़ितपुरा पाटली गुड़, सिलिमपुरा दोई {फोड़ितपुरा का पाटाली गुड़, सिलिमपुर का दही}
ओ बन्धु, जाइयो आमार बाड़ी {ओ बन्धु, मेरे घर आ जाना}
तोमार लाइका भाइजा तोइरी {तुम्हारे लिए भूँज कर तैयार है}
आउस धानेर मूड़ी" {आउस धान की मूड़ी}

युग के अनेक झोकों- थपेड़ों को सहकर भी गॉव ने जिस तरह अपनी सस्कृति को एक हद तक बचाए रखने में सफलता हासिल की है, उसके लिए, गॉव की तरफ से बकौल इक़बाल बस यही कहा जा सकता है –

'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-जहा हमारा।'

संदर्भ

1 'खड़ी-बोली काव्य. ऐतिहासिक सन्दर्भ और मूल्याकन' डा0 निर्मला अग्रवाल, पृष्ठ 279

2 'स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्राम जीवन' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 235

3 'सस्कृति की उत्तर कथा' - डॉ. शभुनाथ, पृष्ठ 57

4 उपर्युक्त, पृष्ठ 69

5 'धर्म और समाज' - डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ 45

6 'भारतीय ग्रामीण समाज शास्त्र'- तेजमल दक, से उद्‌धृत, पृष्ठ 438

7 'परम्परा और परिवर्तन'- श्यामाचरण दुबे, पृष्ठ 98

8 'रामचरित मानस' (उत्तरकाण्ड) - गोस्वामी तुलसीदास

9 'मैला ऑचल' - पृष्ठ 61

10 उपर्युक्त, पृष्ठ 91

11 उपर्युक्त, पृष्ठ 92

12 उपर्युक्त, पृष्ठ 93

13 'गोदान' - मुंशी प्रेमचन्द, पृष्ठ 107

14 उपर्युक्त, पृष्ठ 211

15 कबीर ग्रन्थावली

16 'मैला ऑचल' - रेणु, पृष्ठ 126

17 'आधा गॉव' - राही मासूम रजा, पृष्ठ 34

18 'मैला ऑचल' रेणु, पृष्ठ 49

19 'बीस बरस' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 120

20 'विस्रामपुर का सत' - श्री लाल शुक्ल, पृष्ठ 15-16

21 'उस चिड़िया का नाम' - पंकज विष्ट, पृष्ठ 100

22 उपर्युक्त, पृष्ठ 100

23 उपर्युक्त, पृष्ठ 101

24 'लेकिन दरवाजा' - पकज विष्ट, पृष्ठ 180

25 'नमामि ग्रामम्' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 105

26 गिरिजा कुमार माथुर

उद्धृत - 'समय और सस्कृति' - श्यामाचरण दुबे, पृष्ठ 124

27 'अशोक के फूल' (निबन्ध सग्रह) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 14-15

28 'झासी की रानी लक्ष्मी बाई' - वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ 48

29 'लेकिन दरवाजा' पकज विष्ट, पृष्ठ 191

30 'उस चिड़िया का नाम' - पकज विष्ट, पृष्ठ 99

31 उपर्युक्त, पृष्ठ 99

32 उपर्युक्त, पृष्ठ 33-34

33 उपर्युक्त, पृष्ठ 33-34

34 उपर्युक्त, पृष्ठ 63-64

35 'स्वातत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य और ग्राम जीवन' - विवेकी रॉय पृष्ठ - 254

36 'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द्र, पृष्ठ 122

37 'मैला ऑचल, - रेणु, पृष्ठ 122

38 उपर्युक्त, पृष्ठ 126

39 'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 347

40 'जल टूटता हुआ' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 347

41 'सोनामाटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 217

42 उपर्युक्त, पृष्ठ 217

43 उपर्युक्त, पृष्ठ 18

44 'ब्रह्मपुत्र' - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ 107

45 'सोनामाटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 219

46 'बीस बरस' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 21

47 'नागमणि' - अमृता प्रीतम, पृष्ठ - 96

48 धर्मयुग - 11 मार्च 1973

'होरी जिन्दा है' (रिपोर्ताज शैली मे लिखा गया लेख) - रामदरश मिश्र

49 'सोना माटी' - रामदरश मिश्र, पृष्ठ 219

50 'कसप' - मनोहर श्याम जोशी, पृष्ठ 318

51 'रागदरबारी' - श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ 208

52 'भारत मे जाति' - जे.एच. हटन, आक्सफोर्ड 1961, पृष्ठ 205 - 206 उदधृत - 'आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन' एम.एन. श्रीनिवास

53 'बलचनमा' - नागार्जुन, पृष्ठ 49

54 'अलग-अलग वैतरणी' - शिवप्रसाद सिह पृष्ठ 234

55 'मैला आँचल' - रेणु - पृष्ठ 167

56 'लेकिन दरवाजा' - पंकज विष्ट, पृष्ठ 344

57 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' - एम.एन. श्रीनिवास पृष्ठ 67

58 'परती . परिकथा' - रेणु, पृष्ठ - 459

59 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 167

60 'सोना माटी' - विवेकी रॉय, पृष्ठ 167

61 'मैला ऑचल' रेणु, पृष्ठ 180

62 'चाक' - मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ 194

63 उपर्युक्त, पृष्ठ 196

64 उपर्युक्त, पृष्ठ 244

65 'कलि-कथाः वाया बाइपास' - अलका सरावगी, पृष्ठ 127

उपसंहार

मुशी जी के साथ स्वर मिलाकर उनके समकालीन उपन्यासकारो ने ग्राम-जीवन को मुखर किया किन्तु 'गोदान' के बाद यह धारा खण्डित हो गई । यद्यपि हिन्दी काव्य के क्षेत्र मे यही वह समय था जब कवि छायावाद की वायवी दुनिया से निकलकर गॉव मे प्रवेश कर रहा था और कविता के पृष्ठों पर भी ग्रामीणो के धूल-धूसरित 'बेवायॅ फटे' पैरो की छाप पड़ने लगी थी । किन्तु उपन्यास के क्षेत्र मे 'गोदान' के बाद गॉव मे केवल पगडण्डियॉ रह गई और मुख्य सड़के रोम {शहर} ले जाने रेलवे स्टेशनो की ओर मुड़ गई ।

प्रेमचन्द के बाद खण्डित हो गई उपन्यास-साहित्य की ग्रामोन्मुखी धारा स्वतत्रता रूपी जीवन रस पा तथा गॉधी जी से आदर्श ग्रहण कर, फिर से बह निकली और हिन्दी के बहुत से अपन्यासकारो ने फिर ग्राम-जीवन को आधार बनाकर उपन्यास लिखे; जिन्हे साहित्य मे 'ऑचलिक' कह कर पुकारा गया । इस बदली हुई भाव-भूमि के तहत उपन्यासकार ने अपने गॉव को, अपने ॲचल को, अपनी उपेक्षित धरती को हाथो-हाथ उठा लिया । सन् 1952 मे 'बलचनमा' से शुरू हुई यह यात्रा आज तक बदस्तूर जारी है {धाक} ।

आजादी के बाद देश ने पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से शहरो और ग्रामों के सम्यक विकास का सपना खुली ऑखों से देखा । लोगो को लगा कि अब अपने शासन मे विकास की दिशा कुछ ऐसी होगी कि सारा देश एक सुव्यवस्थित जीवन-शैली मे जीवन यापन कर सकेगा । नगरो का विकास नागरिक जीवन को अधिकाधिक सहज और आरामदेह बना सकेगा तथा ग्रामीण जीवन का भी भरपूर समुन्नयन होगा, किन्तु जल्दी ही यह कल्पना यथार्थ की ठोकरों से बिखर गई। जिस नेतृ वर्ग से जनता ने अपने उद्धार की कल्पना की थी वह उत्तरोत्तर स्वार्थ और लिप्सा की अतल गहराइयो मे डूबता गया ।

साहित्यकार का सवेदनशील मन स्वातत्र्योत्तर युग की बदली हुई परिस्थितियों के चलते वितृष्णा से भर उठा । कथाकार मोहर राकेश के अनुसार - ''स्वदेशी सत्ता के आ जाने से कुछ दिशाओं मे प्रगति दिखाई देती है, पर साथ ही अवसरवाद का बोल-बाला दिखाई देने लगता है । अनेक सकीर्ण स्वार्थ उभर आते हैं और जिस वायु से करोड़ों व्यक्ति प्राण पाने की आशा रखते थे वह धूल से भर जाती है ।'' इस धूल-धक्कड़ भरे दमघोटू माहौल के चलते साहित्यकार को कहना पड़ा कि - 'चले चलो कि वो मजिल अभी नहीं आई; {फैज} और उस वक्त तो इस आजादी की

सारी सच्चाई बेनकाब होकर सामने आ जाती है जब किसी भावुक साहित्यकार की कलम से यह निकल पड़ता है कि 'इससे तो पहले के शासक ही अच्छे थे ।' {'अन्धायुग'}

स्वतत्रता के बाद अवतरित 'अन्धे युग' की काली तस्वीर हिन्दी उपन्यासकार ने पूरी रचनात्मक क्षमता के साथ साहित्य के पृष्ठों पर उतारी है और 'झूठा सच' से शुरू हुआ यह क्रम आज भी यथावत जारी है - {अल्मा कबूतरी} ।

स्वतत्रता के बाद के युग का कोहरा वास्तव मे राजनीति रूपी बादल के गर्भ से जन्म लेता है। इस युग में राजनीति का जो सबसे बड़े सच के रूप मे उदय हुआ तो उसकी ताकत निरन्तर बढती ही गई । आज तो आलम यह है कि उसकी इस व्यपकता ने सुरसा के मुख की तरह जीवन के हर क्षेत्र को अपनी गिरफ्त मे ले रखा है । राजनीति के इस जगल मे भटकने वाले डायनासोरो से देश के आम आदमी का जिन्दा बचे रहना शायद तब भी इतना मुश्किल न रहा होगा जब आदमी गुफावासी हुआ करता था, जितना कि आज है । जैसा कि कवि दिनेश कुमार शुक्ल लिखते है :-

''आज उनकी देह छोटी हो गई है
भूख लेकिन बढ गई है
सोख लेते वे नदी-नद-झील-सागर
चर गये सब खेत जगल
पी गये सारी हवाएँ
भावना की भूमि तक मे
घुस गये है डायनासर
और उनकी दाढ़ में अब
लग चुका है स्वाद सपनों का....... ।''

{साक्षात्कार, मासिक, मार्च 2001}

'महाभारत' की कथा में एक प्रसग आता है जिसमें इन्द्र ब्राहमण का वेश धारण कर कर्ण के पास, सूर्य द्वारा दिये गये कवच और कुण्डल लेने आता है और जब उन्हें लेकर, रथारूढ़ हो वापस इन्द्रलोक जाना चाहता है तो उसके रथ के घोड़े उड़ने में असमर्थ हो जाते हैं, तब पाप-भार

से मुक्त होने के लिए वह बदले मे कर्ण को अपना वज्र दे जाता है । ठीक इसी तरह राजनीति के चलते गॉव से लेकर शहर तक के भारत का बहुत कुछ छीजा है तो बदले में उसे कुछ मिला भी है। इस 'मिलने' को दलित-शोषित वर्ग में आयी आत्म-सजगता के रूप मे रेखाकित किया जा सकता है । अब देखना यह है कि इस वर्ग की यह चेतना भी कर्ण के वज्र की तरह किसी प्रभु कृष्ण की कूटनीतिक चाल का शिकार हो जाती है या फिर इसके कुछ स्थाई परिणाम निकल पाते है ।

प्राचीन भारतीय मनीषा ने 'अर्थ' के महत्व को स्वीकार करते हुए उसकी गणना जीवन के चार पुरुषार्थों मे की थी । ईसा पूर्व की पहली शताब्दी के आस-पास भर्तृहरि ने लिखा है .-

''यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवानगुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ते ।।''
{नीतिशतकम् - 33}

भर्तृहरि से भी पहले चार्वाक ऋषि ने - ''यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्'' कहकर जीवन में अर्थ को भोग के साधन के रूप मे व्याख्यायित किया था किन्तु यह हमारे देश की सस्कृति की मुख्य धारा नहीं थी । मुख्य धारा मे ''ईसावास्य इद सर्व यत्किच जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।'' {ईस्यावास्योपनिषद} की प्रतिष्ठा थी। परन्तु स्वातत्र्योत्तर युगीन भारतीय मन आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता की यात्रा करते हुए निरन्तर अर्थ के दल-दल मे फँसता गया । शुरु-शुरु मे यह प्रवृत्ति पश्चिमी हवा के रूप में देश में आई परन्तु धीरे-धीरे यहॉ के लोगों की अपनी चीज हो गई और भारतीय पीढ़ी-दर-पीढ़ी भोगवादी सस्कृति के गुलाम होते गये ।

इस विकास या विनाश यात्रा को हिन्दी उपन्यासकार ने ठीक उसी क्रम मे चित्रित करने का सफल प्रयास किया है जिस क्रम में इसका प्रसरण हुआ, अर्थात पश्चिम से नगर और नगर से गॉव ।

'कसप' {मनोहर श्याम जोशी} का नायक पहाड़ी नायक देवीदत्त जब बबई में यूरोपियन महिला गुलनार से मिलता है तो वह उसे समझाती है - ''तुम किसी के बेटे नहीं, किसी के बाप नहीं, किसी के पति नहीं किसी के प्रेमी नहीं, तुम केवल तुम हो और उतने-भर हो जितना तुम अपने तुम होने के नाते करते हो । बाकी सब भावनात्मक गू है ?'' और फिर तब आश्चर्य क्या, जब प्रेमिका बेबी के देह-भोग-आमत्रण को ठुकरा देने वाला यह डी.डी. अनेक वर्षों बाद इसी पूर्व-प्रेमिका की पुत्री मैत्रेयी को पिता और प्रेमी दोनो की सयुक्त भूमिका मे देखना चाहता है । ठीक इसी तरह की बात पहाड़ के ही एक गॉव से दिल्ली आकर बस गए नीलाम्बर {'लेकिन दरवाजा' - पकज विष्ट} के मुँह से सुनने को मिलती है - ''बीइग रिड्यूस्ड टु ए स्टैड बुल इज डिग्रेडिग । जिसे इसलिए खिलाया-पिलाया जाता है कि जब जरूरत हो, उसके शरीर का भरपूर उपयोग हो सके । यहॉ जीवन का अर्थ तीन चीजो की संतुष्टि है - जीभ, पेट और सैक्स ।'' इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ही डॉ. शम्भुनाथ लिखते है - ''सभ्यता की यात्रा आग मे भुना मास खाकर स्वाद-चेतना से शुरु हुई थी और अपने शिखर पर वह फिर स्वाद सस्कृति के ही इर्द-गिर्द है ।''

इस भोग सस्कृति ने 'भारतीयता' के सामने पहचान का एक सकट उपस्थित कर दिया है और इस सकट में नगर से लेकर गाँव तक का आदमी फँसा हुआ है । हिन्दी उपन्यासकार ने इस सकट को पूरी तरह पहचानते हुए अपनी कृतियो मे उभारा है ।

सत्ता-सघर्ष के विकृत रूपों ने भारतीयता को हमेशा धुधला किया, इसने समाज मे रूढियो तथा सकीर्णताओं का पोषण करते हुए उन्हे जम कर उभारा है । जब भी इतिहास मे ऐसा दौर आया है, सस्कृति को कुचला गया है और हर ऐसे दौर में संस्कृति ने इस संकट का मजबूती से सामना किया है। सत्ता-सघर्ष के लिए धर्म, जाति और स्थानीयता की राजनीति का सहारा लेना कोई आज की ही बात नहीं है । परन्तु तीव्र आधुनिकीकरण, आर्थिक समृद्धि और सचार-क्रांति के इस युग मे सस्कृति मानो कमजोर सी पड़ती जा रही है । गाँव से भी सस्कृति का खेमा बस उखड़ता-उखड़ता सा ही लग रहा है । नगर-जीवन की विशिष्ट पहचान 'अर्थ-केन्द्रिता' गाँव की धरती में भी अपने पैर मजबूती से जमा रही है । 'बाप बड़ा ना भैया, सबसे बड़ा रुपैया' जैसी बातें अब यहॉ भी खूब सुनने को मिल रही है । गॉव में भी बाप-बेटे, भाई-बहन, पति-पत्नी, मित्र-सम्बन्धी जैसे भावनापूर्ण

नाते अपना अर्थ खोते चले जा रहे है और उनकी ऑख मे एक उग्र भूख की काली ज्वाला धधकती हुई दिखाई दे रही है ।

गॉधी जी ने गॉव-गाँव मे स्वराज का सपना देखा था किन्तु अग्रेजों से प्राप्त यह आजादी एक खास वर्ग द्वारा कैद कर ली गई । यदि स्वतत्रता के बाद आया लोकतत्र चद व्यापरियो, नौकरशाहो और नेताओं के ड्राइगरूम से निकलकर गॉव तक पहुॅच पाता, सत्ता और विकास के केन्द्र सिर्फ शहरों तक ही स्थापित होकर न रह गये होते तो कदाचित देश की तस्वीर आज कुछ दूसरी होती और साम्प्रदायिकता, जातीयता और क्षेत्रवाद की लपटो मे इसे घिरने से बचाया जा सकता था । पूरे दुःख से साथ कहना पड़ता है कि अनेक लुटेरी जातियों-बर्बर यवनो, शको, हूणो, फासीसियो और अग्रेजों ने इस देश को उतनी क्षति नहीं पहुचाई जितनी इस लोकतत्र ने । आज आदमी कितनी देर तक भारतीय रहेगा और कब अपने धर्म, जाति या क्षेत्रीयता के चौखटे मे घुस जायेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

इतिहास साक्षी है कि सहस्त्रो वर्षों से स्थानीय और बाहरी जातियो के पारस्पंरिक मिलन की प्रक्रिया मे ही भारतीय, सस्कृति का निर्माण हुआ है । इस महा सगम को अपनी 'गीताजलि' में रेखाकित करते हुए गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते है - ''आओ हे आर्य, आओ अनार्य, हिन्दू मुसलमान ! आओ ब्राहमण, मन को करे साफ, सबका हाथ थामे । आओ पतित, अपने सारे अपमान के बोझ से मुक्त होओ । भारत माँ के अभिषेक के लिए तेजी से आओ । सबके स्पर्श से पवित्र हुए तीर्थजल से मगल घट अभी पूरा भरा नहीं है । आओ आज, भारत के महामानव के सागर तट पर ।'' गुरूदेव ने जिस मगल घट को भरने की बात की थी, वह तो दूर, आज लोग इस मगल घट पर ही अपना-अपना कब्जा जमा लेने की फिराक मे है । भारतीयता की बात बहुत पीछे छूट चुकी है । देश में अब मनुष्य नहीं रहते जातियाँ रहने लगी हैं ।

देश की इस विडंबनात्मक स्थिति को हिन्दी उपन्यास पूरी सामर्थ्य के साथ उद्घाटित कर रहा है 'कलि-कथा वाया बाइपास' (अलका सरावगी) इसका जीवत प्रमाण है ।

किसी राष्ट्र मे जब उसकी सास्कृतिक जडे कमजोर पड़ने लगती है तो ऊपर-ऊपर से बहुत सशक्त और स्वस्थ दिखाई देने पर भी भीतर से वह मुरझाने लगता है । आजादी के बाद के पूरे पचपन वर्षो मे यदि कोई सबसे बड़ी त्रासद घटना हुई है तो वह यह कि हमने भारतीय सस्कृति की सतत् प्रवाहमान धारा को धीरे-धीरे सूख जाने दिया । आज देश मे बामपथी कहे जाने का फैशन मनोरोग की तरह फैला है और इनके अनुसार भारत की अपनी कोई सास्कृतिक इयत्ता नही, वह सिर्फ कबीलों, जातियो और सम्प्रदायो का एक पुज मात्र है । यह वर्ग विश्व सस्कृति की बात करता है, यह भूल कर कि घर मे दिया जला कर ही मदिर मे दिया जलाया जा सकता है ।

ये छद्म बामपथी 'विश्व सस्कृति' की बात करते है और निरन्तर इनके विचारो का फैलाव देखकर आज लगने लगा है कि क्या भारतीय लोक-मानस भूमडलीकरण और बहुराष्ट्रीय कपनियो के फैलते मायावी जाल से अपनी रक्षा कर सकेगा ? क्या 'साझा जीवन-साझा सस्कृति' की हमारी सदियो पुरानी परम्परा इस धक्के को झेल सकेगी ? आज हमारे गॉवों मे पुराने अधविश्वासो और रूढियो के साथ अन्तर्कलह, फूहड़ता और हिंसा की जो नई व्याधियॉ फैली है और जिन्हे लगातार टेलीविजन द्वारा ग्रामीणों की नसो मे इजेक्ट किया जा रहा है, उनके चलते क्या हमारा सास्कृतिक परिवेश विखर जायेगा ? क्या त्याग, सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रम्हचर्य, करूणा जैसे तत्वो से लबरेज हमारी सस्कृति का पलड़ा 'डालर' और 'यूरो' के मुकाबले हल्का पड जायेगा ? क्या अपसस्कृति का छुट्टा साड़ हमारी कोमल संस्कृति को रौद देगा ? क्या हमारे धर्मस्थल भी फास्ट फूड सेंटर मे तब्दील हो जायेगे ? ऐसे तमाम प्रश्न है जो आज हमारे सामने मुँह बाए खड़े है और उन सबके जवाब मे पूरी दृढ़ता से कहा जा सकता है - नही ! कदापि नही !! मिट्टी कभी खराब नही होती। पेड सूख जाते है, तब भी जड़े गीली रहती है । 'झूठा सच' के व्यपक अँधेरे मे भी उसके एक पात्र डॉ. प्राणनाथ प्रकाश की आशा की उम्मीद नही छोड़ते है । वे कहते है - देश का भविष्य, नेताओं और मत्रियो की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हॉथों में है ।'' हमे भी देश की जनता पर पूरा विश्वास करना चाहिए यह सोचकर कि सक्रमण के इस दौर की ऑधी जब गुजर जायेगी तब भारतीय जनता फिर खुली ऑखों से अपने स्वत्व को पहचान सकेगी ।

फिलहाल तो उठा-पटक का ही दौर चल रहा है और इस अफरातफरी मे देश के गॉवों से लेकर महानगर तक का आदमी शामिल है । परन्तु एक व्यक्ति अब भी सजग है, वह व्यक्ति है

साहित्यकार। यद्यपि इस खेमें मे भी तथाकथितो की भरमार है परन्तु उन्हे पहचान लेने की ताकत रखने वाले लोग भी है जो इन रगे सियारो को जल्दी ही अनावृत्त भी कर देगे ।

इस ताकत की पहचान, हम साहित्यकार विशेषकर उपन्यासकार के रूप मे कर सकते है जिसने अपनी प्रतिरोध शक्ति के बल पर अन्दर का बहुत कुछ 'अच्छा' बचाकर रखा है और बाहर का बहुत सा 'बुरा' रोक कर भी । कथानक चाहे शहर का हो चाहे गॉव का; क्योकि गॉव सिर्फ गॉव मे ही नहीं है शहर मे भी है और शहर महज शहर मे ही नहीं गॉव में भी है ।

इस गुरु-गभीर जिम्मदारी को निभाने मे इतना अवश्य हुआ है कि हिन्दी उपन्यास का कलेवर निरन्तर बदलता रहा है । यह बदलाव शीर्षक से लेकर उसकी भाषा तक मे लक्षित होता है।

स्वातत्र्योत्तर उपन्यास में 'शैली' और 'वस्तु' दोनों के लिहाज से नयापन दिखलाई देता है। युग की बदली हुई परिस्थितियो के चलते आधुनिक उपन्यासों में नये से नये भाव बोध तथा सवेदना के फलस्वरूप कथ्य, शिल्प और शैली के नवीनतम प्रयोग किए जा रहे है । किसी जमाने में औपन्यासिक शिल्प के आधारभूत तत्व कथानक एव चरित्र - जिनके अभाव में उपन्यास की कल्पना तक असभव थी - का आज कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है । नये युग की जटिल अनुभूति तथा भाव-संप्रेषण के चलते उपन्यास के परपरागत तत्व बिल्कुल गैर जरूरी हो गये है ।

मुशी प्रेमचन्द जी ने एक बार जैनेन्द्र से कहा था - ''कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नही है । नियम है और वे उपयोगी होने के लिए है । हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जायॅ तब बेशक उन्हे उल्लघनीय मानना चाहिए ।'' आधुनिक उपन्यासकार भी अब बँधे-बँधाये नियमो में नहीं चलना चाहता । आज वह जटिल मानसिकता, विशुद्ध चिंतन, बौद्धिक फैंटेसी तथा बिबों एव प्रतीकों के माध्यम से अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दे रहा है ।

आधुनिक उपन्यास में परिवेश अत्यन्त महत्वपूर्ण और केन्द्रीय तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। उपन्यासकारों की नई पीढ़ी स्वाधीनोत्तर भारतीय परिवेश के भीषण यथार्थ में पली है और उसकी सभावनाएं उन स्थितियों के भीतर से निर्मित हुई हैं, जो एक ओर स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व,

समानता तथा आदर्शवादिता जैसे सिद्धान्तो के चलते एक सुनियोजित चितन और व्यवहार की अपेक्षा व्यक्त करती है और दूसरी ओर परिवेशजनित भीषण यथार्थ के रूप मे अवसरवादिता, राजनीतिक षडयन्त्र, शोषण और मानवता विरोधी शक्तियॉ सघटनात्मक क्रम बन जाती है । इस सडॉध भरे क्रूर जीवन यथार्थ और अमानवीय व्यवस्था से आज का उपन्यासकार सीधे विद्रोह करना चाहता है । परिवेश की भयावहता का बतौर भोक्ता साक्षी रहा आधुनिक उपन्यासकार, मनोविश्लेषण, प्रगतिवाद, आचलिकता, अस्तित्ववाद अथवा अन्य किसी भी वाद से सम्बद्ध रहा हो, स्वय को परिवेश से सर्वथा असम्पृक्त तथा विमुक्त नहीं कर सका है ।

आधुनिकता-बोध एक ऐसी बौद्धिक तथा मानसिक स्थिति है जो अपने समस्त परिवेश और समाज की जटिल एव गहनतम समस्याओ से उत्पन्न होकर अपने समकालीन जीवन को सस्कारित करती है । अपने वर्तमान का यथार्थ परिज्ञान ही आधुनिकता बोध का मूल आधार है । सिर्फ परिज्ञान ही नहीं यह युग के यथार्थ को सजग रूप मे भोगने और उस भोग के फलस्वरूप उत्पन्न दृष्टि से जीवन और जगत को नए सदर्भो के साथ जोड़कर देखने तथा जीने की क्षमता भी है ।

स्वातंत्र्योत्तर युग के उपन्यास मे आधुनिकता बोध की प्रक्रिया निरतर विकासमान है और वैश्विक सम्पर्क के चलते पश्चिमी साहित्य मे हो रहे परिवर्तनों की आधुनिक प्रवृत्तियों, प्रणालियों एव विचारधाराओं के प्रभाव भी उसमे देखे जा सकते है । आधुनिक भाव-बोध से सम्पन्न इन उपन्यासो की विशेषता को कथानक तथा चरित्र के परपरागत रूपो के लोप के रूप मे रेखाकित किया जा सकता है । डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार - ''पहले के उपन्यासो के चरित्रों मे आज के औपन्यासिक चरित्रो की आन्तरिक स्वायत्तता नहीं थी और उन पर परिवेश का ही प्रत्यन्त सघन दबाव था । आन्तरिक स्वायत्तता की भी अपनी कडशनिग होती है । इस स्वायत्ता के फलस्वरूप चरित्रो मे अपनी स्थितियो से टकराने का सामर्थ्य आया । फ्रास के अ - उपन्यासवादियो ने एक नए यथार्थ की नींव डाली और उपन्यास के पुराने ढ़ॉचे को क्षत-विक्षत कर दिया । इसमे कथा-तत्व का ह्रास हो गया, चरित्र निष्प्रभ हो उठे ।'' यह नया भाव-बोध स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रकाशित लगभग प्रत्येक उपन्यास मे देखा जा सकता है । वे चाहे आचलिक हो, मनोविश्लेषणात्मक हो चाहे अस्तित्ववादी ।

आधुनिकता के चलते उपन्यास अब लिखने या रचने की नहीं, जीने की चीज हो गए और जिया जाना अथवा भोगा जाना ही उपन्यास की दुनिया का सबसे अहम् तत्व बन कर प्रतिष्ठित हुआ और यही गुणात्मक उपलब्धि आधुनिक उपन्यासो मे केन्द्रवर्ती स्थान ग्रहण करती है । कुल मिलाकर स्वातत्र्योत्तर युग के उपन्यास साहित्य मे अनुभूति की प्रामाणिकता अनिवार्य तत्व बनकर उभरी है ।

नीत्से के द्वारा ईश्वर के मर जाने की घोषणा के बाद साहित्य के पृष्ठो पर मनुष्य की प्रतिष्ठा हुई । कविता के क्षेत्र मे जहॉ 'सबरि ऊपर मानुष सत्य' और 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम्' की बात होने लगी वहीं उपन्यास का भी केन्द्र बिन्दु,मनुष्य को उसके समस्त व्यक्तित्व - जिसमे उसकी कमियॉ भी शामिल है - के साथ चित्रित करते हुए मानवीय मूल्यो की पुर्नस्थापना बना । यह इस युग के उपन्यास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है । महाकाव्य का स्थानापन्न बन कर उभरा इस युग का उपन्यास नायक के धीरोदात्त, कौलीन्य होने जैसी शर्तों को पूरी तरह नकार देता है । वह किसी महामानव की नहीं मानव की बात करता है - सिर्फ और साधारण मानव की । यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कह सकते हैं कि वर्तमान युग का उपन्यास सच्चे अर्थों में साहित्य है ।

कथा साहित्य के प्राण तत्व माने जाने वाले, कथानक चरित्र आदि तत्व जहॉ नवीन परिवेश और नूतन औपन्यासिक रचना प्रक्रिया के दौर मे पूरी तरह टूटकर बिखर गए वहीं भाषा-तत्व सृजन और प्रयोगधर्मिता के सबसे मूल्यवान तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ ।

स्वातत्र्योत्तर उपन्यास ने हिन्दी साहित्य को भाषा की गहनता, व्यजना, विस्फोटन तथा विविधता की दृष्टि से अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की है । उपन्यासकारों ने अपनी गहन और जटिल अनुभूति तथा सवेदना और उद्देश्य के तीव्र सम्प्रेषण के लिए असाधारण भाषा सगठन एव सयोजन का परिचय दिया है ।

आधुनिक युग की जटिलताओं से उत्पन्न अनुभूतियों एवं विचारों के प्रकटीकरण के लिए भाषा का परपरागत संसार अति क्षुद्र सा हो गया । अनेक पर्तों पर लिपटे भाव-गुम्फन को परपरागत शब्दावली में बाँध पाना संभव था भी नहीं क्योंकि शब्द की तो एक सीमा होती है और

भाव की दुनिया असीमित । फिर किसी सीमाबद्ध के द्वारा असीमित को व्यक्त कर पाना कैसे सभव होता । आधुनिक साहित्यकार शब्द की सत्ता के प्रति विद्रोह सा कर देता है । जैसा कि कवि गोपाल दास नीरज लिखते है- 'शब्द झूठे है सभी सत्य कथाओ की तरह ।' अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की गौरा भी कहती है- ''शब्द अधूरे है क्योकि उच्चारण मॉंगते है ।'' शब्द की इस असमर्थता के चलते ही कदाचित 'कसप' {मनोहर श्याम जोशी} का नायक देवीदत्त अपनी प्रेयसी को सिर्फ दो शब्दो का प्रेमपत्र लिखता है - 'जिलेम्बू मारगॉठ ।' यद्यपि इस कूट शब्दावली का कोई स्वतत्र अर्थ नही निकलेगा लेकिन सम्पूर्ण कथानक के आलोक मे देखें तो इन दो शब्दो मे जितना कुछ व्यक्त कर देने की क्षमता है उतने के लिए अनेक पृष्ठ भी कम पड़ेगे ।

स्वातत्र्योत्तर युग के उपन्यास, कथानक की दृष्टि से नगर सम्बन्धी हो या कि फिर ग्राम भित्तिक, भाषिक प्रयोग की दृष्टि से हर जगह नवीनता के दर्शन होते है । 'राग दरबारी' का जोगनाथ 'सर्फरी' भाषा बोलता है जो ठेठ ग्रामीण है तो विशुद्ध नगरीय पृष्ठभूमि पर आधारित 'लेकिन दरवाजा' में भी इसके चिन्ह मिल जाते है । यहॉ यह भी कह देना कदाचित् गैर जरूरी न होकर कि भाषा में अश्लील प्रयोग लेखक की अपनी प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है । जहॉ डॉ. राही मासूम के यहॉ गालियों का बेधड़क प्रयोग मिलता है वहीं डॉ. निर्मला अग्रवाल सकेतों से ही बात कह देना पसन्द करती हैं — {बीच की कड़ी, कहानी - डॉ. निर्मला अग्रवाल} ।

उपन्यास में सगीन गालियो का खुलकर प्रयोग करने का साहस कदाचित पहली बार 'आधा गॉव' मे राही मासूम रजा ने दिखाया और इसके चलते उन्हे गाहे-बगाहे आलोचनाओ का शिकार भी होना पड़ता है । परन्तु यह बात ध्यान में रखकर ही इन गालियों पर चर्चा करनी चाहिए कि इनका प्रयोग उपन्यास के ऐसे पात्रों द्वारा किया जाता है जो टूटे, उखड़े और समस्याक्रान्त हैं । वस्तुतः बिना गालियों के तो मानों उनका चरित्र ही अधूरा रह जाता ।

यदि गगोली जैसे गॉव के लोग गालियों का खुलकर इस्तेमाल करते दिखाई देते हैं तो 'झीनी-झीनी भीनी चदरिया' {अब्दुल बिस्मिल्लाह} के बनारस निवासी मियॉं लोग गालियॉ देने मे किसी से पीछे नहीं है ।

भाषा का एक सर्वथा नूतन रूप श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासो में दिखाई देता है । यद्यपि 'विस्रामपुर का सत' तथा 'पहला पड़ाव' की भाषा ठीक वही नहीं है जो 'राग दरबारी' की है परन्तु व्यग्य की धार का जो पैनापन 1968 मे प्रकाशित होने वाले राग दरबारी का है लगभग वही तेवर तीस वर्ष बाद प्रकाशित होने वाले उपन्यास 'विस्रामपुर का संत' {1998} का भी ।

इस सक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वातत्र्योत्तर युग के उपन्यासो का कलेवर भीतर से लेकर बाहर तक - शैली से लेकर वस्तु तक, पूरी तरह बदला है और यह बदलाव ठीक युग के सापेक्ष ही हुआ है । इस बदलाव के चलते वह वर्तमान युग मे साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा के रूप मे स्थापित हो सका है । ज्यो-ज्यों जीवन जटिल और समाज की विनियम प्रणाली अमूर्त होती जायेगी त्यो-त्यो उपन्यास की आवश्यकता बढ़ती जायेगी; क्योंकि लूकाच के अनुसार उपन्यास गिरावट से भ्रष्ट समाज मे मूल्यो की तलाश का एक सर्जनात्मक प्रयास है ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

औपन्यासिक ग्रन्थ

1 **अचल मेरा कोई..............** : वृन्दावन लाल वर्मा - मयूर प्रकाशन, दतिया {झाँसी}, सस्करण 1948

2. **अग्निबीज** : मार्कण्डेय : कथा प्रकाशन, इलाहाबाद, विद्यार्थी सस्करण 1999

3 **अँधेरे के विरुद्ध** : उदयराज सिह - अशोक प्रेस, पटना, प्रथम सस्करण 1970

4. **अमृत और विष** : अमृत लाल नागर - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1966

5 **अमरबेल** : वृन्दावन लाल वर्मा - प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1998

6. **अलग-अलग वैतरणी** : शिवप्रसाद सिह - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पचम सस्करण 2000

7. **अल्मा कबूतरी** : मैत्रेयी पुष्पा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 2000

8. **आकाश की छत** : रामदरश मिश्र - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पेपर बैक सस्करण 1994

9. **आदिम राग** : रामदरश मिश्र - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1993

10. **आधा गॉव** : राही मासूम रजा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय पेपर बैक सस्करण 1989

11. **उदय किरण** : वृन्दावन लाल वर्मा - मयूर प्रकाशन, दतिया {झाँसी}, सस्करण 1960

12. **उस चिड़िया का नाम** : पकज विष्ट - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1989

13. **कचनार** : वृन्दावन लाल वर्मा - - मयूर प्रकाशन, दतिया {झाँसी}, प्रथम सस्करण 1958

14. **कब तक पुकारूँ** : रागेय राघव - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1957

15. **कठ गुलाब** : मृदुला गर्ग - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम सस्करण 1996

16. **कर्मभूमि** : मुशी प्रेमचन्द - साधना पॉकेट बुक्स, दिल्ली, सस्करण 1992

17. **कलि-कथाः वाया बाइपास** : अलका सरावगी - आधार प्रकाशन, पचकूला, हरियाणा, प्रथम पेपर बैक सस्करण 2001

18. **कसप** : मनोहर श्याम जोशी - रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम पेपर बैक सस्करण 1995

19. **काला जल** : गुलशेर खान 'शानी' - रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ पेपर बैक सस्करण 1991

20. **कुल्ली भाट** : सूयकान्त त्रिपाठी 'निराला' - गगा पुस्तक माला, लखनऊ, छठाँ सस्करण 1964

21. **गण देवता** : ताराशकर बन्द्योपाध्याय - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, हिन्दी अनुवाद, द्वितीय सस्करण 1963

22. **गबन** : मुशी प्रेमचन्द - साधना पाकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण 1992

23. **गोदान** : मुशी प्रेमचन्द - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण 1995

24. **ग्राम-सेविका** : अमरकान्त - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1962

25. **चाक** : मैत्रेयी पुष्पा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1997

26. **जमींदार का बेटा** : दयानाथ झा - हिन्दी भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1959

27. **जल टूटता हुआ** : रामदरश मिश्र - हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1969

28. जाने कितनी ऑखे : राजेन्द्र अवस्थी - हिन्दी प्रचारक सस्थान, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1969
29. जुलूस फणीश्वर नाथ 'रेणु' - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम सस्करण 1965
30. जगल के फूल : राजेन्द्र अवस्थी - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1960
31. झॉसी की रानी लक्ष्मीबाई : वृन्दावन लाल वर्मा - मयूर प्रकाशन, दतिया {झॉसी}, पन्द्रहवॉ सस्करण 1973
32. झूठा सच : यशपाल - विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, द्वितीय सस्करण 1963
33. झूला नट : मैत्रेयी पुष्पा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1999
34. टेढ़े मेढ़े रास्ते : भगवती चरण वर्मा - भारती भडार, इलाहाबाद, पचम सस्करण वि.स.2020 {1963 ई.}
35. डूब : वीरेन्द्र जैन - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सस्करण 1998
36. दुःखमोचन : नागार्जुन - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1962
37. नदी फिर बह चली : हिमाशु श्रीवास्तव - विघा मदिर प्रेस, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1961
38. नमामि ग्रामम : विवेकी रॉय - विघा विहार, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1997
39. नागमणि : अमृता प्रीतम - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965
40. परतीः परिकथा : फणीश्वर नाथ 'रेणु' - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1957
41. पहला पड़ाव : श्रीलाल शुक्ल - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1987
42. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1994
43. प्रेमाश्रम : मुंशी प्रेमचन्द - साधना पॉकेट बुक्स, दिल्ली, सस्करण 1992
44. बबूल : विवेकी रॉय - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1967
45. बलचनमा : नागार्जुन - किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण 1956
46. ब्रम्हपुत्र : देवेन्द्र सत्यार्थी - ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1992
47. बाणभट्ट की आत्मकथा : हजारी प्रसाद द्विवेदी - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपर बैक सस्करण 1990
48. बिल्लेसुर बकरिहा : निराला - युग मन्दिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण 1942
49. बीस बरस : रामदरश मिश्र - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
50. भूदानी सोनिया : उदयराज सिह - अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण 1957
51. भूले बिसरे चित्र : भगवती चरण वर्मा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1959
52. महाभोज : मन्नू भंडारी - राधा कृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1979
53. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ 'रेणु' - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम पेपर बैक सस्करण 1983
54. राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम पेपर बैक संस्करण 1983
55. रीछ : विश्वम्भर नाथ उपाध्याय - साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1967
56. रंगभूमि : मुंशी प्रेमचन्द - साधना पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण 1992
57. लेकिन दरवाजा : पंकज विष्ट - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम पेपर बैक संस्करण 1997
58. लोक-परलोक : उदय शंकर भट्ट - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1958
59. वरूण के बेटे : नागार्जुन - किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1957

60. विस्रामपुर का सत : श्रीलाल शुक्ल - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1998
61. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1959
62. सागर लहरें और मनुष्य : उदय शकर भट्ट - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1961
63. सात आसमान : असगर वजाहत - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1996
64. सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती - साहित्य मदिर, इलाहाबाद, सस्करण 1952
65. सूरज किरन की छाँह : राजेन्द्र अवस्थी - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1959
66. सेवा सदन : प्रेमचन्द - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण 1995
67. सोना माटी : विवेकी रॉय - प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1995

आलोचनात्मक एवं अन्य ग्रन्थ

1. अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द जैन - अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1966
2. अँधेरे में का महत्व : प्रो. राजेन्द्र कुमार - नई कहानी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1993
3. आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास : पुरुषोत्तम आसोपा - सूर्य प्रकाशन मदिर, बीकानेर, प्रथम सस्करण 1983
4. आठवें दशक की हिन्दी कहानी में ग्रामीण जीवन : गणेश प्रसाद पाण्डेय - राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1999
5. 'आधुनिक उपन्यास: विविध आयाम' : विवेकी रॉय - अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1990
6. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन : एम.एन.श्रीनिवास - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 1967 {अनुवाद - नेमिचन्द जैन}
7. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : नामवर सिंह - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1995
8. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : नन्द दुलारे बाजपेई - भारती भंडार, इलाहाबाद, संस्करण वि. सं.2007 {1950 ई.}
9. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : भीष्म साहनी एव अन्य {सम्पादक} - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1997
11. इतिहास और आलोचना : नामवर सिह - सत् साहित्य प्रकाशन - वाराणसी, सस्करण 1956
12. एक दुनिया समानान्तर : राजेन्द्र यादव - अक्षर प्रकाशन - दिल्ली, प्रथम संस्करण 1966
13. 'कहानी: नई कहानी' : नामवर सिह - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1966
14. कलम का सिपाही : अमृतराय - हस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1962
15. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छात्र संस्करण 1990

16. **'खड़ी बोली काव्यः ऐतिहासिक सदर्भ और मूल्यांकन'** : डॉ. निर्मला अग्रवाल - अनादि प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1995
17. **छायावाद** · नामवर सिह - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पचम सस्करण 1990
18. **तुलसीदास चंदन घिसैं (व्यग्य)** . हरिशकर परसाई - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सस्करण 1993
19. **धर्म और समाज** : डॉ. राधाकृष्णन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1960
20. **नई कहानी की भूमिका** : कमलेश्वर - अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1966
21. **'नई कहानीः सन्दर्भ और प्रकृति'** · देवी शकर अवस्थी - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1970
22. **परम्परा और परिवर्तन** : श्यामाचरण दुबे - भारतीय ज्ञापनीठ, दिल्ली, प्रथम सस्करण 2001
23. **परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए** : शिवदान सिह चौहान (सम्पादक) - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999
24 **प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास** : यश गुलाटी (प्रथम भाग) - हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम सस्करण 1989
25. **प्रयोगवाद और नई कविता** : डॉ. शभुनाथ - समकालीन प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1966
26. **प्राचीन भारत** : एन.सी.ई.आर.टी. - प्रथम सस्करण 1990
27. **प्राचीन भारत का इतिहास** : द्विजेन्द्र नारायण झा एव कृष्ण मोहन श्रीमाली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, बारहवॉ संस्करण 1993
28. **प्राचनी भारत में नगर तथा नगर जीवन** : उदय नारायण रॉय - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण 1998
29. **प्रेमचन्द और उनका युग** : रामविलास शर्मा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम छात्र सस्करण 1993
30. **प्रेमचन्द घर में** : शिवरानी देवी - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1991
31. **'प्रेमचन्दः जीवन और कृतित्व'** : हसराज रहबर - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सस्करण 1951
32. **'प्रेमचन्दः विविध प्रसंग'** : अमृतराय (सम्पादक, भाग तीन) - हस प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण 1962
33. **बदलते परिप्रेक्ष्य** : नेमिचन्द जैन - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1968
34. **'बीसवीं शताब्दीः हिन्दी साहित्यः नये सन्दर्भ'** : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - हिन्दी साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1966
35. **'भारतः एक बदलती दुनिया'** : ब्रीटिस पिटनी लैम्ब - ओरियन्टल आगमन्स, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1967 (अनुवाद - भगवान सिह)
36. **भारतीय ग्राम** : श्यामाचरण दुबे - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2000
37. **भारतीय ग्रामीण समाज** : बागेश्वरी सिंह परिहार - साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1968
38. **भारतीय ग्रामीण समाज शास्त्र** : तेजमल दक - किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1963

39. *भारतीय समाज* : प्रो. गोविन्द चन्द पाण्डेय - नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1994
40. *भारतीय समाज में वर्ग संघर्ष* : डॉ. सोहन शर्मा - के.एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम सस्करण 1998
41. *मीरा का काव्य* : विश्वनाथ त्रिपाठी - मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया, प्रथम सस्करण 1979
42. *राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य* : रामेश्वर शर्मा - मानव भारती प्रकाशन, सस्करण 1953
43. *विद्यापति* : डॉ. शिवप्रसाद सिह - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दशम सस्करण 1994
44. *शिवशभु के चिट्ठे तथा चिट्ठे और ख़त* · बालमुकुन्द गुप्त - हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण 1994
45. *समय और संस्कृति* : श्यामाचरण दुबे - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1996
46. *संस्कृति की उत्तर कथा* : डॉ. शभुनाथ - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 2000
47. *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना* · ज्ञानचन्द गुप्त - अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1974
48 *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन* . डॉ. विवेकी रॉय - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1974
49. *हिन्दी आलोचना के बीज शब्द* : बच्चन सिह - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सस्करण 2001
50. *हिन्दी उपन्यास* : डॉ. सुरेश सिन्हा - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण 1973
51. *'हिन्दी उपन्यासः उपलब्धियाँ'* : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1970
52. *हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा* : रामदरश मिश्र - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1968
53. *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद* : डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण वि.सं.2012 {1965 ई.}
54. *हिन्दी उपन्यास का इतिहास* : गोपाल रॉय - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 2002
55. *हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष* : रामदरश मिश्र {सम्पादक} - गिरनार प्रकाशन, गुजरात, प्रथम सस्करण 1984
56. *'हिन्दी उपन्यासः पहचान और परख'* : इन्द्रनाथ मदान {सम्पादक} - लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973
57. *'हिन्दी उपन्यासः सामाजिक चेतना'* : डॉ. कुँवरपाल सिंह - पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1976
58. *'हिन्दी उपन्यासः स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम'* : डी.डी.तिवारी - तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965
59. *'हिन्दी उपन्यासः सिद्धान्त और समीक्षा'* : डॉ. मक्खनलाल शर्मा - प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965

60. **हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण :** डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ - वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1997
61. **'हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास'** · आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठवॉ सस्करण 1990
62. **हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास :** प्रो. रामस्वरुप चतुर्वेदी - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण 1991
63. **हिन्दी साहित्य का इतिहास :** डॉ. नगेन्द्र - मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, द्वितीय पेपर बैक सस्करण 1991
64 **हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास** . एन.सी.ई.आर.टी. - सस्करण 1995

हिन्दी कहानी

1. **कफ़न :** मुशी प्रेमचन्द - सकलित, प्रेमचन्द्र की श्रेष्ठ कहानियॉ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 2000
2. **पूस की रात :** मुशी प्रेमचन्द - सकलित, प्रेमचन्द्र की श्रेष्ठ कहानियॉ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2000
3. **'बीच की कड़ी' :** डॉ. निर्मला अग्रवाल, सरिता {मासिक} अक 353, दिसम्बर, 1968
4. **मोड़ पर :** डॉ. निर्मला अग्रवाल - साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 31 मई 1970
5 **सवा सेर गेहूँ :** मुंशी प्रेमचन्द - सकलित मानसरोवर {भाग चार}

हिन्दी निबन्ध

1. **अशोक के फूल :** आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद अठारहवॉं सस्करण 1990
2. **आत्मनेपद :** अज्ञेय - भारतीय ज्ञापनीठ प्रकाशन, द्वितीय सस्करण 1973
3. **त्रिवेणी :** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - काशी नागरी प्रचारणी सभा, पंचम संस्करण वि.सं.2002 {1945 ई.}

हिन्दी काव्य

1. **अंधा युग {गीति नाट्य} :** धर्मवीर भारती - किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण 1988
2. **कबीर ग्रन्थावली :** डॉ. माताप्रसाद गुप्त {सम्पादक} - साहित्य भवन, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण 1992
3. **काठ की घंटियॉं :** सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण 1959
4. **चॉंद का मुँह टेढ़ा है :** मुक्तिबोध - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1964
5. **राग-विराग :** राम विलास शर्मा{सम्पादक}- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1997
6. **रामचरित मानस :** गोस्वामी तुलसीदास
7. **विनय पत्रिका :** गोस्वामी तुलसीदास
8. **है तो है {ग़जल संग्रह} :** एहतराम इस्लाम - हिन्दुस्तानी एकादमी, प्रथम संस्करण 1996

संस्कृत ग्रन्थ

1. आपस्तम्ब धर्म सूत्र
2. ऋग्वेद
3. बौद्धायन धर्म सूत्र
4. मनुस्मृति
5. रामायण
6. वशिष्ठ सूत्र
7. नीतिशतकम् : भर्तृहरि

अँग्रेजी ग्रन्थ

1. **द गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स आफ इण्डिया** : डब्ल्यू.एच.मारिस जोन्स - हटचिन्सन एण्ड कम्पनी, लदन, सेकन्ड एडीशन
2. **कॉस्ट इन माडर्न इण्डिया** एम.एन.श्रीनिवास - एशिया पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, 1962

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अक्षरा {त्रैमासिक}
2. आजकल {मासिक}
3. इण्डिया टुडे - साहित्य वार्षिकी 2002
4. कथाक्रम {त्रैमासिक}
5. दिनमान {साप्ताहिक}
6. दैनिक जागरण {दैनिक}
7. धर्मयुग {साप्ताहिक}
8. नई धारा {मासिक}
9. सरिता {मासिक}
10. साप्ताहिक हिन्दुस्तान {साप्ताहिक}
11. साक्षात्कार {मासिक}
12. हिन्दुस्तान {दैनिक}
13. हिन्दुस्तानी {त्रैमासिक}
14. हंस {मासिक}